

शेखर : एक जीवनी

[दूसरा भाग]

Adarsh Library & Reading Room
Gota Bhaiyan, G. P. N. Nagar
JAIPUR-302004

संघर्ष

‘अज्ञेय’

अरुणवती प्रेस

इलाहाबाद दिल्ली

कापीराइट १९४४

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

वर्तमान संस्करण : १९७७

मूल्य : सोलह रुपये

क्रम-सूची

प्रथम खण्ड : पुरुष और परिस्थिति	७-४६
द्वितीय खण्ड : मन्यन और जिज्ञासा	४७-१००
तृतीय खण्ड : शशि और शेर	१०१-१७२
चतुर्थ खण्ड : घामे, रस्सियाँ, गुम्हर	१७३-२५७

शेखर : संघर्ष

प्रथम खण्ड
पुरुष और परिस्थिति

गाड़ी भड़मडाती हुई दौड़ रही थी। नीलगिरि प्रदेश में शेरार अपने माता-पिता और भाइयों को पाँच सौ मील पीछे छोड़ आया था, और अब मद्रास भी पीछे छूटा जा रहा था। नीलगिरि, मद्रास, महाबलिपुर, मातावार, त्रावनकोर—सब पीछे छूट जाएंगे! वह आगे जा रहा है, गाड़ी उसे खींचती हुई बेतहाशा उत्तर की ओर दौड़ी चली जा रही है, एक हजार मील जाकर ही दम लेगी—फिर वहाँ से दूसरी गाड़ी चलेगी, जो एक हजार मील और परे घसीट ले जायगी.... सब इन अपने परिचय के स्थानों से दो हजार मील दूर!

लेकिन, ये सब उसके परिचित स्थान क्या हैं? उसे उनसे क्या है? नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि यहाँ उसके भाई-बन्द रहते हैं। महाबलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ वह दूबा था। त्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ शारदा था। और वह उससे लड़ आया? जब वह नहीं रहेगा, तब ये सब स्थान भी नहीं रहेंगे.... ये सब इसीलिए हैं कि इनमें वह है, और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है, अपने-आपकी उन पर पड़ी हुई छाप से भागा जा रहा है, अपने-आपसे भागा जा रहा है....

क्या वह सब सत्य है? क्या ये स्थान सत्य हैं? क्या ये सब लड़ाई-झगड़े, प्यार, तिरस्कार, सत्य हैं? क्या वह खुद सत्य है? गाड़ी उसे खींचती हुई दौड़ी चली जा रही है, उसे लगता है कि कुछ भी सत्य नहीं है, मायद गाड़ी का दौड़ना भी सत्य नहीं है....

लेकिन वह सत्य के सिवा कुछ हो नहीं सकता। शेरार अपनी पराजय से भाग रहा है, अपने दर्द से भाग रहा है। वह बेवकूफ है। वह जीवन से भागने को मूर्खता-मरी कोशिश कर रहा है। जीवन से भागकर वह जायगा वहाँ? जो मूढमुख से भागता है, अपनी पराजय से भागता है, उसके लिए कदम-कदम पर और मुद्द है, और पराजय है, जब तक कि वह जान न ले कि अब और भागना नहीं है, टिककर लड़ने न लगे.... जीवन से भागना? आगे और जीवन है; जीवन तो रुक नहीं सकता, उसका तो विस्तार समाप्त नहीं हो सकता....

—होने दो। मद्रास एक हजार मील पीछे रह जायगा, पंजाब एक हजार मील आगे है। और वहाँ नया जीवन है और विद्यावती है, और शक्ति है, और.... गाड़ी का शोर समुद्र के गर्जन की तरह है। समुद्र.... लेकिन यह गर्जन उसे समुद्र से परे खींचे लिए जा रहा है, परे.

कद के लम्बे-तगड़े, रंग के गोरे, देखने में सुन्दर और सुनने से समर्प जँचनेवाले पंजाबी लोग—शेरार ने उनकी छाँटों में छाँटें मिलाकर देखा, वे हटती नहीं हैं, न डर के और न अर्पण-विनय से।

श्रीर उसने सोचा, ये आदमी मर्द है । इनके साथ काम हो सकेगा, ये लड़ाई में कंधे से कनका भिड़ा सकेंगे ।

वह लड़ाई से भागकर आया था, थका हुआ आया था । इसीलिए वह इस समय अपने में रण-तत्परता नहीं पाता था, तनाव नहीं पाता था । उसने मानो अपना कवच खींचा कर दिया था और मुस्ता रहा था । सोया वह नहीं था, आँखें खुली थीं, लेकिन गद्गहस्त भी वह नहीं था, वह सिर्फ देख रहा था, उसकी आँखों में सिर्फ पहचानने की चेष्टा का गुना भाव था; न दोस्ती का विचार, न दुश्मनी का संकोच ।

श्रीर उसने इस नए प्रदेश के लोगों को दो वर्ष बाद फिर देख कर सोचा, ये आदमी मर्द है, इनके साथ काम हो सकेगा ।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, तब उसने इन लोगों को ठीक से देखा भी नहीं था । अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, श्रीर शक्ति की ही एक नई छाप वह उस पर ले गया था, श्रीर विशेष कुछ उसने देखा नहीं था; लेकिन अब एक लड़ाई से आकर वह उन्हें थोड़ा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि यके हुए श्रीर मुस्ता रहे थोड़ा के ।

शेखर में पक्षपात नहीं था—कुछ था तो पंजाब और उसके निवासियों के हक में ही—श्रीर वह धाते ही कोशिश करने लगा कि उनके साथ एकात्म, एकप्राण हो सके । होस्टल के लड़कों में मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ नमस्ते की, उसने चेष्टा की । जब उसने देखा कि इसमें वह स्वयं विघ्नरूप है, क्योंकि वह उनकी भाषा नहीं बोलता है, उनके कपड़े नहीं पहनता है, स्पष्ट दिता देता है कि वह उनमें से नहीं है, तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया । उसने दो-तीन मूट मित्रताप; कॉलर, दाढ़ी, मोजे, शू, कंगी-मृण, खुनबूदार तेल, पेंट दावने का प्रेस और कोट टांगने का फ्रेम, एक लाली सोला हैट भी—ये सब चीजें वह निरीह भाव से ले लाया । चीजें उसने सब साधारण लीं, बहुत अधिक पैसा खर्च नहीं किया, पर उसकी पसन्द में कुछ ऐसी विशेष मादगी भी कि चीजें दाम की सस्ती होकर भी सूरत की सस्ती नहीं बात पड़ती थी । भटखोली चीज इतना अधिक सामने आती है कि उसमें दृश्य महोत्सव का होना वाजिबी हो जाता है; जो चीज सामने नहीं आती, वह गुजारे लायक सस्ती होकर भी चल जाती है । मूट पहनकर जब वह अपने सहपाठियों में आ मिला, तब उसने देखा कि यहाँ तक 'ट्रेडमार्क' का सवाल है, वह उनकी पाँत में गड़ा होने का अपेक्षणी हो गया है । भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नहीं सके थे, मुहावरा तो दिक्कत ही नहीं जानता था । फिर भी, रंग-रंग में उन-सा होकर धीरे-धीरे बात समझ देने के लायक होकर वह ऐसा चीर नहीं दीगता था । श्रीर उसे धीरे-धीरे उसकी समझ में प्रवेश मिलने लगा ।

इस प्रकार वेग के सहारे जिस धानाकी से उसे चारों ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे रुकने होता चाहिए था, लेकिन वह रुकने के लिए उपयुक्त मनःस्थिति में ही नहीं

था। स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना अच्छा था—शेखर बेहरे-मोहरे से विशेष असुन्दर नहीं था; और वह नया युरोपियन वेश भी उस पर घोम की तरह नहीं बैठता था। चुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस भाघे जंगली, भाघे संन्यासी भादमी की जवान विदेशी सम्प्रदाय की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयमयी वातचीत में भले ही घटकती हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने में उसे कोई कठिनाई या हिचक नहीं होती थी। यह वेश उसके लिए बहुत अपरिचित नहीं था, अंग्रेजी भाषा भी उसकी मातृभाषा नहीं तो धातृभाषा तो थी ही—बोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा में सिखाया था....शोध ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकांश लड़के जानते हैं, और कैसे नहीं जानते, जैसे मद्रास में जानते थे....उसे अपने भाष से सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढ़ाई भी अच्छी होने लगी....पहली तिमाही परीक्षा में उसने देखा, वह चार विषयों में से तीन में प्रथम है। इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुषा, कुछ परिचय और बढ़ा...और धीरे-धीरे यह चारों ओर से आता हुआ सम्मान एक नये की तरह उसके शरीर में घसर करने लगा। उसने नहीं जाना कि कब और कैसे उसके खर्च का बिल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रंक की बजाय तीन सूटकेस कपड़ों से भर गए हैं, जब कि उसे ठीक समय पर ठीक रंग की टाई तक नहीं मिलती हैं—टाई जो कुल मिलाकर दो पन इश्क़्त्यान नहीं लेता होगी। जाना उसने तो मही कि लोग कपड़े खरीदने में उससे परानां लेने आते हैं, कालेज में जिस दिन वह कोई नई टाई पहनकर जाता है, उसके भगले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है, जब कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है...देखा उसने तो मही कि अब उसे बोर्डिंग के बाहर रहनेवाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों के भी निमन्त्रण आते हैं...

और उसका कवच अभी तक ढाला ही था। कितना सुख था उसे ढीला छोड़कर पड़े रहने में, अपने को वायु के प्रत्येक भौंके को समर्पित कर देने में! यह वायु उसका थम हर लेगी, पसीना सुता देगी, उसकी घमनियों में थकान से दूषित हुए रक्त को ठण्डा करके ताजा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी....अच्छा है अपने को वायु को समर्पित कर देना, भौंके में बहना....

लेकिन भौंके में बहकर इधर उधर भूमने से यह लोहे का कवच खुम जाता है.... एम तक कवच है, तब तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेंक देना होगा ताकि वह उसटा आघात न करे? क्या शेखर उसे उतारकर फेंक दे? लेकिन वह तो अपने सब वस्त्र, वह सब झूठमूठ का आडम्बर जो राह में बोझ होता, पहले ही उतारकर फेंक आया था—अब तो कवच के नीचे उसकी नंगी त्वचा है, नंगी और नरम और जीवित... और उसके नीचे हाड और मांस और रक्त में छिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वयं शेखर.. तब क्या वह कवच को फिर कम ले?

लेकिन लड़ाई से हटकर नदी-तट पर पड़ी हुई नाव में कवच ढीला करके पड

और उसने सोचा, ये आदमी मर्द है। इनके साथ काम हो सकेगा, ये लड़ाई में कंधे ने कंधा निड़ा सकेंगे।

वह लड़ाई में भागकर घायल था, थका हुआ था। इसीलिए वह इस समय अपने में रण-तत्परता नहीं पाता था, तनाव नहीं पाता था। उसने मानो अपना कवच ढोला कर दिया था और मुस्ता रहा था। सोया वह नहीं था, आँखें खुली थीं, लेकिन मद्गहस्त भी वह नहीं था, वह सिर्फ देख रहा था, उसकी आँखों में सिर्फ पहचानने की चेष्टा का गुला भाव था; न दोस्ती का खिचाव, न दुश्मनी का संकोच।

और उसने इस नए प्रदेश के लोगों की दो वर्ष बाद फिर देख कर सोचा, ये आदमी मर्द है, इनके साथ काम हो सकेगा।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, जब उसने इन लोगों को ठीक से देखा भी नहीं था। अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, और शरीर की ही एक नई धाप वह उस पर न गया था, और विशेष कुछ उसने देखा नहीं था; लेकिन अब एक लड़ाई में आकर वह उन्हें थोड़ा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि पके हुए और मुस्ता रहे थोड़ा के।

शेखर में पलकात नहीं था—कुछ था तो पंजाब और उसके निवासियों के हक में ही—और वह आगे ही कोमिश करने लगा कि उनके साथ एकात्म, एकप्राण हो सके। हॉस्टल के लड़कों से मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ समझने की, उसने चेष्टा की। जब उसने देखा कि इसमें वह स्वयं विघ्नरूप है, क्योंकि वह उनकी भाषा नहीं बोलता है, उनके कपड़े नहीं पहनता है, स्पष्ट दिखा देता है कि वह उनमें से नहीं है, तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया। उसने दो-तीन मूठ मिलवाए; कॉलर, टाई, मोजे, शू, कंधी-भूष, खुजद्वार तेज, पेंट दाबने का प्रेस और कोट टांगने का फ्रैम, एक लाली सांला हंट भी—ये सब चीजें वह निरीह भाव से ले आया। चीजें उगने सब साधारण थीं, बहुत अधिक पैसा खर्च नहीं किया, पर उसकी पसन्द में कुछ ऐसी विशेष आदमी थी कि चीजें शम की सन्ती होकर भी मूरत की सस्ती नहीं जात पड़ती थी। मद्रकीली चीज इतना अधिक सामने आती है कि उसमें दृश्य महोत्सव का होना लाजिमी हो जाता है; जो चीज सामने नहीं आती, वह गुजारे लायक सस्ती होकर भी नष्ट जाती है। मूठ पहनकर जब वह अपने सहपाठियों में आ मिला, तब उसने देखा कि जहाँ तक 'ट्रिम्माको' का सवाल है, वह उनकी पोत में खड़ा होने का शक्तिशाली हो गया है। भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नहीं सकता था, मुहावरों तो बिजबुज ही नहीं जानता था। फिर भी, रंग-रंग में उन-सा होकर और उनकी बात समझ लेने के शक्तिशाली होकर वह ऐसा और नहीं दीजता था। और उसे भी-भीरे जगह समाज में प्रवेश मिलने लगा।

एक बरतार में के सहारे जिस आमाजी ने उसे चारों ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे सम्बोध होता पादित था, लेकिन वह सम्बोध के लिए उपयुक्त मनःस्थिति में ही नहीं

या । स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना धन्य था—शेखर बेहरे-मोदरे से विशेष प्रसुन्दर नहीं था; और वह भया यूरोपियन वेश भी उस पर बोझ की तरह नहीं बैठता था । घुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस भाषे जंगली, भाषे संन्यासी भादमी की जबान विदेशी सम्प्रदाय की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयमयी वात्सल्य में भले ही घटकजी हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने में उसे कोई कठिनाई या हिचक नहीं होती थी । यह वेश उसके लिए बहुत अपरिचित नहीं था, अंग्रेजी भाषा भी उसको मातृभाषा नहीं तो घातृभाषा तो थी ही—बोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा में सिखाया था....सोघ ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकांश लड़के जानते हैं, और वैसे नहीं जानते, जैसे मद्रास में जानते थे....उसे अपने भाप से सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढ़ाई भी धन्य होने लगी....पहली त्रिमाही परीक्षा में उसने देखा, वह चार विषयों में से तीन में प्रथम है । इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुमा, कुछ परिचय और बढ़ा ...और धीरे-धीरे यह चारों ओर से आता हुआ सम्मान एक नये की तरह उसके शरीर में घसर करने लगा । उसने नहीं जाना कि कब और कैसे उसके खर्च का बिल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रंक की बजाय तीन सूटकेस कपड़ों से भर गए हैं, जब कि उसे ठीक समय पर ठीक रंग की टाई तक नहीं मिलती है—टाई जो कुल मिलाकर दो घन इंच स्थान नहीं लेता होगी ! जाना उसने तो यही कि लोग कपड़े खरीदने में उससे परामर्श लेने आते हैं, कालेज में जिस दिन वह कोई नई टाई पहनकर जाता है, उसके पहले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है, जब कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है ...देखा उसने तो यही कि अब उसे बोर्डिंग के बाहर रहनेवाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों के भी निमन्त्रण आते हैं....

और उसका कवच धमी तक ढीला ही था । कितना सुख था उसे ढीला छोड़कर पड़े रहने में, अपने को वायु के प्रत्येक झोंके को समर्पित कर देने में ! यह वायु उसका श्रम हर लेगी, पसीना सुखा देगी, उसकी धमनियों में बकान से दूषित हुए रक्त को ठण्डा करके ताजा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी....धन्य है अपने को वायु को समर्पित कर देना, झोंके में बहना....

लेकिन झोंके में बहकर इधर उधर झूमने से यह लोहे का कवच घुम जाता है.... जब तक कवच है, तब तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेंक देना होगा ताकि वह उसका आघात न करे ? क्या शेखर उसे उतारकर फेंक दे ? लेकिन वह तो अपने सब बस्त्र, वह सब झूठमुठ का आडम्बर जो राह में बोझ होता, पहले ही उतारकर फेंक भाया था—अब तो कवच के मोचे उसकी गंगी त्वचा है, गंगी और गरम और जीवित... और उसके मोचे हाड और मांस और रक्त में घिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वयं शेखर .. तब क्या वह कवच को फिर कस ले ?

लेकिन लड़ाई से हटकर नदी-तट पर पड़ी हुई नाव में अन्ध्र भीला घरे के पर

कितना मुन्नद है—वायु के प्रत्येक झोंके पर उठना और गिरना, मानो वह एक झूटा हो....

०

जिन सारे सनाऊ में शेखर ने प्रवेश पा लिया था, अब वह जानने लगा कि वह समाज कई धरा-धरा टुकड़ियों में विभक्त है। होस्टलों के छात्रों में तो वह इस तरह की टुकड़ियाँ नहीं देख पाया, वहाँ तो या धन के हिसाब से वर्गीकरण था, या बुद्धि के हिसाब से; लेकिन बाहर के जिन लोगों से परिचय उसने पाया था, वहाँ की बात और थी। कभी उसे लगता कि ये टुकड़ियाँ सिद्धान्तों के आसरे बनी हैं, क्योंकि किसी एक में वह प्लेटो को आदर्श रूप में पूजते हुए पाता तो दूसरे में शोपेनहॉइर को, किसी में स्टोइक (stoic) मत पर बहस होती हुई पाता, तो किसी में हीडोनिज्म की चर्चा; कभी उसे लगता कि यह दनवन्दी अपने-अपने व्यसन-विशेष का समर्पण करने के लिए है....

शेखर ने अपने को धीरे-धीरे दो विभिन्न टुकड़ियों में घनिष्ठ होते हुए पाया। स्वभाव ने ये दोनों टुकड़ियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न थीं, लेकिन शेखर का अपना अन्तर्विरोध ऐसा था कि वह दोनों ही में आगे-आगे बढ़ता जा रहा था।

पहली टुकड़ी के अधिकांश सदस्य शेखर के साथ ही छात्रावास में रहते थे। इस छात्रावास में, जिसमें शेखर अपने पहले स्थान से इसलिए आ गया था कि वहाँ उसे छात्र-समुदाय के उन्नत गंग से मिलने की आशा थी, प्रायः अच्छी हँसियतवालों के बैठे रहते थे, और कानेज में नाम भी अधिक वहाँ का सुनने में आता था, क्योंकि खेलों में—हॉकी, फुटबाल, टेनिस आदि में—और सभा-सोसाइटियों के बहस-मुवाहसे में वहाँ के लड़के प्रमुख भाग लेते थे या गों कह लें कि ऐसे छात्रों को इस बोर्डिंग में विशेष स्थान मिलना था....

मादवाने कपड़े में नित्य शाम को हँसो मुनकर एक दिन शेखर भीतर गया था, तभी ने इस टुकड़ी से उसका परिचय हो गया था। कमरा इस इलाके के प्रमुख सदस्य चतुरसेन का था, जिसे किसी ने देशी भाषा में बात करते नहीं सुना, और जो केवल इसी बूते पर 'बोर्डिंग' के तीन मानिट्यों में से एक था। वहाँ पर नित्य ही उनके नाटियों का आना होता था—जिन्हें पहले दिन परिचय के समय तो शेखर ने नरेन्द्र, भूपेन्द्र, और मोती के नाम से जाना, लेकिन दूसरे दिन से क्रमशः 'कानू', 'भीपू', 'पपो' नाम से पहचानने लगा। इस दिन में किसी को पूरा नाम लेकर बुलाना पाप समझा जाता था—तत्कालीन था। "हम लोग तत्कालीन नहीं चाहते—आदमी-आदमी के बीच सम्बन्ध में यह विघ्न है। हम एकदम की एकदम बहुराज्य जानना चाहते हैं, समाज के लिये-पुनः 'शेखर को' (अर्थात्) के रूप में नहीं।" यह कानू ने एक दिन कहा था। बात शेखर को बुरी तो नहीं लगी थी, लेकिन कानू के मुख में अजीब लगी थी क्योंकि कानू सारे दिन में सदा ही बस वही लगता था। 'कानू' की बड़ी प्रगट थी—कानेज में भी उसका स्थान बहुत

घबड़ा था, लेकिन वह प्रत्येक बात पर एक विवृत व्यंग्य-भरी हँसी हँस देता था, यहाँ तक कि अपने पर भी वह उसी के साथ निरन्तर कटाक्ष करता रहता था। घबरा वह कालेज की लड़कियों की बात करता था, और उसकी बात-बात से उनके—स्त्री-जाति-मात्र—के प्रति उसकी घोर अभ्रष्टा और प्रवृत्ति टपकी पड़ती थी—“शेखर को लगता, यह बादमी तबीयत का यती है, लेकिन इसका संयम उससे मार्ग में पड़कर जहरीला हो गया है, तभी यह उपेक्षणीय की उपेक्षा न कर निरन्तर विष उगलता रहता है। यह बात कभी उसे आकर्षित करती, कभी एकदम ग्लानि से भरकर परे धकेल देती, लेकिन अपनी तीव्र बुद्धि के कारण वह शेखर के पास-पास आता गया, और एक दिन विचित्र ढंग से शेखर ने उससे शिक्षा पाई।

‘पपी’ ने शेखर का परिचय मिस कौल नाम की तीन बहिनों से कराया, जो अपनी टोली में रानी, सिली और स्वी के नाम से प्रसिद्ध थी। बड़ी एम० ए० में पढ़ती थी, दूसरी दोनों बी० ए० में। उनकी फैशनबल धूल-बिहीन और रंगी पलकोंवाली आँखों और लिपस्टिक-भरे मोठों के पीछे भी वह प्राकृतिक सौन्दर्य दोस हो जाता था, जिसे संस्कृत धनाने की कोई कोशिश उन्हें छोड़ी नहीं थी। दो एक बार मिलने के बाद जब शेखर उनकी युद्ध-भीड़ित प्रबुद्ध वर्ग की-सी उपराम (disillusioned) बातचीत सुनकर यह सोचता हुआ बाहर निकला था कि इतने उपराम के साथ रंग और लिपस्टिक का नियाह कैसे होता है, तब वह मनमाने में यह प्रश्न जोर से कर गया था। ‘पपी’ ने पूछा, “कौन सबसे ज्यादा उपराम लगी तुम्हें?”

शेखर ने कहा, “कह नहीं सकता। लेकिन स्वी शायद—”

“भरे भाई, नाम मुझे याद नहीं रहते, मैं तो उनकी असह-अलग सेंट की बू से उन्हें पहचानता हूँ।”

शेखर थोड़ा-सा मुस्कराया। उसका परिष्कार इतका हो गया था कि इस ढंग की बातचीत में रस ले सके, यद्यपि स्वयं कह नहीं सकता था। बोला, “मैं तो भर्मा इतना पारंगत हूँ नहीं—”

‘पपी’ ने कहा, “भ्रष्टा ही है। भरे, एक दिन तो ग़ज़ब हो गया था। मैंने ऐसी बात कालू से कही थी; उस बदमाश ने एक दिन चुपचाप उनकी सेंट परस्पर बदल दी। उसके बाद हम सब मिलकर सिनेमा गये, वहाँ से लौटते समय मैं तो पहचान नहीं सका कि कौन-कौन है।”

कालू को आते देखकर ‘पपी’ चुप हो गया। लेकिन कालू ने बात सुन ली थी। बोला, “हाँ, हाँ, पूरा बात कहो न! एक क्यों गए? बात यह हुई कि हम लोग एक भुलमुट में से होकर आ रहे थे। घोंघरे का फायदा उठाकर ‘पपी’ ने स्वी का हाथ पकड़ा, वो उसने भटककर कहा, “How dare you, Puppy” ! (खबरदार, पपी!) विचारें लगे भाँकियाँ मँगने, तब सिली खिसखिसाकर हँसने लगी—”

"भूटे कहीं के ! अपनी तो कहो—दो ही दिन में भूल गए ? लिली तो तुम्हारी हिमायत पर—"

"कद की बात है ?" शेखर ने मुस्कराते हुए पूछा ।

"दूरे, परसों की—"

लेकिन 'पसों' को बीच ही में टोककर कालू ने कहा, "भई सच तो यह है कि धाज-कल किसी को भी पहचानना मुश्किल है । चेंटर (चतुरसेन अपने नाम का उच्चारण ऐसे ही करता था) एक दिन बहुत चालाक बन रहा था, कहता था कि पहचान तो लिपस्टिक के स्वाद से ही होती है, पर—"

शेखर को कुछ खानि हुई । स्त्रियों और उनकी चालढाल के बारे में मजाक वह सुन लेता था, लेकिन उन चेष्टाओं का मजाक उसे अभी तक बुरा लगता था, जिन्हें वह प्रेम का थंग समझता था । "प्रेम-वैम कुछ नहीं है । शरीर है और बुद्धि है—एक शरीर को पकड़ता है और एक पैसे को, वस यही तो प्रेम है ।" यह दृष्टिकोण उसका नहीं बन पाया था । वह अलग हो गया और सोचने लगा, परसों रात को ये सब लोग बोर्डिंग में थे, स्वयं चतुरसेन ने नाड़े नौ बजे हाजरी ली थी, तब सिनेमा कैसे गए ?

और यह प्रश्न उसके मन ने नहीं निकला । वह दिना जाने ही रात की हाजरी के बाद इन सब लोगों पर पहरा देने लगा । तीसरी रात उसने देखा कि हाजरी के बाद पिछली सीढ़ियों से चारों मिन उतरे हैं, और उनके पीछे-पीछे बोर्डिंग का एक नौजवान नौकर भी । नौकर उन्हें बाहर निकालकर दरवाजा बन्द करने को ही था कि शेखर ने जल्दी से कहा, "ताम है चतुरबाबू से", और बाहर निकल गया ।

नौकर ने अपने हाथ की बोटल दिना ली, वह चेष्टा भी शेखर ने देखी ।

नाड़े स्वारह बजे शेखर लौट आया । चारों जन दो मील के करीब जाकर एक घर में पुन गए थे, वह देगकर शेखर लौट आया था । द्वार खुला था, वह चुपचाप पिछली सीढ़ियों से चढ़कर कमरे में आकर सो गया ।

दसवें दिन नाम को बह पता चले गया कि मकान किसका है । वह उससे कुछ दूर गड़ा मोच ही रहा था कि किन्हे पूछे, कि कानेज के गणित के प्रोफेसर आ निकले और शेखर को पहचानकर बोले, "तुम यहाँ कहीं, शेखर ? नले आदमी यहाँ नहीं ठहरते ।"

"क्यों ?" शेखर ने जरा विस्मय में कहा ।

"दिनो नहीं, यह नामने वेश्मियों का महान्ना है ?"

शेखर विस्मित और सज्जित होकर प्रोफेसर के नाम ही पत पड़ा ।

•

दूधरे दस में शेखर ने सभी स्त्रियों की गर्मा नहीं मुनी । इन दस की सारी चिन्ता नामने सम्बन्ध की मुबार की ओर लगी हुई थी । स्त्रियों की गर्मा कभी होती थी तो एक काल में—नारी सम्बन्धी पुरी है, नारी सम्बन्ध की संगतिना है, नारी इन पुरय-

प्रधान सम्पत्ता का केन्द्र है, नारी यह है और वह है—सम्भवतया इसका कारण यही था कि इस दल के सदस्यों में एक ही स्त्री थी और वही इस दल की नेत्री थी।

मणिका ने प्रॉवेंस-कोर्ट और पेरिस में शिदा पाई थी। वहाँ से डिप्री लेकर वह भारत लौट आई थी, किन्तु पर्याप्त धन पास होने के कारण उसने नौकरी करना अपना-वश्यक समझा था। केवल समय बिताने के लिए सप्ताह में चार-पाँच घण्टे एक कालेज में प्रवर्तनिक रूप से साहित्य पर लेक्चर देना स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार विद्यार्थियों से अपना सम्पर्क बना रखा था। कांसैजों में यह बात प्रसिद्ध थी कि किसी कालेज का कोई भी योग्य लड़का अवश्य मणिका देवी के मण्डल में होगा; और इसीलिए अपने को योग्य समझनेवाले—या न भी समझनेवाले लड़के सदा इस ताल में रहते थे कि किसी प्रकार उस मण्डल की सदस्यता प्राप्त कर सकें....

शेखर को वहाँ उसी की धोनी का एक लड़का ले गया था। इस बंगाली लड़के के चपटे मंगोल चेहरे और ऊँची पावर के चमकते हुए चरमों के पीछे एकटक देखनेवाली और कुछ सूजी हुई-सी आँखों से बेवकूफी टपकी पड़ती थी; किन्तु फिर भी वह था योग्य और प्रेजेसी साहित्य के कुछ ग्रंथों पर उसका ज्ञान बहुत अच्छा समझा जाता था। शेखर ने अपनी परीक्षा में 'प्रो-रेफ़ेलाइट' दल के कवियों पर जो निबन्ध लिखा था, उसी के कारण वह मणिका देवी के मण्डल में जाने का अधिकारी समझा गया था और वह बंगाली लड़का उसे वहाँ ले जा रहा था।

शेखर चल तो पड़ा, किन्तु वह सोचता जा रहा था कि वह समय ठीक नहीं है। उस समय वह इन सब छम्प दलों के प्रति शोभ और घृणा से भरा हुआ था। दिन में नहाते समय बाथरूम में ही उसकी कालू से लड़ाई हो गई थी—बाथ-रूम में उसे देर करते देख, बाहर लड़े कालू ने गाली दी थी और शेखर ने नंगे ही बाहर निकलकर उसे पीटा था—उस समय से शेखर के भीतर कुछ उबल रहा था। ऐसी हासत में वह जाना नहीं चाहता था, किन्तु यह जानकर कि उसके लिए समय निश्चित किया गया है, वह चल पड़ा।

मणिका देवी का ड्राईंगरूम सुन्दर था, किन्तु उसे उसका सौन्दर्य देखने का अवकाश न मिला।

कमरे में बैठे तीन और व्यक्तियों को अवश्य वह एक मञ्जर देख गया। सोफे पर सेटी हुई मणिका ने शेखर और उसके साथी को प्रवेश करते देखकर साथी पर भाँस टिकाकर पूछा "हलो, रसगुल्ला, यही तुम्हारे मित्र है?"

शेखर ने चौककर अपने साथी को और देखा। हाँ, ठीक तो है, रसगुल्ला, इस सोफे पर सेटी हुई दुबली औरत की सीखी जवान और उसके द्वारा बुने हुए नाम की उपमुक्तता पर वह एक हल्की सी मुस्कराहट रोक नहीं सका। रसगुल्ला—एक बार यह नाम सुनकर मानो यह कल्पना करना कठिन हो गया कि इस आदमी का दूसरा भी कुछ नाम हो सकता है!

शेखर ने यह भी देखा कि जब तक रसगुल्ला उसका परिचय कराता है—

नन्दशेखर पण्डित,—‘मिस मणिका देवी’ तब तक मणिका ने सिर से पैर तक उसे देख लिया है और मन ही मन यह तय कर लिया है कि यह व्यक्ति दिलचस्प नहीं है।

मणिका ने बांह फैलाकर कुर्सी दिखाते हुए कहा, “बैठिए। आप सिगरेट पीते हैं?” दो घंटुलियों से घायरोट की लकड़ी का कामदार डिव्वा उसने शेखर की ओर सरका दिया।

“बन्दवाद, मैं नहीं पीता।”

मणिका के बाईं ओर बैठे एक मोटे से, गुलाबी नाकवाले एंग्लो-इण्डियन व्यक्ति ने कहा, “मिस मणिका, वह क्यों, वह दीजिए न इन्हें; दोक्षित कीजिए।” और एक गिलास शेखर के पास रखकर पुकारा ‘बेरा!’

शेखर ने उसके हाथ के इशारे का अनुसरण करते हुए देखा, मणिका के पास एक साइड टेबल पर एक ट्रे में दो बांतलें और दो-एक छोटे-बड़े गिलास पड़े हैं।

“बन्दवाद, नहीं।”

“भरे आप नहीं पीते? तब तो यहाँ नहीं चलने का! मैं तो पिए बिना नहीं सकता। और सम्मता—”

मणिका ने कुछ खड़ाई से कहा, “सम्मता को तो बरग दीजिए, भले घादमी।”

रसगुल्ले ने कहा, “मैथ्यूज तो हमेशा यही कहता है कि शराब छोड़ने से ग्रीक सम्मता बरबाद हुई—जब तक ग्रीक लोग पीते रहे, बने रहे।”

बेरा चाय ले आया था। अब तक चुप बैठे हुए व्यक्तियों में से एक ने पूछा, “चाय तो आप पीते होंगे मिस्टर पण्डित?”

“नहीं, मैं नहीं पीता।” प्रश्न में एक हल्का-सा व्यंग्य था, जिससे शेखर भल्ला-सा उड़ा। बोला, “इतना ही नहीं, मुझे इस पर भी आपत्ति है कि आप यह प्रश्न भी करें। चाय, तो ‘आप पीते हैं?’ सिगरेट, तो ‘आप पीते हैं?’ शराब, तो ‘आप पीते हैं?’ माली सम्मता की कलौटी ही यह प्रश्न है—“आप पीते हैं?”

मणिका के चेहरे पर पहली बार कुछ दिलचस्पी दिगी। उसने कहा “सूब, पण्डित; आज पहली ध्वन को बात सुनने में आई है।”

मैथ्यूज ने कुछ डीप में कहा, “मिस्टर पण्डित सोचते तो। मैं तो समझा कि ‘नहीं’ और ‘बन्दवाद’ के मियाग कुछ सोचते नहीं।”

“महात्मा लोग सोझ सोचते हैं, पर सोचते हैं काम का।”

शेखर ने इन बौद्धों की ओर उपेक्षा प्रकट करने के लिए रसगुल्ले की ओर उन्मुग होकर पूछा, “तुम भी पीते हो?”

मणिका मुस्कराती हुई बोली “तो आप उनकी सम्मता परमाने चले हैं?”

हैमी का बहकना लगा। मैथ्यूज बोला, “भरे रसगुल्ला? यह तो स्पंज रसगुल्ला है—स्पंज की तरह शराब सोखता है—” और जगने श्वेप व्यंग्य पर स्वयं ही हँस दिया।

शेखर ने कहा, “पंजाब का विद्यार्थी-जीवन इतना पवित्र है, मैं नहीं जानता था।

में समझा था इस हट्टे-कट्टे शरीर के लोगों में कुछ सार होगा, पर सब सड़े हुए हैं, सड़े हुए।"

पालतू मुनहली मछलियों के रंगीन जल से भरे पात्र में एक बकड़ा घुस भाए, तब मछलियों की जो हालत होती है, वही उस गोष्ठी की हुई। बहुत जल्दी ही सब उठकर चल दिए, और अपने-को-अकेले मणिका के सामने पाकर शेखर भी विदा लेने को उठ खड़ा हुआ।

मणिका ने भी उठते हुए कहा, "आपसे मिलकर मुझे खुशी हुई—" और इस साधारण शिष्टाचार का वैसे ही उत्तर शेखर देनेवाला था कि वह भागे कह गई, "मेरे यहाँ भानेवाले लोगों में मुट्ठी तो है, पर चरित्र नहीं, इसके लिए मुझे भी दुःख है। हमारे दाँत तो बड़े-बड़े हैं, पर भाँति नहीं है—कौर बहुत बड़ा से सेते हैं, पर पचा नहीं सकते। आपको पाने में अनिच्छा दोखती है, लेकिन सिस्टम ठीक-ठीक है।" क्षण भर रुककर वह फिर बोली, "सचमुच मुझे खुशी हुई है मिलकर।" इस बार स्वर में शिष्टाचार नहीं, सत्य था।

शेखर ने हुक्मो-सी कृतज्ञता से कहा, "नमस्कार।"

"नहीं, ऐसे—" कहकर मणिका ने हाथ बढ़ाया। शेखर ने हाथ मिलाया, मणिका बोली, "फिर अवश्य भाना, जॉन दी बैप्टिस्ट।"

शेखर को नाम अच्छा लगा—"जॉन दी बैप्टिस्ट।" इसमें अवश्य इस भाषे पागल, पैगम्बर की-सी स्त्री सम्भावना थी। और मणिका के हाथ का दबाव भी अच्छा था—उसमें वात्सल्य था; वह मानो पुरुष का हाथ था।



मणिका के चरित्र में एक विचित्र कारुणिकता थी, जिसे देखकर भत्साहट भी होती थी, दया भी माती थी और थोड़ा-सा भादरभाव भी होता था—जिसके कारण शेखर तीन-चार बार और उसके पर गया; प्रतिवार वह कुछ अधिक प्रभावित और बहुत अधिक खिन्न होकर जाता था। मणिका में प्रखर प्रतिभा थी, किन्तु उसको संमत रखने की दृढ़ता न थी; पर साथ ही अपने में दृढ़ता न होने का कारण और उत्ताप-भरा ज्ञान भी था, जिसके कारण उस पर क्रुद्ध होना सहल नहीं था।

पहली भुलाकात के बाद एक दिन तीसरे पहर शेखर ने मणिका से चाय का निमन्त्रण पाया था, जिसमें शिष्टाचार के निमन्त्रण वाक्य के भागे लिखा था, "उस समय कोई प्रवाञ्छनीय व्यक्ति नहीं होंगे; आप निश्चिन्त रहें।" और उस दिन शेखर ने जाना था कि मणिका का ज्ञान कितना गहरा और शक्ति कितनी कम है—यद्यपि ज्ञान ही को शक्ति कहा गया है।

दो-तीन बार और भी शेखर निमंत्रित होकर गया, कभी भी उसने किसी अन्य व्यक्ति

को उपस्थित न पाया। उसके बाद उसका परिचय ऐसा हो गया कि वह बिना बुलाए भी बेघर हो जा सके।

एक दिन खाना खाकर शेखर घूमने निकला, तो उसके मन में हुआ कि वह मणिका से मिल आए। वहाँ विलायती रीति-रिवाज का पालन होता है, तब छिनर के बाद दातचित के लिए जाने में कोई अनौचित्य नहीं है, यह सोचकर वह कोठी पर जा पहुँचा।

बाहर ही उसे मैथ्यूज मिला। उसे अच्छा नहीं लगा—मैथ्यूज भी इस आकस्मिक मिलन से प्रसन्न नहीं हुआ।

शेखर ने ड्राइङ्ग रूम का द्वार खटखटाया, फिर खटखटाया; फिर भीतर चला गया। ड्राइङ्ग रूम खाली था, आगे डाइनिंग-रूम का द्वार भी खुला था; मेज पर जूठे वर्तन पड़े थे, किन्तु कमरे में कोई नहीं था। शेखर धण भर अस्तमंजस में खड़ा रहा, फिर ड्राइङ्ग रूम में एक कुर्सी पर बैठा और तत्काल उठ खड़ा हुआ। सामने ड्राइंग रूम के कोने की तरफ धीमे प्रकाश में नीले रंग के एक अस्तव्यस्त नीली साड़ी पहने मणिका लेटी हुई थी, एक नंगी बांह लटककर फर्श पर टिकी थी।

शेखर ने पुकारकर कहा, "क्या हुआ, आप स्वस्थ तो हैं?" फिर पास जाकर बुद्धारा पूछा, "क्या बात है, मिस मणिका?"

मणिका की पलकों अनिश्चय से काँपीं; फिर ताल गई। धण भर शेखर के चेहरे पर स्मिर नहककर फिर मिश्र गई। एक बार फिर वे खुलीं—उन्हें खोलने का प्रयास मुग पर स्पष्ट झलक गया—और तब मणिका ने कहा, "शेखर, ओह!" एक बार उठने का प्रयास किया, द्वार गई, और फिर मानो हवागन्ती होकर बोली, "शेखर—I am dead drunk! (मैं नदी में धुत हूँ।) वह मैथ्यूज कुछ लाया था—इतनी तेज शराब मैंने पहले नहीं पी—मैं नहीं जानती थी—बदमाश!"

"मैथ्यूज लाया था? आपने पी क्यों—" शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे।

"पी! मैंने पी!" मणिका हँसी। "मेरी हँसी बेहूश है न? मैं जानती हूँ। I am feeling stupid—stupid (मैं होम में नहीं हूँ।)", कुछ गानकर, "यह किताब उठा देना तो, नीची ज़िदवाली—और लैप् इयर सोच देना—"

शेखर ने देखा ही घर दिया। मणिका ने किताब लेकर काँपते हाथों से खाली और खाली से एक जगह बताने लग्य कहा—"यह मणिका तुमने पढ़ी है?"

शेखर ने विराम और सन्धन में वह पुस्तक उसके हाथ में ले ली, और धनमना-सा करने लगा।

"और ये पढ़ो, मैं सुनी।"

My Candle burns at both ends

It will not last the night

But ah my foes, and oh my friends—

It gives a lovely light ?*

शेखर चुप हो गया ।

“मागे पड़ो ।”

पोजित स्वर से शेखर ने कहा, “मुझे दया करें; इस समय धीरे पड़ने की इच्छा नहीं है ।”

“इच्छा नहीं है ? क्यों ? पर तुम ठीक कहते हो । तुम्हें मुझ पर दया मांगी है न ?”

शेखर ने उत्तर नहीं दिया ।

“लेकिन मैं कहती हूँ—” भावेंत में मणिका उठ बैठी—“तुम गतनी करते हो और तुम बिना बुलाये क्यों आए ?—बले जाओ—मेरे एकान्त में विघ्न बनकर मुझ पर दया करनेवाले तुम हो कौन ?”

शेखर लौटने के लिए फिरा, तब मणिका फिर हँसी—“मैं नरो में हूँ न, मैं जानती हूँ । कैसे ये बकूझों-सी हँसी है मेरी । हाँ, तुम जाओ । बुलाने पर ही आना, समझे ?”

शेखर चल पड़ा ।

“मैं ठीक कहती हूँ । Burn at both ends, शरीर इसी के बाविल है । इसी के काबिल । तुम मूर्ख हो मूर्ख, मेरे आन दि वीप्सिट !”

बाहर शेखर की याद आ रहा था; एक दिन पहले बात-बात में मणिका ने पूछा था, “भापको कोई शौक है ?” और उसने यों ही कह दिया था, “मुझे चित्र संग्रह करने का शौक है ।”

“How uninteresting ! (कितना अरुचिकर !) कोई जीव नहीं ?”

शेखर ने बताया कि बहुत पहले उसे पशु-पक्षी पालने या तितलियाँ पकड़ने का शौक था, मग्न नहीं रहा ।

“यन ? I collect men ! (मैं तो पुरुषों का संग्रह करता हूँ !) बेंबे-बेंसे अजीब नमूने होते हैं—लेकिन—” एकाएक उसका स्वर ऊँच और बकान से भर गया था—“बसड़ी के नीचे सब एक से ! असम्भ, असंस्कृत—तोतुन पर !”

उस दिन का यह वार्तालाप याद करके शेखर के मन में जोड़ा—“बसड़ी के नीचे सब एक से—सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष ”

‘दोन है, पर घात नहीं; कीर सेने है, पर पचा नहीं सकते—’

* मेरी आती दोनों तिरों से चल रही है,

वह रात भर मर्तों रहेगी—

हिन्दु मित्रगण और शत्रुगण,

स्त्रिनी मुन्दर है उसकी बौद्धि ।

'बमड़ी के लोने सब एक से—लोलुप पशु—'

'जान दि बैप्टिस्ट—'

'तुम मूर्ख हो, मूर्ख—'

मन में दृढ़ निश्चय किए हुए कि अब वह बिना बुलाए क्या, बुलाने पर भी मणिका के नहीं जायगा; कालू से लड़ने के बाद चतुरसेन के दल से बहिष्कृत; अपने से कम बुद्धिवालों से अभिमान के कारण खिन्ना हुआ; बार-बार अधिक खर्चा माँगने पर संतोष-जनक उत्तर न मिलने से घर से अप्रसन्न; शेखर जब एक विपण्ण श्रीदास्य में अपने कमरे में घँटकर दुर्दम अभिमानों घोंड़े की तरह अतीत की मिट्टी खूंदने लगा, और चाहने लगा कि पहले की भाँति ऐसे समय में अपने को सान्त्वना देने के लिए गद्य में या पद्य में कुछ लिखे, तब उसने पाया कि मणिका के कहे हुए कुछ-एक वाक्य बार-बार आकर उसके विचारों को विखेर देते हैं और उसे बाध्य करते हैं कि आसानी से उन्हें टालने की बजाय उन पर विचार करे.... वह नहीं चाहता था वैसा करना, किन्तु उसकी स्मृति में ही कुछ ऐसी बाध्यता थी कि वह विवश हो जाता था। चतुरसेन के दल के लोगों की और कौल नहींनों की वह बड़ी आसानी से मन से निकाल सका था—वे केवल एक ध्रुव व्यभिचार के फँसनेवाले रूप थे; किन्तु मणिका—वह एक शक्ति का विकृत और भ्रष्ट रूप था, जो स्तानिजनक था, पर विरसगर्भ नहीं—उसकी उपेक्षा नहीं होती थी।—मणिका की—उसकी श्रेणों की—आत्मा रोगग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, और वह रोग भी एक उसका भेला नहीं था; वह प्राणुनिक आत्मा का रुक्मान ही था।।...

शेखर ने सान्त्वना की गोज छोड़ दी, गद्य और पद्य का मोह छोड़कर वही लिखना प्रारम्भ किया, जो उसके मन में से चीत रहा था—विद्यार्थी और शिक्षक.... फैशन और संस्कृति, वृद्धि और बासना, प्रकृति और निवृत्ति और पातक्ति.... धीरे-धीरे उसके लिखने की गति बदलने लगी, मन भी मानो हाँचे में टलने लगा, और बढ़ते हुए विस्मय में उसने देखा कि अब वह गद्य और पद्य, कथा और निबन्ध सभी कुछ लिखता जा रहा है; और यद्यपि वह लिखकर सुख का गुण नहीं; केवल परिश्रम का सन्तोष पाता है, यद्यपि वह रचना के सफुर रंग से नहीं, केवल परिचित अनुभूति के तिलक रस से ही पन्ने रँग रहा है, और निरन्तर कभी भी निरी हुए को पढ़ने की इच्छा का अनुभव नहीं करता, कागज सदातर सागमारी के बड़े दरवाज में पटक देता है, तथापि उसका मन निश्चित और विकसित होता जा रहा है। धीरे-धीरे उन पर यह ज्ञान या विश्वास हावी होने लगा कि जिसके बारे में वह विचार रहा है, जो पुरख और स्त्री उसे घेरें हुए हैं और उसकी दुनिया को घेरते हैं, वे सब सन्ततोपमता दूरे नहीं हैं, वे सदिच्छाओं के बलहीन पुत्र हैं—उन्हें सन्ततोपमता है, लेकिन कामना पर्याप्त नहीं है, वे इसमें सन्तुष्ट हैं कि वे जिव की शान्ति करते जायें और शान्ति उन्हें घेर ले, सोंग ले, लोह ले.... क्या ऐसी से पूजा करने का साधन मान्य कर सकता है? किन्तु क्या ऐसी पर दया करना ही साहज का काम नहीं है? पूजा प्रवेष्टा मान्य शक्ति संसार को दया की दृष्टि से देखे—इतनी स्पर्षा

उसकी !—घोर घीरे-घीरे बिना इस प्रश्न का कुछ निपटारा हुए ही उसके रंग हुए जैसे
का डेर बढ़ने लगा, यहाँ तक कि उसने अपनी तिगो हुई कारियाँ एक बगम में भरना शुरू
किया, फिर वही सनको श्रेणियों में बाँटकर रखना सम्भव न पाकर एक घातमारी भर
दाली....

और उसके मित्र उसके नव-जागृत वैराग्य पर हँसने लगे। चतुरमेन मण्डली ने इसमें
अपनी भारी विजय समझी, और मोने-बेम्बीके शेरार के बाहर निक्कले पर कुत्ते-बिल्ली
की पुकारों में उसका स्वागत करके अपना विजयोत्साह दिखाने का नियम-सा बना लिया;
मन्य लोगों ने समझा कि परीक्षा की तैयारी है, कुछ ने कहा कि मणि हुए मूट-मूट
पहनना था, अथ मिलाते नहीं, इसलिये बाहर नहीं निरसता.... बदनाम उसे सवने का
दिया, किन्तु वास्तव में वह करता क्या है, यह जिज्ञासा सबमें बनी रही।

तब गर्मी काफ़ी हो गई थी—परीक्षा के दिन निकट आ गए थे। एक नरो-से में
शेरार ने दो-चार पुस्तकें पढ़कर तैयारी की, नरो-से में परीक्षा दे दी और जान लिया कि
वह अच्छी तरह पास हो जाएगा और फिर लिखने में जुट गया। परीक्षा के बाद उसके
महपाठी तो पर चले गये थे, लेकिन बाकी विद्यार्थियों ने उसे अथ भी पढ़ाई में जुटे हुए
पाकर, आई० सी० एस० की तैयारी से लेकर अग्रिम खाने तक, सब तरह की प्रशंसाएँ
जैसे-जैसे विषय में उड़ाईं, पर वह जुटा ही रहा। अन्त में शेष विद्यार्थियों की भी धुट्टियाँ
भाईं, सब अपने-अपने घर चले गये और शेरार अकेला रह गया।

एकांत के लिए शेरार तैयार नहीं था। एकांत का एक आतंक-सा उस पर छाया
हुमा था। उसे आवश्यकता थी निरन्तर उगने—अपने से—भागते रहने की; निरन्तर
अपने को कही केन्द्रित किए रहने की। होस्टल में अपने को प्रवेला पाकर उसका मन
नौकरी की ओर गया—एकाएक उनके जीवन में उसे दिसचरपी हो गई। किन्तु दो या
तीन दिन के बाद उसने तय कर लिया कि वहाँ कुछ अधिक नहीं है, जो मन को उलझाए
रहे—ये पढ़ाईये दिन भर चिन्म पीते हैं और गन्दी बातें करते हैं, शाम को दो-एक
गीत गा लेते हैं और रात को कबहुँ खेल लेते हैं, बस। तब अपने निकट कही भी कुछ
दखिर न पाकर उसने यों ही सड़क-सड़क और गली-गली घूमना प्रारम्भ कर दिया। दिन
में गर्मी बहुत होती थी, अतः दिन भर वह सोया रहता, शाम से आधी रात तक घूमता
रहता और दो-एक घंटे सोकर फिर रात-फाल की गैर कर लेता।

जिन लोगों ने इन तरह निरुद्देश्य भटकने में—विशुद्ध आध्यात्म में—कुछ समय
महो बिताया है, वे कल्पना नहीं कर सकते, इसका नशा मिटना गहरा है। शेरार ने देर
तक नहीं समझा कि जिन जिज्ञानु-वृत्ति ने उसे फरसत के समय भटकने की ओर प्रेरित
किया था, वही इनके कारण मूट होती जा रही है—वह क्रमशः पक्का 'सोकर' बनता
जा रहा है जिसे कोई भी जिज्ञासा नहीं है, कोई भी इच्छा, आकांक्षा, अभिलाषा, चेष्टा
नहीं है, जो इससे अधिक कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता कि वह है। मनजाने
ऐसी परिस्थिति के निकट आता गया, जहाँ वह मूटा होने पर प्योरी करके ला

बिना इसका ध्यान भी किये कि उसने धोरी की धीर भूख के लिए की; या पीत होने पर बिना उसे अनुभव किए ही किसी का कमल चुरा ले सकता था....

इसलिए जिस दिन वह एकएक उस पय पर जा रहा, जिस पर एक दिन उसने चतुरसेन आदि का अनुसरण किया था, तो इसमें वह पूर्णतया अपराधी नहीं था, यद्यपि उस समय था वह होग में और खूब सचेत ।

०

ज्यों-ज्यों वह उस धुंधले और रंग-विरंगे प्रकाशवाले मुहल्ले में घूमने लगा, त्यों-त्यों उसका मन अधिक जागृत और चौकन्ता होने की वजह जिवित और श्वसना होने लगा । उस पर उसे कुछ रोक्क और कनेज भी हुआ । उसने मानो अपने को जगाने के लिए अपने मन को नकभोरकर कहा, "शंखर, जागो, नमन्को, तुम कहाँ हो ! यह है वेश्यामों का मुहल्ला, यहाँ धोरी विकने हैं, यहाँ नृत्ति विकती है, यहाँ सुख विकता है । तुमके ?"....किन्तु उसके मन ने इसे पकड़ने से इनकार कर दिया । शंखर ने बढ़ते हुए रांग से बार-बार दुहराना आरम्भ किया, "वेश्या, वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रण्डी, समके ? जहाँ धपन नहीं है—दम्मा नहीं है—रोजनी नहीं है, अन्धकार नहीं है—है रंग—रंगे हुए मुँह...." किन्तु हमने भी उनका मन जिविलतर ही होता गया; जागा नहीं, शंखर का निरावस्था करने को राजी नहीं हुआ, उसे आगे बढ़ाने को भी तैयार नहीं हुआ । मानो आगे जो आ रहा है, धीरे जो चेतावनी दे रहा है, दोनों से उसे कोई सरोकार नहीं है....

एकएक कोई औरत उसमें टकरा गई, उसने अन्धकाँड़कर देखा, वह टक्कर अचानक नहीं लगी है; शंखर ने जानबूझकर नदमना से, धरतीलता से, उसे धकेला है । शंखर एकटक उसकी धीरे रंगता रहा—बिना श्लोष के, बिना अनुभूति के, धीरे एक धीरे हटकर गया हो गया । औरत ने अचानक-से में एक गाली दी और बट गई । शंखर ने अपने को पृथक् कराया, वह ज्यों-ज्यों धावा, गया करने धावा, गया लेने धावा... उसने पावट समीप की की, कोई मनमनोदार घटना होगी या तीव्र घृणा होगी, या श्लोष होगा; कोई ऐसी विरगद् प्रतिक्रिया होगी जो उसे भीतर आन्दोलित कर देगी, उसे दहला देगी—वह हम राजी—धुन राजी !—राति-भर के लिए प्रसन्न नहीं था—न इस धीमी-सी अवस्था के लिए....

एक जगह पर दो छोटे-छोटे समतल सड़के सँटे हुए थे । वे एक धीमत्स मुड़ा बनाए गए सड़कर सँटे हुए पथपर चलने में थोड़ा शान्त एक दूसरे का मुँह घूम रहे थे और प्रत्येक पथ के बाद सामने एक भिन्न-सी धीरे देगावर एक घर्ष भरती होती होम देने से । शंखर ने अपनी दृष्टि का अनुसरण किया—नीले पिचड़ी के अंश के प्रकाश में फावसई रंग की—वह सड़की पहले एक लंबी सँटी की और उस रंगीन प्रकाश में उसका पावट पर रंग मुँह ऐसा लग रहा था, जैसे पल्लव में पल्लव हुई पारा था....

शंखर आगे बढ़ गया ।

एक तिड़की के नीचे चारखानी जूट की तहमलें पहने चार-पाँच मुसलमान खड़े थे और एक लम्बे क़द के फ़कीर की ओर देख रहे थे ! फ़कीर बूढ़ा था, गेरमा पहने था, गले में मोटे-मोटे दानों की कंठी पहने था, और सामने फ़रोसे पर बैठी एक कुरूप भयैव स्त्री की ओर उन्मुख होकर कह रहा था, "क्यों, तुम मादा नहीं हो ? मेरे पास पैसा नहीं है, मैं भीख माँगता हूँ, पर—" छाती ठोंककर—"मैं मर्द हूँ, मर्द...." वह औरत उसकी ओर तिरस्कार-भरी दृष्टि से देख रही थी, और जुटे हुए सोंग हँस रहे थे....

नहीं ! यहाँ भी नहीं ! यहाँ भी केवल वही हल्की-सी विरक्ति, एक क्षीण भूलाहट... और मणिरा के एक वाक्य की अनुगूँज—'चमड़ी के नीचे सब एक से होते हैं'—सोलुप पशु... पुरुष और पुरुष, स्त्री और स्त्री, पुरुष और स्त्री.... शेरार और भागे बड़ गया ।

एक छोटी-सी, चिपड़ों में घघनगी लड़की ने उसकी बांह सींचकर कहा, "बाबू, पैसा दो ।"

"पैसा मेरे पाम नहीं है; भाग जाओ ।" शेरार ने बांह भटक दी; स्वर भी उसका कठोर था ।

लड़की उसकी टाँगों से चिपट गई । बोली—"दो, नहीं तो मेरे साथ जाओ—मीसे दे देना ।" कहकर उसने एक एक कोठरी की ओर इशारा किया, जिसमें एक सातटेन जल रही थी....

शेरार ने अपने को छुड़ाना भी नहीं, बैसे ही पंजवत् भागे चलता गया । लड़की ने उसे छोड़ दिया ।

एक ओर से आवाज आई, "किन्ना, देल तेरे देस का आदमी जा रहा है—धुला तो ?"

शेरार को क्षीण-सा कौतूहल हुआ । नाम से वह नहीं जान सका कि कौन से प्रान्त की है वह, जिसे सम्बोधन किया गया है और जिसका स्वदेशीय उसे समझा गया है । पर वह रुका नहीं, उसने मुड़कर देखा, यद्यपि उसने उधर से उसे सख्य करके उत्पन्न की गई बुभ्यन की जोरदार ध्वनि सुनी....

वह मोड़ पर मुड़ा ही था कि सामने से आता हुआ कोई बोला—"कूल ले लो !"

नहीं, वे चमेरी के गजरे नहीं थे । शेरार ने एक बार देखा, ऐसे सडलड़ाया जैसे गोली खा गया हो, फिर स्वस्थ होकर सिर झुकाए, एक हाथ से धीरे धिपाता हुआ भागा—भागा... उस स्थान पर—कुमुद के गढ़े ! कुमुद जो. उसके लिए स्वच्छता का प्रतीक बन गए थे, जो....

वह भागा, और न जाने क्यों एक निरर्थक वाक्यांश हथौड़े की चोट की तरह बार-बार उसे उद्बलित करने लगा—ईश्वर और मानव—ईश्वर और मानव...

उन कुमुद के फूलों ने उसके विचार की धाराओं को जिस मार्ग पर डाल दिया, और छुट्टियों में पर न सीटने के निर्णय ने उस पर जो कैद लगा दी, उसके कारण शेरार के मन में शीघ्र ही बारभीर जाने की सातसा सीब हो उठी । उसके शैलव का यह सुन्दर

क्रीड़ात्मक... कितने दिन हो गये थे उसे कुछ भी सुन्दर देखे हुए, और कितनी तीव्र वेदना थी उसकी हृदय में कुछ ऐसा देखने के लिए—जो सुन्दर हो, सम्पूर्ण सुन्दर हो...

लेकिन क्या वह सत्य था। क्या वह सचमुच सौन्दर्य की खोज थी, जिसके कारण उसका जीवन उधर इतना अग्रगन्त हो गया था? क्या वह उसकी परिस्थिति की असुन्दरता ही थी, जिसके कारण उसका अन्तर उबल-उबल पड़ता था? उसे निश्चय नहीं था, किन्तु युद्ध तो सम्भावनाओं का पीछा करने का ही दूसरा नाम है, और जीवन केवल सम्भावनाओं को पकड़ने का दीर्घ प्रयास है....

७

चीन का एक पुरानी कविता है, जिसका भावार्थ है, "व्यक्ति क्यों यह इच्छा लेकर चलताया पड़ा रहे कि उसकी हृद्दियों भी उसके पिता की हृद्दियों के साथ ही समाधिस्य हों? जहाँ भी कोई चला जाए, वहीं कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी मिल सकती है।"

इसी कविता को प्रमाण-वाक्य बनाकर शेखर कारमौर के लिए चल पड़ा था। जाता हुआ वह अपने मस्तिष्क को अतीत की पुनर्जाति स्मृतियों में भरता जाता था, किन्तु उसकी सफ़रता उसे बाँधती नहीं थी, अतीत के साथ समाधिस्य होने की और आकृष्ट नहीं करती थी, केवल यह चाहना जगाती थी कि वह उससे भी अधिक शस्य-श्यामला पहाड़ी ढोने, चाहे जहाँ भी उसके लिए जाना पड़े....

कुछ हँसो भी उसे आती थी अपनी खोज पर—सत्य की खोज, ज्ञान की खोज, मुक्ति की खोज तो गुनी थी, सौन्दर्य की खोज करने वाला जिजागु वह पहला ही था!

अन्ततः झूठ था। कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी उसमें नहीं थी—केवल समाधियाँ!

शेखर ने श्रीनगर पहुँचकर गली-नाली छान घाली—उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्रीनगर में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था—सिवाय मिश्र-मिश्र प्रकार की गन्ध के। नगर के बाहर सुप्रसिद्ध उद्यानों की सीर भी उसने की—किन्तु वहाँ पर भी केवल रस्ताएँ और कोण और मृत्त—और वृक्षों को कटोरे गालीनता और अति-व्यवस्था केवल मृत्तु की शान्ति का ध्यान दितायी थी। जिस व्यक्ति ने इन उद्यानों पर लिगाया था "अगर फिरदीन बदरग, हमीन अस्त, हमीन अस्त, हमीन अस्त, हमीन अस्त" वह अवश्य कोई गणितज्ञ रहा होगा, जिसे दासबानी का जोक चरिया होगा... शेखर ने नदी-नाले और झीलें पार की, पर उनका सौन्दर्य दर्जनों और गात्रियों की, और उनके गुणोंदार वस्त्रों की गेहूँदा मोड़ ने विभूत हो गया था। तब उसने नगर छोड़कर द्विषान्त्य की अज्ञान शुभ्रता में लिपी हुई एक भील की ओर प्रयाण किया; राह के दोनों ओर पार्वत्य उदयकाशों में लिपे हुए साव, पीले, नीले, और श्वेत पुरखों की उड़ती निगाह से देखा पर वह अपनी ऊँचाई पर पहुँचा कि जहाँ-जहाँ चट्टानों की ओट में लिपी लिपे नयों की दर्श दीपकें लगी। एक चट्टान की छाट में से उसने धकेला निगा हुआ वह आसमासी रंग का पोखरा का फूट भी छोड़ा जिसे पाना मौमामय है—कितना है उन दूर का नागर,

जिसका पाया जाना पानेवाले का सौभाग्य है, किन्तु फूल का अन्त !—किन्तु सौन्दर्य, सौन्दर्य उसे न मिला ! वह और ऊपर चला, साप के कुत्ती विद्रोह की तीव्रारी करने लगे, क्योंकि जिधर वह जा रहा था, उधर गये तो लोग थे, पर टिका कोई नहीं था—किसी का रोमा वहाँ नहीं गड़ा था....पर “वहीं तो भिनेगा सौन्दर्य !” कहकर शेरर उन्हें किसी तरह भील तक से गया; भील के किनारे सेना गाड़कर वह पड़ गया और सोचने लगा, इससे भागे कहाँ ?

भील बढ़ी थी, बीच में जगह-जगह बर्फ की चट्टानें खड़ी रही थीं; ऊपर झूँझों की एक धार कभी इधर कभी उधर उड़ जाती थी, और हवा का झोंका भील के धार-धार मानों किसी पार्वत्य देवी का प्रणस्त पथ तैयार कर रहा था । शेरर देखा किया, फिर पक्कान के कारण और जाड़े से कुछ बाँपकर उसने खेमे का परदा डाल दिया और लौटकर सोचने लगा, यहाँ से भागे पथ नहीं है, पीछे ही लौटना होगा, पर उसे तो पीछे कभी पथ दीखा ही नहीं है, वह जाएगा कैसे....

भील के किनारे की एक चट्टान की छाड़ में खड़े शेरर को जान पड़ा, सामने दो चट्टानों से जो घेंघेरी-सी गुफा बन गई है, उसमें खड़ी कोई शुभवसना देवी पानी में अपने पैर भिगे रही है । फिर उसे लगा, वह देवी नहीं, मानवी है, और शेरर की परिचिता है । किन्तु कौन ? नहीं, चेहरा केवल किसी से मिलता है—शारदा ? शशि ?

शेरर एकाएक जाग पड़ा । वह सो गया था, सोते समय खेमे के परदे की धोड़ी-सी धुली जगह में से चाँदनी उसके मूँह पर आ रही थी । स्वप्न से वह अमान्त-सा हो गया, कुछ-कुछ अपराधी होने का भी भाव उसके मन में आया । उसने कन्धे पर कन्वल डाल लिया और खेमे से बाहर निकल गया ।

बाहर पुरी चाँदनी छिटकी थी, इननी प्रोज्ज्वल कि निरभ्र आकाश में भी तारा एक-आप ही दीखता था । भील चमक रही थी । रंगों का वह खेल—केवल एक रंग, श्वेत का खेल—बल्कि केवल मात्र प्रकाश का और उसी अनुपस्थिति का वह खेल देखकर शेरर स्तब्ध रह गया । झिलमिलती हुई भील पर धुंधले श्यामल पहाड़, और दूर पर कुहरे-सी मधुर स्निग्ध ज्योतिर्मयी हिम श्रेणी....उस विस्तीर्ण, अत्यन्त निस्तब्ध रात में इस दृश्य को देखते हुए बोध की लहरें-सी उसके शरीर में दौड़ने लगी ; मानो वह इस जीवन के स्वप्न से उद्बुद्ध होकर किसी ऊँचे यथार्थता के लोक में चला जा रहा है....उसे रोमाञ्च हो आया । उसने प्राँखें मूँद ली, मानो प्राँखें मूँदकर हो यह इस दृश्य को बनाए रख सकता है, गुली प्राँखों के भागे वह छिन्न हो जाएगा....

प्राह सौन्दर्य...

शेरर को बँपकैसी आ गई । उसे जान पड़ा कि उसके मस्तिष्क पर कोई भारी बोझ है, जिसे उत्तार देना आवश्यक हो गया है, वह धीरे-धीरे खेमे की ओर लौट पड़ा ।

भीतर आकर उसने मोमबतियाँ जलाई ; कागज-कमल जिया, और लगभग अनिश्चय में बलम हिलाता रहा । फिर उसने लिखा, “सौन्दर्य और बटि का सर्ति”

कभी भी बन्ध नहीं होता ।” थोड़ी देर फिर रुककर एकाएक निश्चय में उसने कागज घुटने पर रखा, और सिर झुकाकर लिखने लगा—अपने जीवन की सबसे पहली और सबसे सुन्दर कहानी—

०

“उसने अपना जीवन नगर में बिताया था—नगर की गन्दगी और भीड़ में, कलह और कोलाहल में, और उसी में इतना सन्तुष्ट और चुप रहना वह सीख गया था कि सिवाय नगर की जनसंख्या में इकाई जोड़ने के और कोई महत्व उसका नहीं था । वह उस गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल का एक अंग था । अड़ोस-पड़ोस में उसकी नीरसता प्रसिद्ध थी । इसीलिए, जब उन्होंने सुना कि उसने अबकी बार काश्मीर जाने का फैसला किया है, तब हँसते-हँसते उनके पेट फूल गए । “वह काश्मीर देखने ? वह तो मैंस का भी सौन्दर्य नहीं पहचान सकता—काश्मीर ? जिस सौन्दर्य को बड़े-बड़े कलाकार गोप के घेर में नहीं बाँध सकें, उसको पकड़ने चला है वह—वह शहर की गली का रंगता गोलुमा, जिसकी घाँस नहीं होती, जो धर बड़ना चाहे तो धर सिकुड़े बिना बढ़ नहीं सकता । गली तो है—गदहा पूछे किन्ना पानी !”

किन्तु नीरस व्यक्ति होने के कारण इन सब बातों का कोई असर उस पर नहीं हुआ । उसे ज्ञात था, वह गया ।

श्रीनगर में वह बहुत दिन रहा । घूमा किया, भटका किया उस सौन्दर्य की रोज में, जिसे सब देना सुनने ने और दयानते थे और वही एक अभाग्य नहीं पहचान पाता था । पीरे-पीरे उसका विश्वास होने लगा कि सौन्दर्य निरी कल्पना है—और ज्यों-ज्यों वह विश्वास जगने लगा, त्यों-त्यों जलसी मोज भी अधिक व्याकुल होने लगी । उसने गुलमों के उत्तान देखे—सस्ता सजावट और गणित के प्रयोग—और वन ! उसने पहल-गोप देखा और निराश लोटा, गुलमर्ग का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा—डल भील नीरस दोगी, और कुवर तो थी ही गंदले पानी का प्रसार ।

मर्या में वह फिर अपने नगर—उसकी गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल के लिए लटका देने लगा । वे गार्जे सुन्दर नहीं थीं, तो कम-से-कम घाँस तो थीं, पकड़ में तो घाँस थी, समझा तो उन्हें जा सकता था ! क्या वह सोट चले ?

किन्तु कार्पास करके सोच में सोट देना तो—रिमों का काम है—वह धरचिक के धपकी मोट बीच में छोड़कर चल दे ? वह अपने लीमे के बाहर बैठकर मोचता क्यों है हो संसार में एकमात्र व्यक्ति है, जिसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं है ? क्या मैं हूँ एक पंगु दयाला गया है ? या मैंने अपनी सतने की अधिमायो सिद्ध नहीं किया है—”

उसने निश्चय किया कि वह एक बार और बेच्टा करेगा—अगर तब भी अनुभूति उसे प्राप्त नहीं होगी, तब वह सदा के लिए अपने गंदे और संतुल कोलाहल भरे नगर को

सोटा जाएगा....वह निर्णय कर लेगा कि वह हार गया या जीता—वह नीरस है तो इस मम्बन्ध में कठोर नीरस सत्य को जानकर ही रहेगा....

उसने दो पहाड़ी टट्टुओं पर अपना आवश्यक सामान लादा, और टट्टुओं के मानिक को साथ लेकर चल पड़ा। चार दिन निरन्तर वह चढ़ाई चढ़ता ही गया—जंगल घना होता गया और निस्तब्धता बढ़ती गई, हवा हनकी और तरल और शीतल जान पड़ने लगी। फिर तीन दिन और, वह और उसका पहाड़ी साथी भागे बढ़ते गये—प्रसंख्य छोटे-छोटे पहाड़ी झरनों को और मोती की सड़ी से भर-भर भरनेवाले जल-प्रपातों को लांघते हुए—यहाँ तक कि देवदारु और भोजवृक्ष भी चुक गए, और उनके सब और विस्तीर्ण उपत्यकाएँ छा गईं, हरित, लोहित, नील-नील, श्वेत, निर्गन्ध पुष्पों से ढँकी हुई उपत्यकाएँ....

इससे भी आगे वे बढ़े—सब फूल भी चुक गए—केवल कहीं-कहीं एक-आध भूला-सा नीला पोस्त दीप्त जाता, कहीं-कहीं तीव्र गंधवाली कोई बूटी या रुखे पर्णोष्मानी कोई फुल्लुप झाड़ी....

और उससे आगे सौभाग्य-मूचक वे नीले पोस्त भी चुक गए, बूटियाँ भी चुक गईं, रह गईं केवल ऊबड़-खाबड़ नीरस चट्टानें और पिटी हुई-सी भावहीन नीरस धूव ...

उसके मन में भावना हुई, इस दुर्गम पथ पर एक-एक करके सब रसिक रह गए हैं—बूझ रह गए, फूल रह गए, बूटियाँ रह गईं, एकान्त तपस्वी नीले पोस्त तक रह गए—मग्न बचे हैं तो नीरस परस्पर, नीरस घास और नीरस जिज्ञासु वह ... इस बीहड़ मार्ग पर सौन्दर्य उमे दीप्तना ही चाहिए—पर क्या सौन्दर्य शृंख है भी? क्या रस की कल्पना, आसन्न रमलब्धि की भावना ही को सौन्दर्य नहीं कह देते? 'इसमें मैं अभी-अभी सुख पाऊँगा', इस चिन्ता में ही व्यक्ति इतना डूब जाता है कि सुख पान से पहले ही रस-भोग उसे हो जाता है, तब वह कहता है 'किन्नी सुन्दर!' वासना की धमूर्त के द्वारा पूर्ति का नाम ही सौन्दर्य है न....

तब क्या यह वासना से परे है? वह जानता है कि यह मिथ्या है, उसका गाव गो वासना से झुनस सकता है, और झुनसा है और झुनसेगा....तब क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसे सुख दे सके, या जिससे वह सुख की प्राप्ति कर सके? इतना भ्रमाग भी होना कठिन है—इन आसपास पड़े हुए काले परस्परों के भीतर भी तो कहीं-कहीं हरे या श्वेत रंग की एक नाड़ी दीप्त पड़ती है।

एक घाटी पार करके वे सहसा खुली जगह पर आ गए, जहाँ सामने एक विस्तीर्ण मील थी, चारों ओर चोटियों में घिरी हुई—कोई नंगी और श्यामबाय, कोई हिमाव-गुच्छित....

उसने घोंड़ेवाले से रोमा गाड़ने को कहा, और हल्की-हल्की बूँदाबाँदी में ऋतु भीतर जाकर कुछ सा-सीकर सेट गया—वह बहुत थक गया था। इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह सेटा-सेटा सोचने लगा ...

कैसा मूर्ख है वह... गया और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा ? कहानियों में यवश्य सुनते थे, अमुक राजकुमार—तीनम के द्वीप में गया, जहाँ सौन्दर्य की देखी रहती थी, या अमुक बादशाह ने अपने बगीचे से कहा कि मुझे सौन्दर्य का सार चाहिए—लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वे कहानियाँ सच हैं ? 'कहानी' और 'यथार्थ'—ये दो अलग श्रेणियाँ हैं, यह ज्ञान छोटे-से बालक के मन में भी बिठा दिया जाता है... वही एक मूर्ख ऐसा है कि नहीं समझ पाया—यथार्थ-जीवन में रहकर कहानी-जीवन की खोज पकड़ना चाहता है... क्यों न लोग उस पर हँसें ? उसे मूर्ख समझें ? पर पर—नगर की गन्दगी और कीटाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी उसे हेतकी होगी कि मूर्ख जादी करके सौन्दर्य की खोज करने चला है...

८

वह अचक्काकर आया । उसने स्वप्न में देखा था, एक वाली चट्टान की गोल-गोल शीर्षों उस पर टिकी हैं और चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया, जो सौन्दर्य की खोज में चले आए—मेरे पास ।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई थी, जो टटकर हँस पड़ी ।

वह उठकर बाहर निकल आया और लम्बे-लम्बे टंग भरकर भील की ओर जाने की दशा—

बजाहूत-ना पथ के बीच में वह रुक गया । कोई अनित्य-नवीय पदार्थ लहरें बाँध-बाँधकर उसकी ओर उमड़ा आ रहा था—कुछ गुबार-जोतल, कुछ भय, कुछ रोमांच-पारी—उमड़ा ही नहीं, उसके मेहरबान की गर्दन-कड़ी गेगता हुआ उसके गस्तिपक में सेट रहा था...

उसके सामने मिली हुई—राजा की क्रीडना, छायाएँ, नर्क का पैला हुआ शीतल, निरन्तर आता, लहरें, लहरें...

शेखर—गहरे भाविक आवाज की धरत—अनुभूति उसकी रंगों में दीह गई....

पानी पर चन्द्रमा की चिरणों का नर्तन—तरल समुद्र के पट पर विरजती हुई धारण समुद्राएँ—और दूर उस पार—विमलवाकार और अत्यन्त सूक्ष्म में लकीर लकीर—तारा और ध्यानल सोर साँठव....

प्रकाश के आभास के साथ ही लहरें आया—अन्त आभास में ली गया—उपि अपने ही भी, किन्तु उसकी पलक में लहरें लगी—उसकी बुद्धि बाह्य, पराजित, नष्टिपकी की लहर प्रकाश के साथ....

जो प्रकाश की लहरें लगीं वे लहरें हैं, वह प्रकाश ही और कहता है—उस लहर के पार उस प्रकाश की लहरों की लहरें लगीं हैं....

उस पर प्रकाश आ गया था, वह बढ़कर रहा था, वह लहरें लहरें लहरें और

बर्फ और आकाश के सौन्दर्य को घेरने के लिए बड़ा जा रहा था....किन्तु स्वप्न क्या बाहों से धिर सकते हैं, बंध सकते हैं....?

वह तन्त्रा में ही भागे बड़ा जा रहा था—भोल की ओर, जहाँ चन्द्रमा की किरणों पर—घप्पराएँ धिरक रही थी....

अगले दिन जब सूर्योदय तक भी वह तंबू से बाहर नहीं निकला, तब घोड़ेवाला भीतर गया, पर वह वहाँ नहीं था। कुछ देर घोड़ेवाले ने प्रतीक्षा की, फिर सोज के लिए निकल पड़ा।

कहीं कुछ नहीं—केवल बर्फ पर कुछ-एक पद-चिन्ह भोल की ओर जाते हुए और भोल के किनारे तक जाकर लुप्त—और उससे भागे कुछ नहीं, केवल अनेक अश्वगुण्ठन डाले हुए विरन्तन सौन्दर्य—नीरव सन्निभ, रहस्यमय....

अगले दिन प्रातःकाल ही शेखर ने सामान बाँधा, तम्बू उखाड़ा और वापस चल पड़ा। अपनी नई अनुभूति को गाँठ में बाँध लेने के बाद उसके लिए वहाँ रहना अनावश्यक हो गया था—अनावश्यक ही नहीं, असह्य भी हो गया था।

तीन दिन के बाद वह पहले डाकघर पर पहुँचा, जहाँ उसे कई जगह भटककर भाई हुई उसकी डाक मिली। डाक में कुछ अधिक नहीं था, दो-चार परिचित लिपियाँ ही थी—एक नई लिपि देखकर उसने वही लिफाफा सबसे पहले खोला, और उसके यारी पत्र मनपड़े ही रह गए।

शशि ने तीन लाइन का पत्र लिखा था—उसके पिता का देहान्त हो गया और माँ को बार-बार गर्भ पड़ता है।



सन्ध्या के समय निरानोक नीरव घर में प्रवेश करते समय किसी को सामने न देखकर शेखर ने सन्तोष की गहरी साँस ली। न जाने क्यों, उसके मन में डर बैठा हुआ था कि वह इस घर के ऊपर छाए हुए दुःख में हिस्सा नहीं बटा सकेगा। यद्यपि शशि के पिता की बीमारी में वह यहाँ था चुका था और रह चुका था, और घर से एकरा हो चुका था, तथापि उसे लगता था कि उसका लगाव मौखी विद्यावती और शशि से ही है, और इस समय वे दुःख से घिरे हुए होंगे, तब वह उनके निकट नहीं जा सकेगा और न दुःख में हिस्सा बटा सकेगा। ऐसा जान पड़ता था कि वह स्वयं निष्पत्तिक हो गया है, व्यक्ति को अनुभूति—दुःख-मुक्त—उसे नहीं छूती; और ऐसी दशा में समवेदना प्रकट करना असम्भव और न करना नृनसत्ता होगी....

डार पर, दगोड़ी में, भाँगन में, सीढ़ियों पर—शेखर को कोई नहीं दीखा। उसने

भूमि पर बिछी हुई एक चटाई पर मौसी विद्यावती मूर्च्छा में पड़ी थी, उसके माथे पर एक हाथ रखे, दूसरे से पंखा करती हुई जगि बैठी थी। जगि की छोटी बहिन गौरा हाथ में पानी का गिलास लिये खड़ी थी, लेकिन पानी के छींटों की वजह से नीरव आँसुओं की धुँदें हो गिरा रहा थी।

शेखर के मुँह से अकस्मात् निकला, "जगि—", फिर वह सजुचा गया। मौसी के हाथ हो चुटनों बैठकर पानी का गिलास उसने गौरा से लिया और छींटे देने लगा; जगि ने एक बार उसकी ओर देखा, एक सरल विशाल स्वीकृति में उसकी उपस्थिति को अपना लिया और पंखा भवती रही। गौरा जाग्रत सामान देखने के लिए नीचे उतर गई। मौसी ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और एक निर्वेद दृष्टि से उसे पहचानकर फिर मुँद ली, फिर करवट लेने की कोजिग की ओर रह गई; फिर उनके अंग जियिल हो गए और साँस नियमित चलने लगी। जगि ने धीरे से कहा, "गो गई—आज तीन दिन बाद सोई है"; शेखर ने एक बार आँग उठाकर उसकी ओर देखा, मानो पृथ्वी चाहता हो, "तो तुम तीन दिन तक देखती रही कि सोती है या नहीं?" पर कुछ बोला नहीं; जगि उठकर बाहर चली, शेखर पीछे हो लिया, उसके बाहर जाने पर जगि ने किन्नाड़ा बन्द करके पूछा, "मेरी नित्ठी मिनी थी—कब?"

"आज पाँच दिन हुए हैं।"

"ये कहाँ तुम?"

"काश्मीर गया था—"

"काश्मीर कहाँ? आते-आते पाँच दिन लगे?"

"कहीं नहीं, जगि, मेरी ध्वन ठिकाने नहीं थी," कहकर शेखर एकाएक चुप हो गया।

जगि खोईपर में गई और धीरे-धीरे खोई की सामग्री जुटाने में लगी। शेखर ने कहा, "मैं मदद करूँ?" जगि ने चुपचाप आँखों की परात उसकी ओर धकेल दी और एक छोटा पाणी भी रखा दिया, स्वयं सरकारी काटने लगी।

मध्य के इन प्रकार निर्विवाद स्वाकार हो जाने पर शेखर को विस्मय हुआ; उसने स्थिर दृष्टि से जगि की ओर देखा। तब उसने जाना कि जगि स्वयं वहाँ नहीं है, वहाँ केवल एक मानव-वस्तु है, जो दूसरों को बचाने के लिए स्वयं चलता जा रहा है, चलता जा रहा है....

धीरे तब एकाएक उसने पाया कि वह निर्व्यक्तिक नहीं है, कि वह विपाद में डूब गया है, कि उसका दुःख उसका दुःख है—गहरी समवेदना का स्रोत उसके भीतर कहीं उमड़ पड़ा....

दुःख संतर्पित-वस्तु है, वह उदात्त और गोपक भी है। दुःख का संगम परिवर्त्ती को भी मूल और उदात्त बनाता है।

कुछ ऐसा ही जान वहाँ रहते हुए शेखर के भीतर से प्रस्फुटित हो रहा था, तभी उसने निश्चय किया कि वह वहाँ से न जाकर वहाँ दुःख के घाँवल में विश्राम करेगा....

मृत्यु के भ्रमभावत की चोट से क्षत-विधत हुए उस परिवार की एक मास से ऊपर हो चला था; धर काम से कम कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से अपनी साधारण भवस्था पर आ चला था—काम-काज ही तो संसार की व्यवस्था की स्तम्भ, एकरूप रहनेवाली एतन्मात्र वस्तु है—और मौसी विद्यावती तथा शशि दिनभर किसी न किसी काम में जुटी रहती थीं.. कभी जब पास-पड़ोस की औरतें हमदर्दी दिखाने आ बैठती, तब भी वे कुछ न कुछ काम लिये बैठी रहती और निष्ठापूर्वक उस घिघली, कभी-कभी मिम्णा, और प्रायः ही रुढ़िगत गमवेदना के लिए घाँवल पसारे रहती, क्योंकि वही परम्परा थी, भले ही उसने भाग्य के गहरे क्षत और भी गहरे होते जाएँ, फूट उठें, जीवन-रस बहा ले जाएँ....

और शेखर इस विशाल मौन कर्त्तव्यनिष्ठता की स्तम्भ होकर देगा करता—यह दूर सड़े घपलक दृष्टि से मौसी या शशि की और देखता रहता। जब कभी उनका ध्यान इसकी ओर खिंच जाता, तब वह जल्दी से वहाँ से हट जाता....कभी मौसी बुलाकर पूछती, "क्या है, शेखर?" तब वह कुछ उत्तर न दे पाता और वे समझती कि उन्हें अपना दुःख दिखाकर उसे दुःखी न करना चाहिए—यह उनकी करपना में न आता कि उनका दुःख-सुख, आनन्द-भावेंग, राग-विराग तत्काल ही कार्य में परिणत कर देता है, जो व्यक्ति के लिए ऊँची-मे-ऊँची चोटी तक ऊँच-गाढ़ पगडण्डो दिखाने की सैम्पार है, किन्तु समष्टि के लिए छोटी-सी दूर तक भी प्रगस्त-वय बनाने के लिए दूर नहीं खपना....वह जिसमें संपन्न नहीं है, जिसने पानी या बहने और बहाने का धर्म तो अपना लिया है, पर सीपने का काम नहीं सीखा...तब वह दोड़कर किसी एकान्त कमरे में घिप जाता और अपने को कोसा करता कि इनका सम्या जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है; अपनी पूँछ का पीछा करनेवाले कुत्ते की तरह अपने घासपास ही चक्कर काटकर रह गया है, दूगलों का दुःख, दूगलों की वेदना उसने जानी नहीं, जानी पाही नहीं, जानने की सम्भावना नहीं छोटी....

न जाने इसका श्रेय किसे था कि उस दिन एकाएक बातें होने लगी थी और मौसी, शशि, शेखर तीनों ही जैसे कीर्द बाँध तोड़कर बोलते रहे थे। शेखर की यह देखकर बहुत सन्तोष हुआ कि उसकी एक-मात्र बात पर मौसी मुस्कुरा भी दी थी—यद्यपि वह मुस्कुराहट ही किसी दूसरे की आँखों में आगू साने के लिए पर्याप्त थी।

शेखर मायद अपने भावी कार्यक्रम के बारे में कुछ जान बहने-बहते एकाएक यह गया था, "यह मुझसे नहीं हो सकता—इसकी तो रेखा ही मेरे हाथ में नहीं है।"

और शशि ने पूछा था, "आपकी हाथ देगना छाटा है?"

शेखर के कुछ उत्तर देने से पहले ही विद्यावती ने हाथ बढ़ाकर कहा, देकर बताओ तो मेरी आगू किन्ती है?"

अपनी ट्रेनिंग पूरी करने के बाद उसे बाद में भरती होनेवाले जत्तों को ट्रेनिंग देने का काम मिला। वास्तव में वह और भी अच्छी ट्रेनिंग थी, क्योंकि इसमें शरीर के साथ मन को भी चौकले रहकर देखना होता था कि इसमें क्या ब्रुटि है, और उसे कैसे पूरा करना होगा....

कांग्रेस का अधिवेशन समीप आते देर न लगी। एक दिन शेखर भी विस्तर गोल बार, उसे वर्दी-वेष्टित कंधों पर लादकर लारी में पटक, स्वयंसेवकों के पहले दल के साथ कैम्प में जा पहुँचा।

ट्रेनिंग प्रायः पूर्ण हो चुकी थी, केवल देर से आये हुए कुछ-एक व्यक्तियों को जल्दी-जल्दी चार-चार बार परेठ कराकर तैयार करने की कोशिश की जा रही थी; किन्तु स्वयंसेवी सेना का संगठन अभी तैयार नहीं हुआ था। सेनापति थे, और स्वयंसेवा थे। किन्तु उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए छोटे-बड़े अफसरों का जो जाल रहता है, वह नहीं था। उसकी ओर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, क्योंकि "चार दिन की बात है, सबको मिलाकर किसी तरह काम चलाना है।" किन्तु "मिलकर काम चलाने" में यह तो स्पष्ट होता नहीं कि कौन आज्ञा दे और कौन उसे पाले, अतः एक दिन पॉन मुख्य अफसर....दलपति—चुने गए और अगले दिन परेड में बाकी अफसरों का 'चुनाव' हुआ। शेखर के पास अपनी योग्यता या अयोग्यता के अतिरिक्त कोई सिफारिश नहीं थी, फिर भी उसे एक मातहत अफसर—'सरदार'—बना दिया गया, और काम यह मिला कि कैम्प का प्रबन्ध वह संभाले।

कैम्प में सीधे ही स्वयंसेवक थे। उनकी देन-रेग की विशेष आवश्यकता न होनी चाहिए थी, किन्तु स्वयंसेवकों में कम से कम तीन तो कालेज के छात्र थे, जिनका विचार था कि जब वे स्वयंसेवक बन ही गए, और वर्दी के लिए भी आधी कीमत दे चुके, तब कोई कारण नहीं कि उनसे काम की भी आज्ञा की जाए और कांग्रेस का समागम न देखने दिया जाए। सप्ताह में तीन बार उन्हें शहर में अपने घर जाने की भी आवश्यकता थी—ये दल अंगन में टिड्डुरकर मरने नहीं आये थे। काम दिन में होता है, रात को वे पारो पारी मोढ़े—किसी को क्या? और फिर, स्वयंसेवा का भारी बोझ उठाकर उन्हें मनोरंजन की भी जरूरत है, कांग्रेस नगर में गिनेमा तो है नहीं, शहर जाना होगा; कैम्प में तान था सीता ही तो सीता जा सकती है, कभी जरा दिव्यस्त्री लाने के लिए दो चार पैसे का धान ही सपता है....

रिज पृथ देवारे ऐसे भी थे, जिन्हें यह भी पता नहीं था कि निवृत्ति के लिए कहां जाना होगा, भोटन के लिए पत्नी कैसे बसा करना होगा, कम्बल न होने पर किससे माँग करनी होगी; और जो इन सब बातों के लिए पृथदास या 'जिहाद' करना बुरी बात समझते थे, 'मर्द कांग्रेस का काम है, कोई तफ्तीक में भी कर लिखा तो क्या....

और कुछ ऐसे थे, जो वर्दी पहनकर अपने को उन सब कर्मों का अधिकारी समझते थे, जो उन्होंने मोरे मेमिनों या पुलिसवालों को करते देखा था और ऐसाकर पूना और

विवश कोष से भर गए थे—राह चलतों को धमकाना, किसी गरीब पर शरु हो जाने पर उसे गाली देना और सताना, आदि....उनकी समझ में उनका यह अधिकार सीमित करना मानो 'मेना' को पंगु बनाना था, क्योंकि वह है किस लिए यदि हाथ जोड़ना और तुलना करना ही यहाँ आवश्यक है तो....

फिर कांग्रेस में भागे हुए कुछ प्रतिनिधि (और दर्शक) ऐसे थे, जिन्होंने रोमे का किराया देकर संग में सारा स्वयंसेवक दल भी नीकर रख लिया था—समय असमय पर उनकी माँग आती थी कि पेट में दर्द है, सेंक देने के लिए स्वयंसेवक चाहिए ; प्यार है, रात में पास रहने के लिए स्वयंसेवक चाहिए, हाजिमा दुस्त नहीं है, वालंटियर भेजें कि कमोड शक कर दिया करे....इस प्रकार की माँगें उचित भी हों तो भी डाक्टर के पास जानी चाहिए थीं, जो रोगियों के लिए उचित व्यवस्था करने का उत्तरदायी था ; पर ऐसा उत्तर देने पर सदा स्वयंसेवक—या शेखर—को याद दिलाया जाता था कि स्वयंसेवक का धर्म है किसी काम को सुदृढ़ न समझें—“तुम्हें मालूम है, अफीका में महात्मा गान्धी स्वयं मीठा खोते थे । तुम उनसे बड़े तो नहीं हो—”

और कुछ वालंटियर अक्सर भी ऐसे थे, जिनकी पात्रता का आधार उनकी योग्यता नहीं, उनके सम्बन्धियों का प्रभाव था । ऐसे लोगों को दूसरे कामों की बसो नहीं थी कि कैम्प में आकर बैक्कूफों से पाषाणपच्ची करें । जिन महाशय का काम स्वयंसेवकों को काम पर नियुक्त करना था, वे दिन में तो दो बार नियुक्तियाँ कर जाते थे, पर शाम के भोजन के बाद पीप को कड़ाके की सर्दी में अपने स्थान से कैम्प तक भाना उन्हें नागवार था; अतः प्रायः ही शाम की ड्यूटीवाला स्वयंसेवक अपने स्थान पर दूसरा आदमी आता न पाकर आधी-आधी रात तक खड़ा रह जाता था....ग्यारह बजे के बाद से शेखर के पास संदेश आने लगते, “अमुक सेवक पाँच घण्टे से ड्यूटी पर है, कोई उसे मुक्त करने नहीं गया,” “अमुक को छः घण्टे हो गए, वह बारिश में भीग भी गया है,” “मैं आठ घण्टे से खड़ा हूँ, अब अपनी जगह एक आदमी को खड़ा करके आया हूँ; दूसरा स्वयंसेवक दोजिए तो उसे वहाँ पहुँचा आऊँ....”

शेखर को काफी काम था । प्रातःकाल छः बजे वह खेमे के दप्टर में आकर स्टूल पर बैठ जाता, दो बजे दिन और दस बजे रात उसका पठान ‘धर्दसी’ किसी तरह लड़-झगड़कर उसका खाना से आता, वही एक बार चाय भी पिला देता, रात के बारह बजे शेखर खेमे से निकलता, और निकायतों से ऊबकर सोचता कि सोने से पहले एक चक्कर लगाकर देन आऊँ, कौन कब से वहाँ है, ताकि फिर निरिबत हो सो सकूँ....एक गमस्था उसकी और थी—नियुक्तियाँ तो वही अक्सर कर सकते थे, जो नियुक्ति के डिम्मेवार थे, शेखर तो धनधिकारी था, अतः जब उसे स्वेच्छा से जानेवाले स्वयंसेवक न मिलते, तब वह अपने अपनी के स्वयंसेवकों को ही भेजता, जो कैम्प की सैमान के लिए ही उसे भिरे हुए थे....

दो बजे रात वह थका-बुका अपनी छोनदारी तक पहुँचता, और बिना बत्ती बिनी

या बूट तक भी गोले पृथाल पर अपने बिस्तर पर पड़ जाता...बूट न खोलना ठीक था, क्योंकि ग्यारह आदमियों से भरी उस छोलदारी में इतना ही स्थान था कि वह बाहर निकालकर पड़ सके—उसके भारी बूट और मोटी पट्टियाँ ही नव समर्पित प्राण-दाता बनती थीं....

अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन के लिए दिन-रात बिमते हुए, शेरर एक दिन उनके विरुद्ध घोर अपराध किया।

फाल्गुन के विद्यादिवों वाले तम्बूओं में तीन-चार बार जुआ खेलती हुई टोलियाँ पाई गई थीं। पहली बार शेरर ने केवल पैसे जप्त कर लिए थे और चेतावनी दे दी थी कि यह काम अनोपन है, दुबारा नहीं होना चाहिए। दूसरी बार उसने ताश और लगे हुए से जप्त करने के अनिश्चित एक परेड भी कराई थी। तीसरी बार उसने तीन व्यक्तियों से दिन भर के लिए कैम्प से बाहर निकाल दिया था, और सारे कैम्प में नोटिस फिरवा दिया था कि जुआ खेलनेवाले को स्वयमेवक दल से निकाल दिया जाएगा।

जो लोग परिश्रम करते थे, अपनी दृष्टि बड़ा जानें थे, उनको इतनी फुरमत्त नहीं होती थी कि जुआ खेलें, और फिर नियुक्त करनेवाले अफसर को गुणा से वे चूर भी ऐसे होने दें कि फुरमत्त होने पर भी नित पड़े रहने के अनिश्चित कुत्त न करने। किन्तु फाल्गुन के विद्यादिवों काम तो कुत्त करते नहीं थे, और यदि नियुक्ति अफसर के नांगुन में पैसकर (यह भी उनकी स्वच्छन्दता में विघ्न नहीं डालता था, क्योंकि सबसे अधिक हाना करनेवाले दल को अफसर करके यह अपनी निर्वाच स्वच्छन्दता रंगे बनाए रखता ?) कभी कोई दृष्टि पर भेज दी जायता, तो वह प्रायः अपना स्थान छोड़कर चल देता—“दरि गार, क्या मजदूर काम है—मजदूर पर पहरा दो। भला सपक भी कोई मेहर भान जायगा।” इसी श्रेणी के पास फुरमत्त बहुत था, इसीलिए तीनों बार विद्या दिवस हुई।

तीनों बार जब फिर एक टोली जुआ खेलती पकड़ी गई, और उसमें दो व्यक्ति ऐसे नियमों, जो पहली दोनों भटनाओं में भागी थे, तब शेरर ने आवश्यक समझा कि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण दारवाज कर्त्तौ भाहिते।

सम्माननीय का विद्वत् राजा, कैम्प में शिवने स्वयमेवक उपस्थित थे, सब ध्यान से परेड के लिए गोली गई जगह में बतारें चौपकर गड़े हो गये। उनके चेहरे ने सींग रखा था कि शेरर के सचय सारवाज विगुन की पुकार से वे चौंक गए हैं कि जानें क्या संकट पैदा हो जायगा ?....

जानाई को “सायम” मुद्रा में लगे होने का आदेश देकर शेरर के चीने पदों शेरर ने कहा, “सम्माननीय, आज सारा एक आवश्यक सूचना देने के लिए बुलाया गया है। कैम्प के लिए जानें को बात है कि गली बार बार जुआ खेलनेवाले दल पकड़े गये

भगर संगठन है तो अनुशासन है। मैं अपने फैसले को ग़लत नहीं मानता, आप उसे रद्द करें, वह आपको मर्जी है।”

सेनापति इस भावेष के लिए तैयार नहीं थे। बोले, “आप बहुत गुस्से में मालूम होते हैं—”

“नहीं। मैं क्या कर रहा हूँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन में चाहता हूँ, वैसा होता तो मेरे लिए वही व्यवस्था हांती, जो इन जुझारियों के लिए मैंने की है। लेकिन भगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पैदा होने की जरूरत न होती। आप जैसा गुजारा करना चाहते हों, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाजत दें—”

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बंटे हुए शुद्ध खदरधारी महागम बोले, “और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ़ है—”

शेखर ने धूमकर तीव्र स्वर में कहा, “क्या?”

“दो प्रादमियों को ऐसे वेदज्जत करना और पोड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालंटियर सेना अहिंसक है।”

शेखर क्षण भर निर्वाक़ रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठाढ़ा हँस दे और चला जाए। फिर अपने को बस में करता हुआ वह बोला, “आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।” और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे लम्बे क्रोध के कारण भयसर दिया गया था कि वह सेनापति के भंगरक्षक दल में आ जाए—उम दल के सदस्य को काम कुछ नहीं करना पड़ता, सिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ कहीं निकलें, तब उनके आगे-पीछे कंधे पर लुइसगन के नमूने पर बने हुए चरखे लेकर चला करें—तब उसने भवसर का लाभ उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?....

परिणाम कुछ नहीं हुआ। निकाले गए व्यक्ति वापस नहीं बुलाए गए, यद्यपि उन्हें उनकी यदियाँ दे दी गईं, क्योंकि उसकी कीमत उन्होंने दी थी। दो-चार बड़े भ्रष्टारों को छोड़कर, जो केवल भ्रष्टारों करते थे, हाज़िरी नहीं देते थे, बाकी सभी शेखर का फैसला चलटने के विरुद्ध थे।

और जो विचार्यो-विश्वह होनेवाला था, नहीं हुआ। आहम-साहू भगड़ा करके बसत पानना और अपने में मुफ़्त समावा देखने का भवसर भी राना—यह उनका मार्ग नहीं था!



रात के नी बजनेवाले थे। ग़म ही को जो घना कुहरा छा गया था, वह अब निटने लगा था, क्योंकि बर्रा हानी आरम्भ हो गई थी। शेखर बग्ये पर छोड़करोट जाने, बीम

मुझमें और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा में क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है ? शेखर को याद आया, एक बार गर्मियों के दिनों में कालेज में वह बीमार हुआ था तो चचा से समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्वत करके लिए....शेखर यदि मनुष्य न होकर एक वेरिंग चिट्ठी होता, तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती—वर्ना शेखर उनकी दुनिया के बाहर की वस्तु था....उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दवे पाँव नीचे उतर गया ।

शशि का घर वहाँ से बहुत दूर नहीं होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नहीं है—और—

क्यों शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थीं ? इस समय उनकी कितनी जरूरत थी उसे—उनकी घनिष्ठता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है' ! उफ़ यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खींच ला सकता उस बीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्यान ले सकते हैं ।

मूर्ख कहीं का !

●

शेखर समय से पहले नहीं पहुँचा था । किवाड़ खटखटाते ही खुल गया और प्रोफ़ेसर हीथ ने उसके कन्वे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सरप्राइज रखा है ।"

शेखर ने आँख उठाई । परिचय की जरूरत नहीं थी, सामने शेखर का मुकदमा मुननेवाले मजिस्ट्रेट साहब बैठे थे ।

मिस्टर वर्नेस ने कहा, "रिहाई पर बचाइयाँ ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फैसले पर आपको भी बधाई—कम-से-कम फैसले के इस अंश पर !" वातावरण कुछ हल्का हो गया । शेखर बैठ गया, इधर-उधर की बातें होने लगीं । प्रोफ़ेसर हीथ ने बताया कि उन्होंने वर्नेस को भी चाय के लिए निमन्त्रित कर लिया था ताकि बातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सकें ।

चाय शुरू हुई । बातचीत के सिलसिले में प्रोफ़ेसर ने वर्नेस को बताया कि शेखर लेखक है । "क्या लिखते हैं आप—" वर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफ़ेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्रायः गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैंने पहले ही यही सोचा था ।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि अदालत में आपकी सफ़ाई का बयान गल्प-कला का बढ़िया नमूना था !" कहकर वर्नेस अपने मज़ाक पर खिलखिलाकर हँस पड़े ।

नहीं है, हम परवाह नहीं करते—हम जो एक देश हैं, एक राष्ट्र हैं, एक इकाई हैं, हम जो हम हैं, हम थे, हम रहेंगे....

उसे लगा, जैसे किसी ने उसे थप्पड़ मारा है। उसके दाँत घुंठकर बन्द हो गए, उसकी आँखों में दो अपूर्ण आँसू जलने लगे। किसी तरह दो-चार घूंट और पीकर उसने विदा माँगी, और बाहर आकर जल्दी से नीचे उतर गया।

क्या हमारे देशवासी भी ऐसे कहते हैं—कह सकते हैं ? हाय भारत ! हाय हम ! हाय हम !

○

सड़क पर बत्ती जलने के पहले के घुंघले चिकने अरुणाले प्रकाश में उसे लगने लगा कि वह व्यर्थ ही उत्तेजित हो गया है, जेल से आने के पहले दिन की उत्तेजना अप्रत्यक्ष मार्गों में प्रकट हो रही है....क्या हमारी भी संस्कृति एक नहीं है, क्या ब्रिटेन से पचीस-गुने वर्गफल और दस-गुनी आबादी के इस देश में ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक धनीभूत सांस्कृतिक एका नहीं है ? और यहाँ भी अकेले व्यक्ति की रूचि और समूह के सम्मान में वैसा ही भेद हो सकता है—'मैं' एलियट अथवा एज़रा पाउंड पसन्द कर सकता हूँ, जब कि 'हमारी' रूचि छायावाद की और है....व्यर्थ ही हिस्टोरिकल (उन्माद-ग्रस्त) हो रहा हूँ....

पर उसका मन नहीं माना, उसे लगा कि वह खींचतान कर अपनी सफ़ाई दे रहा है। बात चाहे वैसी हो, उसकी चेतना हम में नहीं है, अपनी एकता का अभिमान तो क्या, उसका जीता-जागता ज्ञान भी हमें नहीं है। वह एक मरा हुआ सत्य है, इसलिए भूठ है....

कसक उसके मन में बनी रही। वर्षा में बैठकर भोगता हुआ बन्दर अपने भाग्य से जनी कुछ सन्तुष्ट होने लगे, तभी ऊपर से ओले पड़ने लगे, तब जैसा ओछा वह अपने को अनुभव करता होगा, वैसा ही शेखर उस समय कर रहा था, और किसी भीतरी ग्लानि की गरदनियों से धिकलता हुआ चला जा रहा था....

एकाएक वस्तियाँ जलीं, वह ठिठक गया। उसकी आँखें जिस जगह टिकी थीं, वहाँ एक पीतल का बोर्ड लगा हुआ था।

शेखर के सामने शशि का घर था।

○

'भोगनेवाले प्राणी में और रचना करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा।'

लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ ? क्या मुझे कलाकार होने की परवाह है, जब कि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ, जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है ? अलगाव का मुझे क्यों

क्या उन बड़ी-बड़ी खुनी आँखों का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी ? पर—किन्तु शेखर को निराश होने का समय नहीं मिला ।

रामेश्वर ने कहा, “मैंने तो शशि से कहा भी था कि कम-से-कम फैंसले के दिन तो मिल ही आवें, पर इन्होंने कोई खास उत्साह ही नहीं दिखाया—” शेखर ने शशि की ओर पृष्ठ के लिए देखा, पर शशि की शून्य दृष्टि में कोई उत्तर नहीं था—“फिर मैं भी रह गया । मैं तो कहता हूँ कि ऐसे वीर पुरुष के दर्शन करना भी सीभाग्य से ही मिलता है । आप तो त्यागी महात्मा हैं ।”

नहीं, यह सच नहीं हो सकता ! पर यह मिथ्या प्रशंसा किसके लिए है, उसके या शशि के ? उसने छिपी हुई पर भेदक दृष्टि से रामेश्वर की ओर देखा, और स्थिर भाव से शशि की ओर ही देख रहा था । शशि अब भी चुप ही थी, और वैसे ही एक पैर देहरी पर रखे खड़ी थी ।

“अरे, आप अच्छी बहिन हैं—न नमस्कार, न कुछ, न बैठने तक को कहा; लाइए न इनके लिए कुछ चाय वगैरह—लीजिए तब तक फल खाइए—”

शेखर के कुछ ननुनच करने से पहले ही शशि वहीं से मुड़कर भीतर चली गई और मिनट भर बाद एक प्याला चाय वहीं से तय्यार करके ले आई ।

“अरे, ऐसे—” कुछ हिचकती-सी दृष्टि से रामेश्वर ने मेज पर पड़ी हुई केतली, दुधदानी आदि की ओर देखा ।

शेखर ने जल्दी से कहा, “ठीक है, ठीक है; असल में मैं चाय पीता भी नहीं हूँ—” और बात समाप्त करने के लिए प्याला अपनी ओर खींच लिया । शशि नीचे बिछी हुई चटाई पर बैठकर एक तश्तरी में कुछ फल रख रही थी ।

रामेश्वर ने कुछ हँसकर कहा, “आपकी बहिन का स्वभाव विचित्र है ।” हँसी में कोई सार नहीं था, उसका उद्देश्य केवल यही था कि इस उक्ति को आलोचना न समझा जाए, केवल बोध ही माना जाए ।

शेखर ने भी कुछ हँसकर कहा, “अम्न में हमारा सारा कुनवा ही विचित्र है—”

शशि ने एक द्रुत, तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर अपने काम में लग गई । रामेश्वर ने कृत्रिम विस्मय से कहा, “अच्छा ?” शेखर को लगा कि उसकी मुस्कराहट में हल्का-सा उपहास का भाव है । किन्तु क्यों, वह नहीं जान सका ।

शेखर तुरत कोई नई बात छेड़ना चाह रहा था, पर उसे कुछ सूझा ही नहीं । इस बीच शशि ने फल लाकर उसके आगे रख दिए । उसने पूछना चाहा कि तुम नहीं खाती ? पर यह सोचकर कि घर-घर का व्यवहार अलग-अलग होता है और शायद पति के सामने वह नहीं खाती होगी, उसने तश्तरी अपनी ओर खींच ली और रामेश्वर से पूछा, “आप भी लीजिए न ?”

“लीजिए, लीजिए—” कहकर उसने एक फांक सन्तरे की उठा ली । आपकी तो

हम कुछ आगे बढ़े हैं। और क्या तो हमने सोचा है? हाँ, वह तो हमने सोचा ही नहीं कि वैसावा बन क्या हुआ।”

संस्कार करने के बाद जहाँ-जहाँ गया था, उधर आगे बढ़ा दिया।

“क्या अब रहने वाली है?”

संस्कार ने कुछ हँसकर कहा, “क्या उदास नहीं है—क्या तो बन ही बन रही है।”

“क्यों, तो क्या नहीं कहिए न। बहिन का घर तो क्या घर हुआ है। क्या अब भी वहीं रहिए, मुझे नहीं लगता है, और मैं भी तो सोच रहा हूँ। वह तो कभी-कभी बातें करता है—”

संस्कार को हँसना-सा पार जाना कि वह बात दूसरी बात नहीं हो रही है। उसने सोच को पार देखा, पर जहाँ वह निश्चय से गया था। संस्कार ने संस्कार को कुछ कहा और कहा, “क्या तो कहिए न कि नहीं है? मुझे तो पता चलता है—”

संस्कार ने कुछ सोच बिना ही कहा, “मेरी तो सोच है।”

वह जहाँ संस्कार को ही नहीं, संस्कार को भी कुछ कह दिया था।

“तो क्या?” कुछ कहकर, जहाँ नहीं कुछ पाकर संस्कार ने कहा, “क्या नहीं है तो नहीं सोचें वह कि सोचें बहिन के घर के घर नहीं जायें? सोचिए—” और वह सोच के सोच, “क्या तो सोचें ही नहीं है सोचकर सोचें नहीं जायें। सोचें ही—”

संस्कार ने कहा, “नहीं, वह बात तो बिना ही नहीं है।” फिर वह भी सोच। “नहीं तो मैं ही सोच के सोच निकालूँ? वह तो मैं ही सोच रहा हूँ सोच ही सोच रहा हूँ।”

संस्कार सोचकर सोच।

बिना ही सोच के सोच सोच के बाद फिर एक मुँह उलझा हुआ था—क्या सोच के बाद सोचकर नहीं, तो सोच-काम सोचकर के तो सोच मुँह तो सोचकर के सोच के सोच के सोचें कहिए, वह भी नहीं है। सोचकर के सोच फिर सोचें सोच। संस्कार ने कहा, “क्या सोचने तो सोचें न? सोच, सोचने में बिना ही रह है।”

“सोच ही है—”

“नहीं, सोच ही—”

“कहाँ, वह सोच ही सोच ही है? सोच तो मैं सोच के सोच है, सोचकर सोच मुँह। सोच तो सोच के सोच है। सोच, वह सोच के सोच है, सोचकर सोच के सोच है।”

“तो नहीं, मुझे कुछ सोचकर नहीं है, सोच सोच तो ही भी सोच है—वह सोच है—”

“सोच, सोच मुँह तो सोच, सोच के सोच के सोच है—”

शेखर ने कहा, "घूमते-घूमते तो थक गया। अब चलता हूँ—जरा कालेज से पता लगाऊँ कि आगे कैसे क्या होगा!"

"यह सब तो कल हो जाएगा। पर आप थके हैं तो बैठिए, मैं जरा क्लब तक हो आऊँ, थोड़ा-सा काम है। अभी आता हूँ लौटकर।" फिर शशि की ओर उन्मुख होकर "ये यहीं ठहरेंगे, इन्हें जाने नहीं देना—जैसे भी हो राजी कर लेना।"

शेखर को बिना कुछ कहने का मौका दिए रामेश्वर नीचे उतर गया।

पाँच-सात दीर्घ सेकण्डों तक कोई कुछ नहीं बोला। फिर शशि ने पूछा, "कहाँ रहोगे?"

शेखर जानता था कि शशि के यहाँ वह नहीं रहेगा। पर शशि उससे कहेगी भी नहीं, पति के कहने के बाद समर्थन में भी नहीं, यह उसे कुछ विचित्र लगा। पर निराशा को छिपाने के लिए वह जल्दी-जल्दी कुछ-न-कुछ झूठ आविष्कार करने के लिए बोला, "सोचता हूँ, होस्टल ही जाऊँगा। कालेज का पता करूँगा कि पढ़ाई आगे चलेगी कि नहीं। नहीं तो और कुछ सोचना होगा।"

"घर नहीं जाओगे? माताजी बीमार हैं।"

"अच्छा? पर मैं अभी तो नहीं जाऊँगा—"

"खाना खाओगे?"

"नहीं, इच्छा नहीं है।"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर शशि ने पूछा, "जेल कैसा लगा?"

शेखर को अचानक उत्तर नहीं सूझा। बोला, "क्यों?"

"बहुत-से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी में विश्वास नहीं रहता। तुम तो वैसे नहीं हो गए?"

मदनसिंह का चित्र शेखर की अन्तर्दृष्टि के आगे दौड़ गया।

"अम्—नहीं। मैंने जेल में बहुत-कुछ सीखा है—काफ़ी कड़वा, पर मैं तो शायद कड़वा नहीं हुआ हूँ—"

शशि ने भरपूर दृष्टि से शेखर की आँखों की ओर देखा। उसकी दृष्टि में आश्वासन और सन्तोष देखकर शेखर को अच्छा लगा। शशि के इस विचित्र व्यवहार से जो रुखा-पन उसके प्राणों में समा रहा था, वह कुछ स्निग्ध हो गया।

"अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे। यों ही भटकना अच्छा नहीं है। अबकी जब आओगे तो मैं पूछूँगी कि क्या निश्चय किया है—अबकी क्यों, कल तो आओगे ही। आओगे न? वह भी तो कह गए हैं।"

शेखर ने चौंककर शशि की ओर देखा। शशि की बात में जो एक रहस्यमय अन्तर्ध्वनि है वह क्या है? उसने एकाएक जाना कि आरम्भ में ही शशि ने कितनी बातें की हैं, प्रत्येक की स्पष्ट ध्वनि के नीचे एक गहरा और विशालतर अर्थ है—पर क्या? उसका ध्यान रामेश्वर की बातों की ओर गया—उसकी बातों में भी कुछ था जो—

उसके बिचार रुक गए; पर वह निर्मम होकर उन्हें धागे पकेतने लगा और उनके प्रत्याक्रमण से तितलमिताता गया—

यहाँ कुछ है जो रहस्यमय है, जिसके रामेश्वर और गणि सापी है—मैं उसमें घेर हूँ। क्या है वह? क्या यही बात है कि पति-पत्नी-सम्बन्ध के कारण उनमें एक गहरी आत्मीयता है, जिसकी गहरी हो रहना चाहिए, क्योंकि वह आत्मीयता है, और जिसे उपादकर देखना चाहना पाप है? पर वह आत्मीयता तो प्यार की होती है, और प्यार में आनन्द मिलता है—क्या गणि सुखी है? नहीं, मुझे तो नहीं लगता कि गणि के घोर मेरे—गणि और रामेश्वर के घोर मेरे—बीच में जो अनविच्छेद्य पर्दा खड़ा हो गया है, वह वही पर्दा है जिसके पीछे आनन्द भोगनेवाला व्यक्ति जा छिपता है। आनन्द एक भिन्नता का तरह है, जिसमें व्यक्ति सिमटकर बन्द हो जाता है और दूसरों से पृथक् हो जाता है; अपना जीवन दूसरों के लिए देकर भी वह दूसरों में मिसता नहीं, उनसे अलग रहता है....क्या गणि दूरी गणि ने पाई है?

नहीं। गणि मेरे जीवन से बाहर चली गई है। सुख के कारण नहीं, वैसे ही। हम लोग अपरिचित हो गए हैं। अब क्या जो परिचय होगा, वह रामेश्वर की माफ़त होगा, और रामेश्वर में घोर मुझमें साम्य क्या है? मेरे अस्वप्न अत्यंत हैं। और शीत—शीत तो मुझमें है ही नहीं...गणि सुखी नहीं है, पर मैं यह जाननेवाला कोई नहीं हूँ कि उसे क्या दुःख है। मैं गैर जो ठहरा—

“क्या सोच रह हो?”

शेखर ने सकपकाकर कहा, “कुछ नहीं, यों ही। अब चलूंगा।” वह उठ खड़ा हुआ। एक भाषण उठाह उसके मन में उमड़ रहा था, जिसके कारण वह वहीं ठहरना नहीं चाहता था।

गणि ने कहा, “बैठो अभी—” पर फिर उसके मुख की ओर देखकर चुपचाप उठ खड़ी हुई। शेखर के साथ-साथ वह सीढ़ियों के ऊपरवाले द्वार तक गई। वहाँ पहुँचकर शेखर ने कुछ रुककर उसकी ओर मुड़कर कहा, “धन्या, तो अब चलता है—”

सहसा गणि ने पूछा, “देख लिया मेरा घर?”

तब एकाएक बाड़-सी में शेखर ने देखा कि अगर कहीं दुराय है तो वह गणि का बनाया हुआ नहीं है, और अपनी कुशन की सम्पूर्ण सुखता का अनुभव करते हुए, निरपल स्नेहभरे सहन अपनेपन के साथ उसने कहा, “देख लिया, गणि, बहुत कुछ देख लिया—”

और नीचे उतर गया।

पीछे प्रश्न आया, “कब आयोगे?” पर इस प्रश्नकर्त्री को वह जानता था, और इस अपनेपन के माते समझता था कि यह प्रश्न जिज्ञासा नहीं है, केवल सूचना है कि वह प्रतीक्षा करेगी।

यह सब निरुद्देश्य आवेग लेकर मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा ?

‘अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे....’

मैं क्या निश्चय करूँ ? आगे मैंने कौन-से निश्चय किए हैं ? या किए हैं तो कौन-से निश्चय का अनुसरण सम्भव हो सका है....क्या जीवन की अवाध गति ही मुझे लहर पर के उतराते हुए टीन के खाली डिब्बे की तरह इधर-उधर नहीं पटकती रही—कहीं पत्थर से टकरा गया तो ‘खन्न् !’ से गूँज उठा, पर वह गूँज प्राणों के विद्रोह की थोड़ी ही थी वह केवल आन्तरिक शून्य की, खोखल में भरी हुई वायु की ही थी—कभी ऊँचा उठा और कभी नीचा धँसा, वह भी अपनी अन्तःशक्ति के सहारे नहीं, वहती लहर में प्रवाहमान प्रेरणा के कारण...शक्ति के नाम पर मेरे पास क्या रहा है ? एक आन्तरिक खोखलापन, जिसके कारण मैं तैरता गया हूँ, डूबा नहीं ! क्या इसी सम्बल के सहारे जीवन का युद्ध लड़ा जाता है, क्या यही है वह पाथेय, जिससे कर्म का कँटीला पथ—

कविता, स्तम्भक; शब्दाडम्बर !

किन्तु इस दिशा में सोचने से तो कुछ सिद्ध नहीं होता । हो सकता है कि जीवन का लहर के प्रति अर्पित हो जाना ही सबसे बड़ा काम हो—पर यह मेरे स्वभाव के साथ तो नहीं चलता....या यही सही कि अभी इतनी मार नहीं खाई है कि वह सिद्ध स्वीकार्य जान पड़े—अभी संघर्ष बाकी है, जिसमें मैं अपने को प्रेरक मानता रहूँ—चाहे भ्रमवश....अहंकार तो अहंकार ही सही, पर जब तक अहंकार अघा न जाए, तब तक निष्काम प्राप्ति कैसे, या सच्चा वह कैसे होगा ?

‘अबकी बार आग्रहों तो पूछूँगी कि क्या निश्चय किया है—’

सड़कों पर भटकते हुए शेखर ने आकाश की ओर देखा । शहर की जिस घूल में उड़-उड़कर सड़क की बत्तियों की ज्योति फोकी कर दी थी, वह आकाश में भी छाई हुई थी । शेखर ने सोचा कि जेल के तारे शहर के तारों की अपेक्षा निर्मलतर होते हैं—और मन-ही-मन मुस्करा दिया । फिर उसे बाबा मदनसिंह की याद आई; और निश्चय-वाला प्रश्न फिर सामने आ गया....

क्या कहें मैं ?

‘अपने भीतर जो सत्य तुमने पाया है, वह दूसरों को दे सकते हो ?’

शेखर को जान पड़ा कि यह बाबा का ही स्वर है । वह विस्मित नहीं हुआ, क्योंकि उसके विचारों पर बाबा की जो गहरी छाप पड़ी हुई थी, उसे वह जानता था । वह मानो बाबा के इस कल्पित स्वर से ही बातचीत करने लगा ।

‘तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है ? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है—मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाए हैं !’

‘यही सही । कोई भूतपूर्व सत्य अब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है ।’

‘पर नकारात्मक सत्य के सहारे—’

‘शेखर, अपने भीतर कुरेदकर देखो। क्या कोई घटनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल श्रृंखला ही घायल है?’

‘विश्वास.... “दंते में भी बड़ा विश्वास”.... साम्य हो। अपने में विश्वास—पानी महंसार। क्या वह उद्देश्य हो?’

‘क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दोषता, जो तुम कर सकते हो—अपने लिए नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिए—अर्थात् कोई भी काम, जो तुम्हारा नाश तुमसे बड़ी किसी चीज ने जोड़े?’

‘जब महंसार है, तब मुझे बड़ा क्या! मैं ही तो बड़ी चीज हुआ न—!’

‘टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की भाँकी तुमने पाई है—सभी पाते हैं—’

शेखर ने एक बार फिर आकाश की ओर देखा। आकाश वसा ही धूलभरा था, पर आकाश का रंग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिए तारे कुछ कम धूमिल दोख रहे थे। एक तारे के टिमटिमाने में शेखर को ऐसा भाँ लगा कि वह दोन्तीन रंगों में पमकता है और रंग कुछ पहचाने भी जाते हैं, नीला, लाल, खेत...

उसे याद आया कि रात किसी के यहाँ काटना है, तो अब उस किसी को अपनी व्यासपत्नी को सूचना देनी चाहिए। वह होस्टल की ओर धला, जहाँ कम-से-कम एक लड़का ऐसा था, जिसके यहाँ वह जा सके...



शेखर जब दुबारा शान्ति से मिला, तब रामेश्वर पर नहीं था। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसलिए कि शेखर ने अपने भावी कार्यक्रम की कुछ स्पष्टता बना भी ली थी, वह शान्ति के सामने अधिक सुस्थ रूप में आ सका और बातचीत कर सका। शान्ति के और जेब के अनुभव, भाषा मदनसिंह के संस्मरण, उनके कुछ मूत्र और उनकी मध्य मृत्यु, रामेश्वर और मोहसिन की बात, घटना के रूप में जितनी बातें बताई जा सकती थी, सब उसने संक्षेप में बता दी। शान्ति मुख्य भाव से मुनती रही। पर जब शेखर पूरी बात कह चुका और कुछ यह भाव भी उभर आया कि वह बहुत देर तक लगातार बोलता रहा है, तब शान्ति ने एकाएक ऐसे पूछा, जैसे बहुत देर से यह नहीं प्रश्न पूछना चाह रही थी—‘और तुम?’

‘शेखर ने अचरुचाकर कहा, “क्या?”

‘यह तो सब बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ नहीं। मैं यह भी सुनना चाहती हूँ।’

‘दर्रे, मैं...’ शेखर संकुचा गया। शान्ति से ऐसे उस अन्तरिम जीवन की बात बड़े, जिसमें शान्ति की ही देन इतना बड़ी थी?

“नहीं, मैं जरूर सुनूंगी। आज चाहे न सही, पर छोड़ूंगी थोड़े ही। तुम बनी अपरिचित तो बनो, मैं तो नहीं बनती, न मुझे तुमसे डर लगता है।”

शेखर चौंका, फिर लज्जित होकर सिर झुकाए रह गया।

“अच्छा, कुछ निश्चय किया है क्या करोगे?”

“हाँ।”

शशि प्रतीक्षा में चुप रही, पर शेखर को न बोलते देख उसने पूछा, “क्या?”

शेखर को लगा कि जो वह कहना चाहता है, वह अभी कह सकेगा जब साथ ही उसका उपहास भाँ करता जाए, नहीं तो बात बड़ी बड़बोली लगेगी....हँसते हुए बोला, “कुछ कहूँगा जिसे क्रान्ति कहते हैं। सब चीज उलट-पलटकर रखूँगा, कुछ टूट-फूट जाएगी तो कहूँगा कि पुरानी सड़ी हुई थी।”

शशि जानबूझकर और गंभीर बनती हुई बोली, “हूँ। और?”

“और क्या? बाबा कहते थे, तोड़ना ही धर्म है, बनता तो अपने-आप है। यानी अगर मेरा एक दाँत टूट जाए—टूट क्यों जाए, तुम तोड़ डालो—ताँ डेंटिस्ट अपने आप प्रकट हो जाएगा। यह विज्ञान का नियम है—कि प्रकृति को सूना मसूड़ा अच्छा नहीं लगता।”

शशि ने उसी आरोपित गंभीरता के साथ पूछा, “यह तो हुआ उद्देश्य। इसके लिए करोगे क्या?”

“कहूँगा क्या? हथोड़ा तो पास होगा नहीं, और कंकड़ मारने से दाँत टूटेगा नहीं, इसलिए हर किसी के दाँत में रस्सी बाँधकर एक-एक पत्थर उसके नीचे लटकाऊँगा—कि दाँत अपने-आप खिच आएँ! कश्मीर में मैंने एक बुढ़िया को दाँत से पत्थर लटकाए बैठे देखा था—उसका दाँत दुखता था।”

शशि थोड़ा-थोड़ा भ्रूला रही है, यह देखकर कुछ और हँसकर शेखर ने कहा, “मतलब यह कि मैं लिखूँगा। दाँतों में पत्थर नहीं, अपनी पुस्तकों के थट्टे बाँधकर लटकाऊँगा, आखिर कभी तो इतना बोझ होगा कि—”

अब जाके शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। बोली, “तो तुम साहित्यकार बनोगे? अच्छा।” एकाएक उसकी आँखों में एक दीप्ति जागी। “और तुम्हारा लिखना एक उद्देश्य के लिए होगा—विनाश के लिए और पुनर्निर्माण के लिए।” फिर उसने कुछ शान्त होकर कहा, “लेकिन शेखर, ऐसा लिखा हुआ सब अच्छा नहीं होता, सब साहित्य नहीं होता। वहाँ साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का?”

शेखर ने अनुभव किया कि अपनी बात को उपहास की भाँ में कहने की आवश्यकता नहीं थी। वह एकाएक गम्भीर होकर कहने लगा, “मोह तो मैं किसी का नहीं करूँगा। मोह ही तो वह दाँत है जो उखाड़ना है। पर इसके लिए तो कोई तरीका निकालना ही होगी—मैं जो कुछ लिखता हूँ, बहुत उबलकर लिखता हूँ, पर पीछे मुझे लगता है कि वह अच्छा नहीं है। चर्क कभी यत्र भी लगता है—कि उद्देश्य भी उसमें

नहीं है, क्योंकि वह उबास ही उबास है, घोर उदरय के लिए तो नक्का बनाकर संयम से चलना चाहिए।"

दोनों चुप हो गए। एकाएक सति ने उठकर कहा, "बाप बनानी है मुझे—"

शेखर ने बिदा भी घोर चला भाया।

●

शेखर ने खालमण्डी के पास एक चौमंजिले मकान की सबसे ऊपर की मंजिल में बारह घण्टे भूतोंने भाड़े पर डेढ़ कमरा लिया। बड़ा कमरा मकान के एक कोने पर था, बाधे हिस्से में सोड़ियों के लिए जगह फिर जाने के कारण कमरे का घाकार घोरत न होकर कोण का हो गया था। कोण की बड़ी भुजा पूरब-पश्चिम थी, इसमें शेखर ने बैठक बनाई। दूसरी भुजा उत्तर-दक्षिण थी, इसमें उसने चारपाई रखी। इसके साथ ही एक छोटी-सी कोठरी थी, घोर कोठरी के बाहर सोड़ियों से सटा हुआ छोटा-सा प्रांगण, जिसमें एक घोर पानी का नल था और दूसरी घोर किसी पहले किरणदार के धूँहे की बची हुई लिपाई। पहले दिन तो शेखर को यह सोचकर आनन्द भाया कि एक कमरे से वह दो कमरों का काम निकाल सकता है, दूसरे दिन उसे विस्मय होने लगा कि इस इतनी जगह में जो लोग गिरस्ती घोर बच्चे-कच्चे लेकर रहते होंगे, वे कैसे रहते हगें; तीन दिन बाद उसने सोच लिया कि घर के बारे में ज्यादा सोचना भले लोगों का काम नहीं है। घोर फिर इस 'घर' का क्षेत्रफल उस कोठरी से लगभग दुगुना है, जिसमें बाबा मदनचिह्न ने पठारह साल तक....बल्कि, यहाँ तो पतरा कमरे में रहना प्रापरमक नहीं है, इसकी व्यवस्था नीचे प्रसग है....

नौकर है नहीं, घाना होटल से घा जाएगा (बिल वा प्ररन उठेगा, पर वह बाध का प्ररन है।) घतः काम बहुत न था घोर फुर्तत पर्याप्त।

शेखर अपने बड़े—घर्षात् एकमात्र—कमरे में टहल रहा था। सोच रहा था कि इस कमरे में उसे वह साहित्य उत्पन्न करना है, जो प्रगति की प्रेरणा देगा....एकाएक उसे ध्यान हुआ कि यह पहला घयसर है कि वह अपना घतग मकान लेकर अपने नरोसे प्रकेता लाया हुआ है—कि एक परिवार का या समुदाय का छोटा-सा घंग न होकर बर परिवार वा मुत्तिया है—मुत्तिया ही क्यों, समूचा परिवार, क्योंकि घोर घाने-बोधे कीन है। जिस समाज को उसे बदतना है, उसी की वह एक स्वतन्त्र इकाई है....यह विचार कोई घनापारण विचार नहीं था, पर इसमें शेखर का समूचा घाग्रह घनाब पर नहीं स्वतन्त्र इकाई पर था, इसलिए उसे यह नया भावुम हुआ। स्वतन्त्र होना, इकाई होना, अपने-आपको एक घम्ब, एक टुकड़ा, घस्तित्व का एक घत्यांश न देखकर समूचा घेशना—घाह एक प्रकेता कम, किन्तु सम्पूर्ण, जिसका एक स्पष्ट बास्तविक रूप है, एक छोटे-ने घस्तित्व का पृथक् तेजपुज....घभी उसने कुछ किया नहीं था, पर इस विचार में उसे बर

मिला, सान्त्वना मिली, थोड़ा-सा रस मिला, जिसके सहारे वहाँ अपनी अवस्था का उज्ज्वल पक्ष देखने लगा....

उसे याद आया, कभी कहीं एक लेख उसने पढ़ा था, जिसमें मकान की उपल्ली मंजिल में रहने के लाभ बताए गए थे। क्या-क्या लाभ गिनाए गए थे, वह भूल गया था, पर अपने-आप भी तो सोचा जा सकता है ! स्वच्छ वायु, एकान्त, नगर के कोलाहल से दूरी, जन-समाज के प्रति एक तटस्थता का भाव....वचन में वह सोचा करता था कि जो लोग पहाड़ पर रहते हैं, वे ईश्वर के कुछ निकटतर होते होंगे.....शेखर मन-ही-मन हँसा; फिर सोचने लगा कि इस ऊँचे जीवन-स्तर पर पहुँचकर वह क्या लिखे, जो दातव्य हो.....

साहित्य—वह साहित्य जो क्रांति की प्रेरणा दे....और क्रांति ? एकपक्षीय नहीं सर्वतोमुखी क्रांति ! जो क्रांति एक दिशा में तभी बढ़ती है जब दूसरे मार्ग बन्द कर ले, वह क्रांति नहीं है। हम जो इतनी हलचल के बाद भी आगे नहीं बढ़ पाते, उसका यही कारण है कि हम प्रगति को कृत्रिम प्रणालियों में वहाना चाहते हैं। संयम आवश्यक होता है, पर यह संयम नहीं है। शेखर को केंचुए की जाति का एक छोटा चेंपदार कीड़ा याद आया, जो एक ओर बढ़ने के लिए दूसरी ओर सिकुड़ता जाता है; जब इधर का सिकुड़ना सीमा पर पहुँच जाता है, तब दूसरी ओर प्रसरण होने लगता है। हमारे कई नेता भी तो ऐसे हैं, किसी ने आर्थिक क्षेत्र चुना है, किसी ने सामाजिक, किसी ने राजनीतिक तो किसी ने धार्मिक, पर प्रत्येक ने अपनी हलचल की सतह के नीचे किसी स्तर में अपने अस्तित्व के किसी दूसरे क्षेत्र से अपने को संकुचित कर लिया है....

शायद यह संगठन का अनिवार्य दोष है ? संगठन एक ध्येय लेकर होता है, उसका एक निश्चित कार्यक्रम हो जाता है, फलतः उसको बढ़ाने के लिए लोग दूसरी दिशाओं से हाथ खींच लेते हैं....

पर संगठन के बिना भी क्या होता है ?

होता है। क्रांति का एक संगठित पक्ष है, तो एक महानतर व्यक्ति-पक्ष भी है। बिना संगठन के भी—बिना संगठन के ही—व्यक्ति यकला भी बहुमुखी वृद्धि के बीज बो सकता है....और शायद जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का मार्ग चुनता है, वह तो कर ही यही सकता है, क्योंकि वह पहले व्यक्ति है, पीछे किसी संगठन का सदस्य ! उसका तो विशेष धर्म है बहुमुखी क्रांति के लिए भूमि जोतना और बोना, क्रांतिबीज की सिचाई और निराई करना....

तीसरी बार जब शेखर शशि से मिला, तब उसके चेहरे पर प्रसन्नता का ऐसा भाव था कि उसे देखते ही शशि ने पूछा, "क्या कुछ लिख डाला है ?"

"लिखा तो कुछ नहीं है, पर सोच-सोचकर कुछ समझ में आने लगा है। घर में काम तो कुछ है नहीं, सोच-सोचकर नक्शे बनाता हूँ, अब लिखूंगा।"

रोमेश्वर भी था। बोला, "तो घास सेचक बनना चाहते हैं? कानून घोड़ने का हो निरचय कर लिया?"

"यह तो अपने-आप छूट गया। इस महीने की अनुसूचिति के बाद सब परीक्षा तो दे नहीं सकता, घोर नए सिरे से पढ़ने बैठकर दो साल लगाने का धोरण नहीं है। फिर पढ़कर कोन नौकरी करनी है, जो एम० ए० की डिग्री जरूरी हो।"

"नौकरी ऐसी नुरी तो नहीं है। मेरी तरह की सरकारी नौकरी न करिए, पर प्रोफेसरों तो बड़ी मन्थी चीज है। घादर भी होता है, काम भी कम होता है, पुटियाँ भी मन्थी मिलती हैं। फिर विद्या का साथ रहता है, बादलों पड़ता-लिखता रह सकता है और अच्छे विचारों का प्रचार भी कर सकता है। घासके लिए तो समय मन्था काम है।"

रोमेश ने कहा, "यह तो ठीक है। पर मेरी कुछ मादत हो बिगड़ गई है, कितो के मधीन काम करने का जो नहीं होता।"

"तो शायद दूसरी है। घास मादसंबादी है।" रोमेश नहीं जान पाया कि इसमें कितना घरा बंधन का है। "तो मात्रकल घास क्या करते हैं? बहुत पढ़ते होंगे? हमें तो—शक्ति तो पड़ती है—मनसर पढ़ती हो रहती है। हँसना-खेलना तो इन्हें मन्था नहीं लगता। हम तो कई काम करते-करते थक जाते हैं, तक्रारें जरूरी मालूम होती हैं...."

रोमेश के कुछ लिखने के सब प्रयत्न व्यर्थ गए। न जाने क्यों, जब भी वह लिखने बैठता, तभी उसके सब विचार वहीं उड़ जाते; कभी उसे लगता कि यह लिखने को पैना बना रहा है, तभी उसमें से समस्कार की भावना नष्ट होती जा रही है। पर मधी तो उसने कुछ लिखा ही नहीं, लिखने से कमाने की बात दूर रही, सब पैना कैसा? किन्तु पैना दृष्टिकोण ही बात है, साहित्य जब साम्य नहीं, एक साधन है तब....

हाँ, साधन तो है, पर साधन किस चीज का? क्या उसका ध्येय पटिया है, दूषित है? साहित्य साहित्य के लिए है, स्वान्तःमुखाय है, पर क्या ध्येय की साधना स्वान्तः-मुखाय नहीं है? सत्य एक विशेष प्रभाव नहीं होना चाहिए, सत्य होना चाहिए केवल सौन्दर्य, क्योंकि प्रभाव की राज में सौन्दर्य घोभल हो जाएगा। पर क्यों? सौन्दर्य देकर ही तो इतर वस्तु को उसमें खाने की प्रेरणा मिल सकती है? लोक-कल्याण की भावना से सत्य सौन्दर्य क्या हो भी सकता है? एकाएक उसे शक्ति का दरन याद आया, 'साहित्य का मोह करोमे कि उद्देश्य का?' मोह वह किंगी का नहीं करेगा, क्योंकि जब तक दृष्टि उद्देश्य को बिमत और निष्कम्प एकाग्रता से देखती रहेगी, तब तक एक निष्कम्प सौन्दर्य को ही देखेगी, जब निष्ठा नहीं रहेगी तब यह भी कहाँ कहाँ जा सकेगा कि उद्देश्य स्पष्ट है?

पर विचार से नहीं चलेंगा। रचना चाहिए। यह ठीक सोचना है कि एतज, इतज कौटो तो यही हो सकता है, जो वह लिखेगा। और तिया उससे कुछ शायद नहीं.... क्यों नहीं बढ घाने विचार हा तिया पाता?

दोपहर की घूष उसके कमरे के अधिकांश में भर रही थी, केवल एक कोठरी के पास का कोना उससे बचा था। वहाँ बैठकर, अपने पैर घूष की ओर फैलाकर शेखर बैठ गया और सोचने लगा कि वह क्या लिखे।

घूष अभी उसके पैरों से हटी नहीं थी कि नीचे से एक लड़के ने आकर पूछा, "देखिए, यह चिट्ठी आपकी है?" और एक लिफाफा उसे दे गया।

शेखर ने 'हाँ' कहकर चिट्ठी ले ली, और विस्मृत होकर उसके पते की लिखावट देखने लगा.... मौसी विद्यावती की चिट्ठी थी। उन्होंने लिखा था कि शशि ने उन्हें लिखा है कि वह अलग मकान लेकर रहने लगा है और साहित्य-सेवा करना चाहता है, इसलिए वे शशि की किताबों में से अच्छी-अच्छी छांटकर उसे भेज दें। उन्होंने किताबें एक पेटो में भरकर भेजी हैं, जिसकी विल्टी चिट्ठी के साथ है। और जेल से आने की बहुत बधाई, और सगुन के दस रुपये और थोड़ी-सी मिठाई भी उन्होंने पेटो में रख दी है और आशा की है कि वह रुपए भेजने पर बुरा नहीं मानेगा। बहुत-बहुत आशीर्वाद, और वह कभी छुट्टी पाए तो उन्हें मिलने जरूर जाए.... मौसी विद्यावती।

बहुत देर बाद जब शेखर उठा, तो घूष कभी की लुप्त हो गई थी। सांभ के रंगीन प्रकाश में कमरा कुछ बड़ा-बड़ा लगने लगा था। किन्तु स्निग्ध आनन्द को एक अद्भुत दीप्ति उस पर छा गई थी—क्योंकि उसने एक लम्बी कविता और एक छोटी-सी कहानी लिख डाली थी....

वह चाहता था, उसी समय दौड़ा जाकर शशि को कहे कि देखो, मैंने कुछ लिखा है.... सहसा उसने सोचा, अगर वह बिना बताए मौसी को लिख सकती है, तो मैं भी बिना बताए—कविता और कहानी डाक से उसे भेजूंगा! यही निश्चय करके उसने हस्तलिपि कमरे की सूनी अलमारी में रख दी। तब उसे याद आया कि उसकी अपनी पुस्तकें भी तो थीं, जो होस्टल में रह गई थीं, वे भी वह होस्टल के कमरे के भूतपूर्व साथी से ले आएगा और वहीं रखेगा, अध्ययन भी जारी रखेगा....

●

जब खोजकर के उस साथी का कमरा पाकर और उसमें यह जानकर कि कई एक पुस्तकें तो 'लोग' ले गए और चित्रों के संग्रह चोरी हो गए और इत्यादि, शेखर अपनी बची-खुची पुस्तकों का गट्टर लेकर लौटा—आधी से अधिक पुस्तकें चली जाने पर भी शेषांश काफ़ी था और उसमें भी पाठ्य पुस्तकें उतनी नहीं, जितने दूसरे और अब शेखर के विशेष रुचि के ग्रन्थ थे—तब रोत हो गई थी। शेखर ने उस समय उन्हें वैसे ही रख दिया। प्रातःकाल उसने अलमारी की सफ़ाई करके उसमें कागज बिछाए, और सब पुस्तकें सजाकर रख दीं। फिर वह जाकर शशि की पुस्तकों का पारसल भी ले आया, और उसकी पुस्तकें भी थोड़ी देर में सफ़ाई से रक्खी गईं। अलमारी में पाँच खाने थे—ऊपरवाले चार, जिनके आगे किवाड़ में काँच लगे थे, पुस्तकों से भर गए; निचले में एक

घोर शेखर ने कारियों का डेर रख दिया घोर दूसरी घोर मोझी की भेजी हुई मिटाई।
तब घतमारी के किवाड़ बन्द करके वह कुछ दूर पर होकर अपने परिश्रम का फल
देखने लगा।

उस एक घतमारी भर पुस्तकों की देखकर उसे रोमांच हो आया। कितना सुन्दर
हो गया था उसका कमरा उन पुस्तकों से—जिनमें भाषां उसने एक-एक करके जुटाई
थीं, घोर बाकी शक्ति ने! शेखर जानता था, शक्ति ने भी अधिकतर पुस्तकें प्रतिमान
मिलनेवाले थोड़े-थोड़े रूपों से ही कई बरसों तक खरोदकर जुटाई थी; बैसे ही, जैसे उसने
अपने मासिक खर्च में से कितनी तरह बचाकर (या अपने-आप बच जाने पर) जोड़े
हुए धन थे। उसे लगा कि उस घतमारी के दो खानों में से शक्ति की अनुपम-नयी सौम्य
और वत्सल भाँति उसके कमरे को देख रही हैं; और उस दृष्टि से कमरे का वातावरण
भार्त हो गया है। एकाएक कृतज्ञता से उसका मन उमड़ आया, और उसका हृदय
यह भी चाह उठा कि वह उस कृतज्ञता की शक्ति पर प्रकट भी कर सके.. पर उसी
समय जाने से उसने अपने को रोक लिया। उसने सोचा कि तीसरे पहर ही जाएगा,
जब शक्ति को काम से छुट्टी होगी, और रामेश्वर भी फुर्सत से होगा (उस दिन रामेश्वर
की भाषी छुट्टी थी)। और एक बात महत्व की यह भी थी—तब तक शक्ति वह पत्र
या चुकी होगी, जो उसने रात शक में छोड़ा था, उसकी कहानी और कविता पढ़ चुकी
होगी....

रामेश्वर एक कुर्सी पर बैठा दूसरी पर टाँगें फँलाए, सिगरेट पी रहा था। शक्ति
नीचे घटाई पर बैठी कुछ सिलाई कर रही थी। शेखर के आने पर उसने सिलाई पुटने
पर रोककर चिर उठाकर एक स्थिर और मृदु दृष्टि से उपर देखा, फिर गर्दन जरा सीधी
करके पुनः सिलाई में लग गई। रामेश्वर ने ऊँचे स्वर में कहा, “माइए-माइए, धान
मच्छे माए!” और धुएँ के बादल के बीच में त मुस्करा दिया। “कहिए, क्या सिला जा
रहा है आजकल?”

“कुछ नहीं, आजकल तो कुछ तिसने की मन हो नहीं होता।” शेखर ने बहते-
कहते शक्ति की ओर देखा, कि वह कुछ कहती है या हँसती है कि नहीं, क्योंकि शेखर की
कविता-कहानी तो उसी दिन उसे मिली होगी। पर शक्ति पूर्ववत् सिलाई करती रही।

“तिसने-पानों की यही तो आनन्द है। सिला, सिला; न तिसा, महोनों न तिसा।
फिर जहाँ तिसना रोंटो के लिए जरूरी न हो, वही एक दिन दोल करें तो उतनी
आइए सादकर पर साना पड़े—हमें तो जा करना पड़ता है, दिन-के-दिन करना ही
पड़ता है।”

शक की बार सन्देह के लिए गुंजाइल नहीं थी—रामेश्वर की बात का ध्यान स्पष्ट
था कि निरुत्ते बैठ रहने के लिए सैराक होने का बहाना अच्छा है। शेखर ने उत्तर
नहीं दिया। शक्ति की ओर उन्मुख होकर बोला, “मोझी ने मुझे पेटो भर पुस्तकें
भेजी है।”

“हूँ ।”

“उनकी चिट्ठों भी आई थी, जेल से आने की बधाई और सगुन भेजा है ।”

शशि थोड़ा-सा मुस्कराई । माँ की यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी ।

रामेश्वर ने पूछा, “कैसी किताबें ?”

“शशि की पुस्तकें वहाँ पड़ी थीं, वही ।”

रामेश्वर ने संयत जिज्ञासा के स्वर में पूछा, “तुमने लिखा था भेजने को ?”

“जी ।”

“ओ—अच्छा ।” फिर शेखर की ओर, “तो आप बहुत पढ़ते हैं ? हाँ, और दिन भी कैसे कटता होगा । पुस्तकें भी बढ़िया होंगी—आपकी बहिन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं !”

फिर वही अस्पष्ट कुछ की गलक—क्या इस उक्ति के पीछे कुछ और बात है ? पर बात कही तो बिलकुल सहज भाव से गई है ।

शेखर ने कहा, “मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तकें पड़ी थीं, वह भी ले आया हूँ । अब फिर नियम से पढ़ने का विचार है ।”

“जरूर, जरूर ।”

नीचे किसी ने फिचाड़ खटखटाया । साथ ही आवाज आई—“डाक है सा'व !”

शेखर सीढ़ियों के सबसे निकट था । रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड़ ली । एकाएक वह चौंका । दो पत्र थे, जिनमें एक उसी का भेजा हुआ था !

वह क्षण भर घसमंजस में पड़ गया । फिर उसने दोनों पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, “अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—”

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, “इतनी जल्दी ? अभी बैठिए न, थोड़ा देर में चाय-बाय पीकर—”

“जी नहीं, फिर धाऊँगा—” कहकर शेखर चल ही पड़ा । पीछे उसने सुना, “लो, यह पत्र तुम्हारा है ।”—“मेरा ?”—“हाँ, किसका है ?” वही संयत जिज्ञासा का स्वर, मानो जताना चाहता है कि मैं अधिकार से नहीं पूछता, यों ही पूछता हूँ—“अक्षर तो भग्या के लगते हैं—” शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया । शशि देखेगी कि पत्र में है क्या, तो अचानक में आ जाएगी....

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पलटकर देखनी आरम्भ कीं । जिन दिनों वह मणिका के यहाँ आता जाता था, उन दिनों के लिखे हुए कागजों के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढ़ने लगा । आज उसका जी प्रसन्न था, और वह प्रसन्नता मानो उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारों की एक लड़ी में पिरोती जा रही थी....

प्रसन्न, किन्तु क्रमशः स्पष्टतर होते हुए रूप में वह देख रहा था कि पिछले दो-मढ़ाई वर्षों में उनसे जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी मन गई हैं, जो अपने समाज के बारे में उसके विचारों की आधारभूत हैं, इन्हीं धारणाओं के सहारे वह समाज की वर्तमान रुढ़ि के विरुद्ध एक अभियोग खड़ा करता है और माँग करता है कि समाज को बदला जाए.... वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के कागजों में ही वह प्रबन्ध लिखना पड़ा है जो, गठाना जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर के परिकल्पित नव-निर्माण का 'बाल-बोध'.... पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज'.... क्योंकि केवल समाज कहने से समाज की प्रमूर्त भावना हो सामने आएगी, और 'रुढ़िप्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से स्पष्ट नहीं रहेगा कि हमारा समाज का समाज ही पुस्तक का विषय है....

नहीं, लिखना उसका पैना नहीं है; उसकी साधना है, क्योंकि उसके पास कुछ कहने को है और उत्कण्ठा भी उसमें है—उत्कण्ठा भी और साहस भी....

गोप-सुतः दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफ़ी स्पष्ट हो गया और धारणा में कुछ घंटा अपने धर्मिष्ठ रूप में भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शक्ति को अपनी कृतज्ञता अर्पित किया था ! वह भी उसने नहीं किया, और यह भी नहीं जाना कि कविता और कहानी शक्ति को कैसी लगी ! और प्रसन्न बात तो यह थी कि वह शक्ति को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके पाढ़े-तिरछे कमरे में वह पुस्तकों-भरी (और कविताओं-भरी भी !) भलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—क्योंकि यही तो कृतज्ञता-आपन का ध्येय तरीका है, नहीं तो क्या वह मुँह फाड़कर यह कहेगा कि 'शक्ति, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तकें भिजवाईं', और शक्ति धाँसे धापी मोचकर और भवें ऊँची करके उत्तर देगी, 'पर, यह ना कोई उल्लेख करने की बात है ?' नहीं, वे सब सन्ध्या ढंग उसके बस के नहीं हैं ।

अपनी प्रपूरी पुस्तक को रू-रेखा के पन्ने लेकर शेखर शक्ति के घर रामेश्वर और शक्ति को निमंत्रण देने गया । निश्चय करने के बाद उसे दायमर द्विचक्रिचाहट हुई कि वह रामेश्वर को क्या याद करेगा; फिर उसे याद आया कि मोती के भेजे हुए मृगुन के रूपसे तो अभी भलमारी में पड़े हो हैं, मिटाई समाप्तनाय है तो बरा; वह एक दो-चेद और घोंगोठों और कोयले धादि ले आएगा, जो बाद में भी काम आएँगे—क्योंकि घर तो सरी भी काफ़ी हो चली है....

रामेश्वर घर पर नहीं था । शेखर के हाथ में कागजों का पुलिन्दा देखकर शक्ति ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रू-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो—"

पर शक्ति ने कविता और कहानियों का तो कोई जिक्र ही नहीं किया । क्या वे उसे

“हूँ ।”

“उनकी चिट्ठों भी आई थी, जेल से आने की बघाई और सगुन भेजा है ।”

शशि थोड़ा-सा मुस्कराई । माँ को यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी ।

रामेश्वर ने पूछा, “कैसी किताबें ?”

“शशि की पुस्तकें वहाँ पड़ी थीं, वही ।”

रामेश्वर ने संयत जिज्ञासा के स्वर में पूछा, “तुमने लिखा था भेजने को ?”

“जी ।”

“ओः—अच्छा ।” फिर शेखर की ओर, “तो आप बहुत पढ़ते हैं ? हाँ, और दिन भी कैसे कटता होगा । पुस्तकें भी बढ़िया होंगी—आपकी बहिन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं !”

फिर वही अस्पष्ट कुछ की झलक—क्या इस उक्ति के पीछे कुछ और बात है ? पर बात कही तो विलकुल सहज भाव से गई है ।

शेखर ने कहा, “मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तकें पड़ी थीं, वह भी ले आया हूँ । अब फिर नियम से पढ़ने का विचार है ।”

“जरूर, जरूर ।”

नीचे किसी ने किवाड़ खटखटाया । साथ ही आवाज आई—“डाक है सा'ब !”

शेखर सीढ़ियों के सबसे निकट था । रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड़ ली । एकाएक वह चौंका । दो पत्र थे, जिनमें एक उसी का भेजा हुआ था !

वह क्षण भर असमंजस में पड़ गया । फिर उसने दोनों पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, “अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—”

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, “इतनी जल्दी ? अभी बैठिए न, थोड़ी देर में चाय-बाय पीकर—”

“जी नहीं, फिर आऊंगा—” कहकर शेखर चल ही पड़ा । पीछे उसने सुना, “लो, यह पत्र तुम्हारा है ।”—“मेरा ?”—“हाँ, किसका है ?” वही संयत जिज्ञासा का स्वर, मानो जताना चाहता है कि मैं अधिकार से नहीं पूछता, यों ही पूछता हूँ—“अक्षर तो भड़्या के लगते हैं—” शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया । शशि देखेगी कि पत्र में है क्या, तो अचम्भे में आ जाएगी....

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पलटकर देखनी आरम्भ कीं । जिन दिनों वह मणिका के यहाँ आता जाता था, उन दिनों के लिखे हुए कागजों के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढ़ने लगा । आज उसका जो प्रसन्न था, और वह प्रसन्नता मानो उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारों को एक लड़ी में पिरोती जा रही थी....

घसपट, किन्तु क्रमशः स्पष्टतर होते हुए रूप में वह देख रहा था कि पिछले दो-मढ़ाई वर्षों में उसने जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी मन गई हैं, जो अपने समाज के बारे में उसके विचारों की आधारभूत हैं, इन्हीं धारणाओं के सहारे वह समाज की वर्तमान रुढ़ि के विरुद्ध एक अभियोग खड़ा करता है और माँग करता है कि समाज को बदला जाए.... वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के कागजों में ही वह प्रबन्ध लिखना पड़ा है जो, गठा जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर के परितृप्त नव-निर्माण का 'वाल-वोष'.... पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज'.... क्योंकि केवल समाज कहने से समाज की प्रभूत भावना ही सामने आएगी, और 'रुढ़िप्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से स्पष्ट नहीं रहेगा कि हमारा भाज का समाज ही पुस्तक का विषय है....

नहीं, लिखना उसका पेशा नहीं है; उसकी साधना है, क्योंकि उसके पास कुछ कहने की है और उत्कण्ठा भी उसमें है—उत्कण्ठा भी और साहस भी....

गैर-सः दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफ़ी स्पष्ट हो गया और प्रारम्भ में कुछ प्रश्न अपने अन्तिम रूप में भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शशि को अपनी कृतज्ञता जताने गया था ! वह भी उसने नहीं किया, और यह भी नहीं जाना कि कविता और कहानी शशि को कैसी लगी ! और प्रसन्न बात तो यह भी कि वह शशि को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके भाड़े-ठिठोई कमरे में वह पुस्तकों-भरी (और कापियों-भरी भी !) झलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—क्योंकि यही तो कृतज्ञता-ज्ञापन का श्रेष्ठ तरीका है, नहीं तो क्या वह मुँह फाड़कर यह कहेगा कि 'शशि, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तकें भिजवाई', और शशि भाँखें भाँधी मोचकर और भवें ऊँची करके उत्तर देगी, 'भरे, यह भी कोई उत्तरे करने की बात है ?' नहीं, वे सब सभ्य ढंग उसके बस के नहीं हैं ।

अपनी धपूरी पुस्तक की रूप-रेखा के पन्ने लेकर शेखर शशि के घर रामेश्वर और शशि को निमंत्रण देने गया । निश्चय करने के बाद उसे क्षणभर हिचकिचाहट हुई कि वह रामेश्वर को क्या सातिर करेगा; फिर उसे याद आया कि मोसी के भेजे हुए सगुन के रूप में तो अभी झलमारी में पड़े ही हैं, मिठाई समाप्तप्राय है तो क्या; वह एक दो-सेट और पेंगोठो और कोयले आदि ले आएगा, जो वाद में भी काम आएँगे—क्योंकि धन तो सबों की काफ़ी हो चली है....

रामेश्वर घर पर नहीं था । शेखर के हाथ में कागजों का पुलिन्दा देखकर शशि ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रूप-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो—"

पर शशि ने कविता और कहानियों का तो कोई जिक्र ही नहीं किया । क्या वे उसे

अच्छी नहीं लगीं ? तो उसे यही कहना चाहिए था, चुप क्यों रही ? उसने मान से कहा, “क्यों हूँ, तुम्हें कोई दिलचस्पी भी है ?”

“क्यों ? तुम्हें क्या पता है”

“मेरी कहानी-कविता तो पढ़ी नहीं—”

एकाएक शशि का चेहरा गम्भीर हो गया। उसने शान्त स्वर में पूछा, ‘डाक से क्यों भेजी थी ?’

“तुमने मौसी को लिखा था तो मुझे क्यों नहीं बताया था ? मैंने सोचा, मैं भी तुम्हें सप्रसिद्ध—” एकाएक शेखर को बोध हुआ, शशि का चेहरा गम्भीर नहीं, अप्रतिभ है; और उसका स्वर शान्त नहीं, मुर्झाया हुआ था। उसने हड़बड़ाकर पूछा, “क्यों शशि, क्या बात है ?”

“कुछ नहीं। मुझे क्या सप्रसिद्ध—मुझे तो तुम स्वयं दिखला जाते—”

“नहीं शशि, कुछ बात है—बताओ तुरत !” शेखर ने आशंकित आग्रह से कहा।

“कुछ नहीं। तुम्हारे पीछे उन्होंने पूछा, “चिट्ठी किसकी है ?” मैंने बता दिया, तो अचम्भे में बोले, “अभी तो आए थे, चिट्ठी क्यों ?” मैंने बताया कि कहानी और कविता भेजी है। बोले, “अच्छा, तब तो हम भी पढ़ें—” मैंने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर उनके वे पन्ने उलटने-पुलटने से मैंने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी में नहीं है। फिर उन्होंने कहा, ‘भई, हम कविता-अविता क्या जानें, यह तो कलाकार लोग ही समझें—’ और कागज मुझे लौटा दिए। बहुत देर बाद फिर बोले, ‘तो ऐसे सकपका कर भागने की क्या जरूरत थी ?’ पहले तो मैं समझी ही नहीं कि किस वारे में बात हो रही है; फिर मुझे याद आया। मेरा कुछ उत्तर देने को मन नहीं किया।

शेखर सुन्न बैठ रहा। काफी देर बाद उसने कहा, “मैं समझा हूँ उन्हें ?”

“नहीं, उससे उलटा असर पड़ेगा। जाने दो, जो हो गई बात। अब क्या लिख रहे हो ?”

शेखर ने विषय बदलने के इस प्रकट प्रयत्न को चुपचाप स्वीकार कर लिया। बोला, “पहले लिखी हुई कई चीजों का जोड़-तोड़कर एक निबन्ध बना रहा हूँ—अपने समाज की आलोचना।” पर वह पहले-सा उत्साह उसके स्वर में नहीं था।

“हमारा समाज ! कितना लिख डाला है ? और शीर्षक क्या रखा है ?”

“यही तो—‘हमारा समाज’। जल्दी ही पूरा कर डालूंगा।” इतने में रामेश्वर आ गया।

“कहिए, अबकी कई दिन बाद आए ?”

“हाँ, यों ही, कुछ काम करता रहा।”

“यह क्या लाए हैं, कुछ और लिखा है ? वह कविता और कहानी आपकी सुन्दर थी। शशि के कहने से मैंने भी पढ़ी थी। पर अब तो बिना मिफारिश के पढ़ूँगा—आप तो बड़ा सुन्दर लिखते हैं।”

शेखर ने मन-ही-मन इस व्यक्ति को सराहा, जिसके मुँह से बात अपने-आप ठीक निकलती जाती है, चाहे उसके पीछे अनुमति हो, न हो ! वह स्वयं कुछ भी बोल नहीं सका ।

“साइए, यह तो देखें—”

शेखर का जो हुपा कि इन्कार कर दे । वह घबूरी हस्तलिपि उसे अपने व्यक्तित्व का इतना अपना भग लगती थी कि उसे वह कम से कम रामेश्वर को नहीं देना चाहता था....पर यह सोचकर उसने अपने को सँभाला कि मना करने से रामेश्वर कहीं घोर उलटा धर्म न करे, और अपनी अनिच्छा को बलपूर्वक दबाकर उसने काफी रामेश्वर को दे दी ।

जब रामेश्वर उसके पन्ने मनमनी उँगलियों से इधर-उधर करने लगा, और शेखर को लगने लगा कि वे मनमनी ही नहीं, व्यंग्य से भरी हुईं माँ हैं, तब एकाएक अपने प्रति शक्ति उसके मन में उमड़ आई । वह वहाँ से हट जाने के लिए उठ खड़ा हुआ । रामेश्वर के बैठने का कहने पर उसने कहा, “असल में मुझे सामने बैठकर अपनी चीज पढ़ाते नकोच होता है”—और मन-ही-मन सोचा कि यह पहले दिन की बात की भी अप्रत्यक्ष मजाई है ।

रामेश्वर ने गति की ओर देखते हुए कहा, “बाह, संकोच कैसा ? अभी तो ये धपेंगी न ?” फिर एकाएक “नही तो इसे भी डाक से भेज देते—” और टहका मारकर हँस पड़े । “पर इतनी बड़ी काफी डाक से भेजने पर महसूस भी तो कितना लगता—”

ऐसे में निमन्त्रण वह कैसे दे ? वह किसी तरह उठकर नीचे उतर गया....

चार-पाँच दिन फिर शेखर घर से नहीं निकला ! कुछ लिखने की भी प्रवृत्ति उसको नहीं हुई । वह मनमना-सा खिड़की के भागे बैठा रहता, और कभी-कभी अधिक हो जाती, तो उसे बन्द करके कमरे में टहलने लगता । एक घाघ दिन उसने पढ़ने का प्रयत्न भी किया; पर उसकी मनमनी घाँसे बीच-बीच में एकाएक अनदेखी हो जाती, फिर चौंकर वह सोचता कि जब समय नष्ट हो करना है, तब अपने साथ यह छल क्यों ! कभी-कभी प्रातःकाल विस्तर में लेटे-लेटे हो वह कविता के कुछ-एक पद्य पढ़ लेता, और भासा करता कि उनके प्रभाव से उसका दिन अच्छा बीत जाएगा ।

लगभग एक सप्ताह बाद तीसरे पहर प्राथि वहाँ आ पहुँची । पहले उसने डरते-डरते किवाड़ खटखटाया, किन्तु जब शेखर को देखकर धारवस्तु हो गई कि वह भूल नहीं कर रही है, तब उसने खिलकर कहा, “आखिर मिल ही गया ठिकाना ! नीचे-शालों में कोई तुम्हाप नाम ही नहीं जानता !”

शेखर ने विनोदपूर्वक कहा, “यह क्यों नहीं पूछा कि घर-पुसना भादमी किस कमरे

में रहता है ? सबको मेरे वारे में यही कौतूहल है कि मैं कमरे में पड़ा-पड़ा करता क्या हूँ ।”

“हां, तो, बाहर क्यों नहीं निकलते ?”

शेखर ने एक बार शशि की ओर देख भर दिया ।

शेखर के विस्तर का कोना हटाकर चारपाई पर बैठती हुई शशि बोली, “तुम्हारी पुस्तक में ले आई हूँ । मैंने सारी पढ़ ली है—जितनी तुम दे गए थे—और यही कहने आई हूँ कि इसे जल्दी पूरा कर डालो ।”

“मुझे तो और कुछ लिखा नहीं गया ।”

“क्यों ? इतने दिन क्या किया ?”

“कुछ नहीं । जी नहीं लगता । सोचता हूँ कि यह सब लिख-लिखाकर होगा क्या !”

चिन्तित तीव्रता से, “हूँ ?”

“हां, और क्या । लिख चुकूंगा तो छपेगा नहीं । छप जाएगा तो लोग बेवकूफ बनाएंगे । बेवकूफ बनने में भी सन्तोष हो सकता है—पर किसके लिए ?”

“शेखर, क्या उद्देश्य के लिए कुछ बलेश भोगने में तृप्ति नहीं मिलती ? मैं तो समझती हूँ कि बहुत बड़ी तृप्ति है । नहीं तो मैं—”

“मिलती है । पर—पता नहीं क्या । कभी मुझे लगता है कि उद्देश्य के रूप में एक नाम—क्रांति—काफ़ी नहीं है । आदर्श वह है, पर तृप्ति आदर्श से ही नहीं मिलती शायद; आदर्श के प्रतीक से मिलती है ।”

“सच ?”

“हां, मुझे तो यही लगता है ।”

“तो तुम चाहते हो कि तुम्हारे आदर्श का कुछ प्रतीक हो, जिसके लिए उद्योग करने में तुम्हें तृप्ति मिले ?”

शेखर ने सोचते हुए कहा, “हां ।”

“हां ।” शशि ने उसकी नकल करते हुए कहा, “कह दिया वच्चों की तरह ‘हां’ ।” फिर कुछ रककर, “प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति ?”

शेखर ने मानो अनसुनी कर दी । अब तक वह खिड़की पर कोहनी टेके हुए खड़ा था; अब वह बाहर की ओर देखने लगा ।

शशि उठ खड़ी हुई । जिधर शेखर खड़ा था, उससे दूसरी ओर मुंह फेरकर बोली, “शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ?”

शेखर ने चौंककर कहा, “क्या ?”

“मैंने पूछा है, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? मैंने नहीं सोचा था कि मुंह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी हर्ज कोई नहीं है ।”

शेखर बढ़कर शशि के पास जा खड़ा हुआ । एक क्षण के विकल्प के बाद उसने

कन्धा पकड़कर शनि को अपनी ओर घुमाया, शनि की घाँखें उसकी ठोड़ी पर टिकी रहीं, उमर नहीं उठी। शेखर ने कन्धे में हाथ उठाया, फिर अपने स्थान पर जा खड़ा हुआ और बोला, “नहो, शनि, मैं अनिष्ट हूँ। जो मेरे सम्पर्क में जाता है, उन्निष्ट ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज का महत्व इतना नहीं है कि—”

शनि ने फिर कहा, “मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो ? और तुम, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से न्लेष्ट पाओगे। पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बड़ी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नहीं, उस क्लेश का भी साम्रो हो सकता है।”

“शनि !”

शनि ने घाँखें उठाकर भरपूर दृष्टि से उसको ओर देखा। धक्की बार शेखर ने घाँखें नीची कर ली—व्यथा के उस अभिमान के प्रागे उसकी घ्राँस नहीं टिकी।

शनि ने कहा “अच्छा, इससे प्रागे जो कुछ लिखा है, वह तो मुझे दिखाओ ?”

शनि के स्वर से बातावरण बदल गया। शेखर ने कहा, “लिखा कहाँ है ? कुछ नोट है, वह चाहे तो देख लो।” धनमारों में से कुछ कागज लाकर उसने शनि को दे दिए।

“और ये सब पुलिन्दे क्या हैं ?”

“ये सब यों ही हैं, कालेज के दिनों का लिखा हुआ—”

“वह सब भी मुझे पढ़ना है। अब तो अपना लिखा हुआ एक-एक पुराँ मुझे देना होगा, समझ ?”

शनि शेखर के दिए हुए कागज पढ़ने लगी। शेखर ने पूछा, “इन पुस्तकों से यह कमरा अच्छा-अच्छा नहीं लगता ?”

शनि पढ़ते-पढ़ते मुस्कुरा दी।

“ये सब किताबें तुम्हारी पढ़ी हुई हैं ?”

शनि ने बिना मुँह उठाए ही कहा, “हूँ—उन्हें मुझे यह पढ़ लेने दो।”

शेखर फिर खिड़की पर जा खड़ा हुआ। बाहर देखते-देखते फिर उसके मन में शान्ति के प्रति कृतज्ञता आगने लगी—वह बिना बुलाए उसके मन की इच्छा पूरी करने जो यहाँ बसाई है....

“हाँ तो, इसे कब पूरा करोगे ?” शनि सब कागज पढ़ चुकी थी।

“देखो।”

“देखो नहीं, पूरा करना पड़ेगा !” शनि हँसने लगी। फिर गम्भीर होकर बोली, “तुमने उन्हें कभी यहाँ क्यों नहीं बुलाया ?”

शेखर ने कुछ खिन्न स्वर में कहा, “उस दिन बुलाने ही तो गया था।”

शनि ने कागज धनमारों में रखते हुए कहा, “अच्छा, अब मैं जाती हूँ। धक्की

५
"आओगे, तो उन्हें निमंत्रित करना ही।" एकाएक अलमारी में दस रुपये पड़े देखकर,
"यह कैसे है?"

"सगुन है।"

"ये अभी ऐसे ही पड़े हैं? काम नहीं आए?"

"इनका तो यहाँ पड़े रहना ही काम है।" शेखर हँसने लगा।

"खाते क्या हो?"

"क्यों? होटल से खाना आता है, कोई मजाक है?"

"होटल का खाना!" शशि ने खोए-से स्वर में कहा। फिर प्रकृतिस्य होकर पूछा,

"होटल का नाम भी तो सुनूँ जरा?"

शेखर ने कुछ झकड़कर, आँखें चढ़ाकर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा,
"चित्तपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्र भोजनालया"—नाम से ही पेट भर जाता है!" और
हँसने लगा।

शशि ने कृत्रिम रोप से तयोरियाँ संकुचित करके कहा, "मेरे सामने मत ऐसे हँसा
करो! अच्छा, मैं जाती हूँ।"

वह सीढ़ियाँ उतरने लगी। "चलो नीचे तक पहुँचा आऊँ"—कहकर शेखर भी
नीचे-नीचे उतरने लगा।

●

शशि और रामेश्वर दो-एक बार शेखर के घर हो गए। बैठक के सायवाली कोठरी
की अलमारी में एक चाय का सेट और कुछ और वर्तन, छुरी-चाकू, दो-एक डिब्बे, एक
बोतल मधु, एक पैकट विस्कुट का, एक दियासलाई का—यह सब सामान पहुँच गया।
बदले में दूसरी अलमारी से सगुन के रुपये गायब हो गए। शेखर ने विशेष कुछ लिखा
नहीं; उसकी अलमारी में कागज बढ़े तो केवल कुछ-एक चिट्ठियाँ—दो-एक मौसी की, एक
गौरा की, एक पिता की, जिसमें एक और उसके आवारापन पर रोप या और दूसरी
और उसके जेल हो जाने पर दवा हुआ-सा अभिमान भी; और साथ ही यह सूचना कि
उसकी माता बहुत बीमार है और उसे उनसे मिलने तत्काल आना चाहिए; एक छोटी
माई रविदत्त की, जो उस वर्ष बी० ए० की परीक्षा दे रहा था; एक मद्रास से सदाशिव
की, जिसने लिखा था कि अगले वर्ष वह डाक्टर हो जाएगा और पूछा था कि शेखर
कहाँ है, क्या कर रहा है। शेखर के जेल जाने की बात का उसे पता लग चुका था।

शेखर को उस घर में आए एक महीना हो चला था। एकाएक उसे याद आया कि
अगले मास किराया देना होगा, और होटल का बिल भी चुकाना होगा—और
पास तो कुछ है नहीं! किराया तो कुछ देर बाद भी दिया जा सकता है, क्योंकि
महीने पेशगी देना कोई जरूरी थोड़े ही है; पर होटल का तो महीना पूरा हो चुका
और वहाँ देर करने से रोटी नहीं मिलेगी....

उसे थोड़ी-सी चिन्ता हुई। फिर उसने सोचा, पुस्तक तो लगभग तय्यार है, किसी प्रकाशक से उसका कुछ-न-कुछ मिल हो सकता है। न सही अधिक, तत्काल का थोड़ा ही सही, पर कुल जमा पन्चीस रुपया महीना तो उसका खर्च है, तो एक साल का खर्च तो पुस्तक निकाल ही देगी.... उसे पता नहीं था कि पुस्तक के लिए प्रकाशक कैसे क्या देते हैं, पर एक पुस्तक के तीन सौ रुपये कुछ बहुत अधिक हैं, ऐसा उसे नहीं लगा।

‘हमारा समाज’.... बिकाऊ है—तीन सौ रुपये में हमारा समाज बिकाऊ है—कोई ग्राहक? शेखर मन-ही-मन हँसा—कौड़ी मोल का नहीं है हमारा समाज, उसके तीन सौ रुपए।

शेखर ने शहर के दो-तीन मुख्य प्रकाशकों के यहाँ पूछताछ करने की मोची। चार दिन लगातार बैठकर उसने पुस्तक की प्रतिलिपि तय्यार कर ली, और उसे एक बड़े दमाल में लपेटकर वाणी-निकेतन के मैनेजर से मिलने जा पहुँचा। मैनेजर से अपना अभिप्राय कहकर जब उसने हस्तलिपि उनके धामे रख दी, तब उन्होंने लिपि की बजाय शेखर को ही बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर बाद बोले, “साहब, हमारे यहाँ तो प्रतिष्ठित लेखकों की ही चीज छपती है। आप जानते हैं, हम यहाँ के प्रमुख प्रकाशक हैं, हमें अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखनी है। बिल्कुल नए अनजान लेखक का प्रकाशन हम कैसे जिम्मे ले सकते हैं?”

शेखर ने आग्रह करते हुए कहा, “पर आपको चीज का भी तो परख करनी चाहिए। क्या प्रतिष्ठा ही उसकी कसौटी है? बड़े-बड़े लेखक भी तो पहले अनजान ही थे।”

“जी हाँ। पर तब उनकी पुस्तकें हमारे यहाँ से नहीं छपती थीं। हमने तो उन्हें अभी माना, जब उनकी रचनाओं का महत्व स्वीकार कर लिया गया। तब हमने उनको दूसरे प्रकाशकों से अच्छी टर्म्स देकर भी बुला लिया। जिनकी पुस्तकें रह गई, वे रह गए।”

“पर यह तो दूसरे पक्ष से प्राप्त छीनना हुआ फिर—”

“वैसा ही समझ लीजिए। पर बुद्धिमानों इसी का नाम है कि दूसरों की भूलों से अनुभव प्राप्त करें। हम असफल होने या हो सकनेवाले की चीज घापते ही नहीं।”

सरस्वती-नृज के मैनेजर ने शेखर को अपने साहित्यिक सलाहकार के पास भेज दिया। जब शहर की एक गली में उनके घर का पता लगाकर शेखर वहाँ पहुँचा, तो उन्होंने शीर्षक देखकर पूछा, “क्या उन्न्यास है?”

“जी नहीं। विवेचनात्मक निबन्ध है। मैंने समाज की वर्तमान भयस्या का चित्रण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—”

“तो आपने कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है? पर साहब, पहले तो निबन्ध कोई पढ़ता नहीं। दूसरे ऐसा निबन्ध, जिसमें तर्क हो तर्क हो! आप साहित्यिक निबन्ध क्यों नहीं लिखते?”

“कैसा?”

“सैकड़ों विषय हैं। मसलन्—मसलन् ‘छायावादी काव्य में नारी की कल्पना’, या ‘स्त्री-कवियों का नारी-रूप-वर्णन’ या ‘संस्कृत और हिन्दी काव्य में नायिका-भेद’। यह विषय तो आधुनिक भी रहेगा—आजकल तो तुलनात्मक अध्ययन का जमाना ही है।”

शेखर ने पूछा, “ऐसे निबन्ध कोई पढ़ता है?”

“वैसे तो नहीं पढ़ता, पर ऐसे साहित्यिक निबन्ध पाठ्य-पुस्तकों में रखे जा सकते हैं। तब किताब निकल भी जाती है।”

शेखर क्षणभर चुप रहा। सलाहकार फिर बोले, “आपको शायद मेरी सलाह अच्छी नहीं लगी; मैं तो आप ही के हित के लिए कहता हूँ—”

शेखर ने अनमने भाव से उत्तर दिया, “नहीं, आपकी सलाह के लिए आभारी हूँ। पर मुझे तो दिलचस्पी समाज और सामाजिक समस्याओं में है—”

“अच्छा, तो वैसा विषय चुन लीजिए—‘रहस्यवादी काव्य का प्रियतम पुरुष होता था या स्त्री?’ इधर एक मत चल रहा है कि रहस्यवादी कवियों का प्रेम-निवेदन किसी शरीरी व्यक्ति के प्रति ही होता था—फारसी कविता के बारे में तो यह बात मानी हुई ही है कि उसका साझी या माशूक काल्पनिक नहीं होता था; पर नया मत कहता है कि यह साझी या माशूक न पुरुष होता था न स्त्री, बल्कि नपुंसक होता था। इस अध्ययन में आपको मध्ययुगीन समाज के भी अध्ययन का अच्छा अवसर मिलेगा। मेरी समझ में तो यह बड़े मौके का विषय है।”

शेखर चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद बोला, “तो इस पुस्तक को आप प्रकाशन के लायक नहीं समझते?”

“नहीं, नहीं; यह मैं कब कहता हूँ। प्रकाशन के लायक तो सब कुछ है। पर प्रकाशित होता है वही जो खप सके, नहीं तो जोखिम कौन उठाए? पर मैंने तो सरस्वती-कुंजवालों को सदा यही राय दी है कि नये प्रतिभावान् लेखकों को प्रोत्साहन देना ही चाहिए—चाहे उसमें थोड़ा-सा जोखिम भी हो ही, नहीं तो नया साहित्य बनेगा कैसे? और मेरी बात वे मानते भी हैं।”

शेखर के मन में आशा का संचार हुआ। बोला, “तो आप इसे पढ़ देखेंगे? मैं चाहता हूँ कि ज़रा जल्दी ही—”

“आप मैनेजर से मिलिए। मैं उन्हें यही सलाह दूंगा कि वे आपके खर्च पर पुस्तक छाप दें, और जहाँ तक हो सके जल्दी ही। नए लेखक को मौका मिलना चाहिए—प्रकाशक का यह कर्त्तव्य है।”

शेखर फिर हताश हो गया। उसने धीरे-धीरे बस्ता लपेटा और नमस्कार करके चल पड़ा।

शेखर ने दूसरी कोटि के प्रकाशकों के यहाँ भी चक्कर लगा डाला, फिर उसने एक विक्रेता के यहाँ से प्रकाशकों की पूरी सूची ले ली और जितने बच रहे थे, उन सबको एक सिरे से देखना शुरू किया।

एक सप्ताह हो गया। अन्त में 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' के संचालक ने उसको पुस्तक इस शर्त पर छानना स्वीकार किया कि छपाई और कागज के दाम शेखर के जिम्मे होंगे, पर उसे नकद कुछ नहीं देना पड़ेगा; प्रकाशक पुस्तक छापकर और बेचकर पहले लागत वमूल कर लेगा, उसके बाद जो बिक्री होगी, उसमें चौथा भंश शेखर का होगा। दस दिन भटकने के बाद शेखर में इतना धीरज नहीं रहा था कि बैठकर हिसाब लगाए कि इसमें उसे मिला क्या और कब तक; उसने यही बड़ी कृपा समझी कि प्रकाशक उससे कुछ मांग नहीं रहा है....वह यह भी भूल गया कि वह पुस्तक बेचने इसलिए निकला था कि उसे बिल चुकाना होगा—जिसका तकाजा शुरू भी हो गया था।

उस दिन शेखर बस्ता लेकर नहीं निकला था। उसे आशा ही नहीं थी कि उसकी आवश्यकता पड़ेगी। अतः संचालक से तीसरे दिन जाने का वायदा करके—दो दिन का प्रकाश उसने केवल इसलिए रखा कि प्रकाशक यह न समझे कि वह बहुत उतावला है।—वह घर लौट आया।

आकर वह क्लान्त शरीर और उदास मन लिये बिस्तर पर लेट गया। क्षीण-सा विचार उसके मन में आया कि जाकर शशि को यह सूचना दे भावे, पर उत्साह नहीं हुआ। और अभी खबर भी क्या है? निनिमेष नेत्रों से वह छत की ओर देख रहा था, एक-एक उसे लगा कि छत इतने दिनों से वैसी-की-वैसी है कि देखकर ऊब जाती है। उसने मुँह खिड़की की ओर फेर लिया।

न जाने पुस्तक कब छपेगी, कैसा उसका स्वागत होगा....उससे कुछ आएगा? कब? लागत कितनी होगी? शायद दो सौ रुपये का कागज लगेगा। सौ-बेड़ सौ ऊसर। पुस्तक की कोमत अगर एक रुपया होगी तो....शेखर ने हिसाब लगाना छोड़ दिया। 'हमारा समाज'—भूल्य एक रुपया। और मैं उसमें लागत काटकर चौपाई का हिस्सेदार हूँ।....शेखर के मुँह पर एक रुखी और भ्रान्त हँसी की रेखा दोड़ गई....न जाने कब वह सो गया।

जब वह जागा, तब घोर अन्धकार था। रात आधी जा चुकी थी, और ग्वालमण्डी के चौक पर भी सप्ताह हो रहा था। शेखर का शरीर दिसम्बर के जाड़े से ठिठुर गया था....भूख भी उसे लग रही थी। इस महीने के आरम्भ से ही उसने होटल से एक ही समय भोजन मँगाने का तय कर लिया था। होटलवाले से भी उसने कह दिया था कि शाम को यह स्पर्श बना लिया करेगा....एक दिन वह चावल-दान और घाटा ले भी आया था, और उस दिन शाम को उमने स्वयं सिबडो बनाकर खाई भी थी।

क्या इस समय वह खाना बनाए? इतनी भूख तो उसे नहीं है। नहीं, भूख तो है, पर भूख को इतना महत्व देना ठीक नहीं है। उसने बिस्तर ठीक-ठाक किया और कम्यस धोड़कर सोने का प्रयत्न करने लगा। पर वह इतना ठिठुर चुका था कि घब भी गरीब को गर्मी न भाई। तब वह उठकर शरीर गर्म करने के लिए जल्दी-जल्दी टहलने लगा।

एक-एक करने सब प्रयासों की विफलता का भाव, जिसे उसने रात्रि की बात के बा-

से दवा रखा था, उसके भीतर बड़े वेग से उमड़ आया। अपने प्रयासों की ही नहीं, प्रयासमात्र की विफलता का....जीवन की इस बुदबुदाती दलदल में हाथ-पैर पटकने का लाभ क्या—उसमें घँसना वैसे भी है, वैसे भी है....पुस्तक लिखूंगा—पुस्तक, हूँ ! जैसे आज तक किसी ने पुस्तक लिखी नहीं। जैसे आज तक किसी ने समाज बदलने का उद्योग नहीं किया। जैसे—

शेखर और भी तेज चलने लगा। क्या इस होने और बीत जाने के घातक अनुक्रम से कोई छुटकारा नहीं है ? क्या इससे बाहर नहीं निकला जा सकता ?

उसके मानसिक उद्वेग के गर्त में से बुलबुले की तरह उठकर एक विचार ऊपर आया—उसने अभी तक कोई ऐसी गहरी अनुभूति नहीं जानी है, जिसके प्रति वह अपने पूर्णतया उत्सर्ग कर दे—एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है, जब कि शेखर के मन से यह ज्ञान विलकुल मिट गया हो कि वह शेखर है। क्या इसमें समय का ही दोष है ? उसका दोष कुछ नहीं है ? क्या उसी ने नहीं सुम की तरह अपने को सहेज-सहेजकर रखा, जब कि बात करने को वह सारे संसार को उलट-पलट देने का स्वप्न देखा करता है ! और तो और उसके जीवन में कितनी कन्याएँ आई हैं, उनमें भी किसी से उसका सच्ची घनिष्ठता नहीं हो सकी। उसने स्वयं जीने से इनकार किया है ! उससे तो मणिका को जीवन परिपाटी कहीं अच्छी थी—उसमें थी वह साहसिकता जो जीवन को मिट्टी की तरह फेंक सकती है ! 'मेरे जीवन की मोमवत्ती दोनों ओर से जल रही है ! वह रात भर नहीं जलेगी, पर मेरे वन्धुओं और मेरे शत्रुओं, उसकी दीप्ति कितनी सुन्दर है !' है उसमें भी यह सामर्थ्य कि ऐसी दीप्ति से नभ को आलोकित करे ? मणिका ने मार्ग ठीक नहीं चुना, पर असल चीज तो उसमें थी, जीवन की आग, जिसे देवता मानव से छिपा-छिपा कर रखते हैं....

उसे एक और वाक्य याद आया, जो मणिका की दी हुई एक पुस्तक में उसने पढ़ा था—'संयम क्या है ? तंत्र वासना की अक्षमता !' फिर उसे याद आई एक पठान की कहानी, जो उसने न जाने कहाँ सुनी थी, शायद जेल में; एक पठान को कोई मालवी समझा रहा था कि आदमी को अफ्रीफ (संयमी) होना चाहिए, पर यह शब्द पठान को समझ में नहीं आता था। मालवी समझाने लगा कि संयमी वह होता है, जो नजर नीची रखता है, औरतों के पीछे-पछे नहीं जाता, स्त्रियों को—एकाएक पठान ने टोककर कहा, 'ओ, अम नमज गया—अमारा जोवान में उसको खुसरा बोलता ए !'

शेखर रुक गया। उसे लगा कि उसके विचार जिस धारा में बहे जा रहे हैं, उसमें कोई दोष अवश्य है। जैसा नव विचारों में सच्चाई का कुछ अंश है, किन्तु पूरा सच नहीं है। कदापि नहीं है। क्योंकि, उसकी परिस्थितियों ने उसे जीने की इतनी अधिक सुविधाएँ कब दीं, कौन-से ऐसे बड़े अवसर आए, जो उसने हाथ से चले जाने दिए ? कोई असाधारण बाधाएँ उसके मार्ग में न भी आई हों, तो भी कोई....औरों के जीवन भी बाधा और सुविधा के इसी तरह के घोल होते हैं....

तब क्या इतनी ही बात है कि वह भूखा है ? क्या यहाँ सारा विद्रोह प्रतुल वासना का पटाटोप है ? क्या यह वासना बढ़ती जाएगी और फिर एक बिस्फोट होगा और सब फिस्फु ?

तब तो यह सब—हिस्टोरिया है !

उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति धन्तमुख हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जाएगी अगर किसी गहरे धान्दोलन ने फिर बहिर्मुखी न कर दिया....और यह होना ही चाहिए, क्योंकि बहिर्मुख शक्ति ही क्रान्ति कर सकती है, धन्तमुखी नहीं। धन्त-मुख होकर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाए; जो वह होना चाहता है, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जाएगा....

शेखर बिस्तर पर बैठ गया, उसने कमबल झोड़ लिया। अस्पष्ट रूप से उसने चाहा कि वह निरा लिखना नहीं, कुछ और भी काम करे, जिससे वह लोगों के सम्पर्क में आए, पर क्या और कैसे, वह नहीं सोच पाया। फिर मन ही मन तय करके कि शशि से सलाह लेगा, वह लेट गया।

दिन के प्रकाश के साथ ही तार घाया कि शेखर की माँ का देहान्त हो गया है।

शेखर एक अजीब-सी चिपिलता का अनुभव करता हुआ उठा था। तार पढ़ने के बाद भी जैसे वह दूर नहीं हुई; उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि उसने अभी-अभी क्या पढ़ा है। तार रखकर, बुग और तोलिया लेकर वह नल पर गया और मूँद-हाथ धोकर भीतर आया; आकर उसने धलमारी में से कागज निकाले; उसके बाद ही एका-एक तार के चार शब्दों का आशय बिजली की तरह उसके मन में कौंध गया—माँ मर नहीं है !

उसके मन में एक विचित्र प्रकार की वेदना उठी, जो दुःख से भिन्न थी। दुःख का अनुभव उसे नहीं हुआ, और उसे अपने-आप पर थोड़ी-सी श्लाघि भी इस कारण हुई.... वह चाहता था कि वह एक बार रो दे—सीपे-सादे मातृहोन मानव की तरह सरल भाव से रो दे ! पर उसकी भाँखे मानो और भी सूख रही थीं, एक जलन-सी उनमें हो रही थी।

यह शून्य भाव से कागजों की ओर देखता हुआ बहुत देर तक बैठा रहा। धीरे-धीरे अपने बाल्यकाल की बहुत-सी स्मृतियाँ उसके मन के घागे होठों हुई जाने लगीं—किन्तु उन स्मृतियों में जैसे राग-तत्त्व बितकुल नहीं था, शेखर की रागात्मक वृत्ति जैसे नृन्धित हो गई थी, केवल दृष्टि काम कर रही थी। देर बाद उसने जाना कि ये चित्र घूम-फिरकर फिर एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं—कि शेखर भोजन कर रहा है, और साथ के कमरे से माँ का स्वर कहता है, मुझे तो इसका भी विरवास नहीं है ? किन्तु चित्र के साथ ही उस घटस्थ रोष का कोई अवशेष नहीं था, जो पहले इसके साथ गुँथा हुआ था....क्यों ? क्या उसने माँ को खमा कर दिया था ? उसे बाद नहीं कि कभी यह जानते-बूझते इस परिणाम पर पहुँचा हों। शायद मनजाने में उसने

लिया था कि यों रोष को सहेजकर रखना मूर्खता है, या शायद अभी-अभी उसके मन ने निश्चय कर लिया था कि जो अब नहीं है, उसके प्रति कोई बुरी भावना रखना पाप है। उसने माँ के चेहरे की कल्पना करने का उद्योग किया; प्रायः वह इसमें सफल नहीं होता था, पर आज वह स्पष्ट ही उसे देख सका—वह चेहरा सुन्दर नहीं था, किन्तु आज उस पर वैसी रेखाएँ नहीं थीं, जो शेखर प्रायः देखा करता था; पर जो वह जानता था हर समय नहीं होती—चेहरा शान्त था, और ऐसा कुछ उसमें नहीं था, जिसका मातृत्व के साथ कोई विपर्यय हो....माताओं के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का अपना एक विशेष चेहरा है—या होना चाहिए....

किन्तु शेखर रो क्यों नहीं सकता ?

अपने से यह प्रश्न पूछते ही उसका मन फिर शून्य हो गया। थोड़ी देर बाद एका-एक वह उठा कि और कुछ नहीं तो साधारण दिन-क्रम के काम ही वह करेगा। उसने कमरे की सफाई की; वर्तन धोकर रखे; विस्तर ठोक किया। फिर एक बार उसने अपने कमरे की सूती दीवारों की ओर देखा। किसी दीवार पर कहीं कोई चित्र होता—फोटो टाँगना उसे बहुत बुरा लगता है, पर इस समय अगर माँ का फोटो ही उसके पास होता, तो शायद उसी की दीवार पर टाँगकर वह यत्न करता कि उस चेहरे से नया परिचय प्राप्त करे, जो इतना अपरिचित हो गया था....

अचानक उसे शान्ति की याद आई—उस मुद्रा में, जिसमें वह रोजेटी के चित्र-सौ लगती थी—‘मृत्यु का विराटत्व’....क्या मृत्यु विराट् ही होती है....और अब माँ भी नहीं है—

उसे वह कविता भी याद आई, जो शान्ति ने उससे सुनी थी; पर उसमें इस समय कोई विशेष सार्थकता उसे नहीं दीखी, उससे उसका मन टेनिसन की ही एक दूसरी कविता की ओर गया—‘गोधूली, और साँभ की घंटाघ्वनि और मेरे लिए एक स्पष्ट आह्वान; उस समय विदाई का भवसाद न हो जब मैं लंगर उठा कर खुले समुद्र की ओर चल दूँ’....कहते हैं कि यह टेनिसन की अन्तिम कविता थी, बयासी साल की आयु में लिखी हुई....

अपराह्न में न जाने क्यों शेखर उठकर रावी-तट की ओर चला। उसने श्मशान कभी देखा नहीं था, और उसे ध्यान हुआ कि मृत्यु की यथार्थता शायद एक देह का अन्तिम संस्कार देखे बिना समझ में भी नहीं आ सकती।

श्मशान में दो-तीन चिताएँ जल रही थीं। उन्हें जलते समय हो गया था, चिता के भीतर देह का आकार नहीं पहचाना जाता था और न वहाँ कोई व्यक्ति ही थे। शेखर अकेला ही था अगर कुछ-एक कुत्तों का साथ न गिना जाए....

किन्तु विराट् तत्व ? शेखर को लगा कि यह दृश्य लगभग उपहासास्पद है—कैसा बेहूदा अन्त ! उसका विश्वास था कि आग किसी भी चीज को एक शालीनता और भव्यता प्रदान करती है; पर यहाँ तो वह भी नहीं था, यहाँ के वातावरण से तो उलटे

भाग हो टुच्ची हो गई थी। एक कटु भावना लेकर शेखर ने सोचा कि चायद इस टुच्चे स्थान के साथ अपने बुजुर्गों का नाता जोड़कर लोग उनके विद्योह को प्राधान्य बना सेते होंगे....

पर लौटते समय उसे घाम हो गई। धाकर उसने देखा, सालटेन में तेल नहीं है। ऐसे ही मोके के लिए उसने दो-चार मोमबत्तियाँ ला रखी थी; दो एक-साथ जलाकर उसने घाले में रख दो और चारपाई पर बैठ गया।

एकाएक मोमबत्तियों की लौ बुझ-सी चली, और सब तिड़-तिड़-तिड़ के स्वर के साथ दीप्त हो उठी। शेखर ने देखा, एक तितली से भी बड़ा पतंगा, जो नित्य सालटेन के घासपास घूमकर काटा करता था, मोमबत्तियों की लौ से टकराकर जल गया है।

एकाएक जीवन निरे अस्तित्व के रूप में उसके सामने आया; अस्तित्व, जो निरी एक घटना है.... आज भी सालटेन होती तो पतंगा घूमकर काटता रहता एक तेल न होने को घटना से—'तिड़-तिड़-तिड़'—और निर्वाण।

सबरे के तार का आशय फिर उसके सामने दौड़ गया। मैं अब नहीं हूँ।

शेखर उठकर घाले के नीचे घुटने टेककर मानो प्रार्थना की मुद्रा में बैठ गया; सिर घाले पर टेककर एकाएक रो उठा, पहले निरञ्ज पर पिंजर को हिला देनेवाले रोदन के साथ, फिर धीरे-धीरे भाद्र होकर....

जब उसके पीछे एकाएक शशि का पीड़ित स्वर बोला, "शेखर?" तब अभी उसका रोना बन्द नहीं हुआ था। चौंकर उसने सिर उठाया, शशि ने धीरे से कहा, "तो तुम्हें सूचना मिल गई—" उसने सिर हिला दिया। फिर जंगली से घासू भटक डाले घौरी उठकर खड़ा हो गया। शशि के पास धाकर उसके कन्धों पर हाथ रखे, और कोमल दबाव से उसे नीचे दबाते हुए चारपाई पर बिठा दिया। फिर भी वह हटी नहीं, एक हाथ से बहुत हलके और सान्त्वना भरे स्पर्श से उसका कन्धा सहलाती रही।

शेखर को लगा कि ऐसे तो उसकी रीने की शर्म गल जाएगी और वह फिर रो उठेगा। बोला, "मैं कुछ देर झकेला रहूँगा—"

"तो मैं अभी जाऊँ—"

"नहीं तुम बैठो, मैं अभी आया।" और शशि को बिना कुछ कहने का समय दिये वह बाहर निकल गया।

लगभग एक घण्टे बाद वह लौटा। शशि चारपाई के कोने पर चिन्तित बंठी थी। शेखर के आ जाने पर उसने कहा, "अब मैं लौटूँ—देर हो गई है। मुझे अभी शाम को खबर मिली, अभी तुम्हें देखने चली आई। बीरज से सहना भइया मेरे! कल मैं फिर आऊँगी।"

शशि चली गई तो शेखर कुछ खण सोड़ियों की ओर ही देखता रहा.... फिर उसने देखा कि छोटी कोठरी में भी प्रकाश है। वह देखने गया। एक मोमबत्ती बड़े कमरे से उठाकर उधर से आई गई थी। अचम्भे में शेखर ने देखा, एक डेकी हुई घाल रखी है।

शेखर की अनुपस्थिति में शशि बेसन की परावठे बनाकर साथ में थोड़ा-थोड़ा अचार और मधु रख गई थी—और तो घर में था क्या !

शेखर की इच्छा कुछ खाने की नहीं थी। पर यह थाली देखकर उसे लगा कि निर्णय के बारे में वह स्वतन्त्र नहीं है।

○

शशि एक बार फिर आयी, और दो दिन बाद रामेश्वर के साथ एक बार और। उस दिन से क्रिसमस की छुट्टियाँ शुरू हो रही थीं, और रामेश्वर और शशि बाहर जा रहे थे। रामेश्वर ने अकारण ही कहा, “मैं तो कहता हूँ, आप यहीं रह जाइए, पर ये मानती नहीं। मैंने तो सोचा था कि इनके यहाँ रहने से आपका भी जी बहल जाएगा—दुःख में अकेले रहने से तो और कष्ट होता है।”

शेखर ने कहा, “जो नहीं, कोई बात नहीं, मैं तो अकेले ही रहने का आदी हूँ।”

चलते समय शशि ने कहा, “तुम एक बार घर हो आते तो अच्छा था। पिताजी से मिल आना चाहिए।”

शेखर दुविधा-सी में चुप रह गया।

सप्ताह भर बाद पिता की चिट्ठी आई कि वे स्वयं आ रहे हैं। हरिद्वार जाएँगे, वहाँ से लौटते हुए लाहौर होते जाएँगे। चौथे दिन वह आ भी गए। शेखर उन्हें स्टेशन लियाने गया; पिता के चेहरे पर थकान, उदासी और दुःख की गहरी रेखाएँ देखकर वह स्तब्ध रह गया। इससे पहले उसने कल्पना नहीं की थी कि वह प्रौढ़ गरिमायुक्त चेहरा कभी बूढ़ा भी हो जाएगा, पर इस समय चेहरे पर और आँखों में वह क्लान्ति स्पष्ट थी, काल के दुर्गम पथ पर वत्सर-रूपी कई मील चल आने के बाद धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है।

सीढ़ियों पर एक बार कहकर कि ‘कहाँ जाके मकान लिया है!’ पिता उसके पीछे-पीछे उसके कमरे में आ गए। सामान एक ओर रख-रखाकर तंगिवाले को बिदा कर दिया गया; उसके बाद पिता ने पूछा, “यहीं रहते हो?”

प्रश्न अनावश्यक था, पर उसमें जो असम्पत्ति ध्वनित होती थी, वही प्रकट करने के लिए यह बात कही गई थी। शेखर ने कहा, “जी।”

“नौकर है?”

“जी नहीं।”

“खाना-पीना कैसे होता है?”

“एक वक्त होटल से आ जाता है।”

“और दूसरे वक्त?”

शेखर चुप रहा।

पिता ने कुछ सोचते हुए-से स्वर में कहा, "मरने-मरप हो करते होंगे कुछ दोप-टाप—"

प्रश्न के इस रूप में गुंजाइश थी कि उत्तर दिए बिना काम चल जाए ? शेखर झूठ बोलना भी नहीं चाहता था, और सच बोलना भी नहीं चाहता था ।

"घोर सफाई-उफाई—वर्तन ?"

"जरा-थो लो जगह है, सफाई में क्या देर लगती है ?"

थोड़ी देर के मौन के बाद पिता ने फिर कहा, "ऐसे रहकर तुम्हें गर्म नहीं घाती ?" उनके स्वर में क्रोध उतना नहीं था, जितना माहृत अनिमान ।

शेखर फिर चुप लगा गया ।

पिता कमरे में टहलते लगे । शेखर आवश्यक प्रवन्ध के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा । कोठरी का सामान बाहर रखा, एक पड़ोसी से थोड़ी देर के लिए बालटो माँगकर पानी भरकर कोठरी में रख दिया । पिता का घट्टी-कैल भी वहीं भाले में रख दिया, तोलिया और घोंती खिड़की पर टाँग दी । पिता ने एक बार कहा, 'रहने दो, मैं भाप ही कर लूँगा', पर जब वह अपना काय करता ही रहा, तब धुपचाप उसे देखते रहे ।

पिता जब नहाने जाने लगे, तब शेखर ने कहा, "मैं जरा होटल तक हो भाऊँ—"
"मच्छा । और बाजार से मेरी दवा भी लेते घाना ।"

पिता ने नाम बताकर दस-दस के दो नोट शेखर को दे दिए, तो उसने विस्मय से पूछा, "कितने की घाती है ?"

"जितने की हो । और एक डब्ला बिम्कुट का भी ले घाना—नाम की चाय के साथ कुछ—निरी चाम तो मच्छी नहीं लगनी है ।"

शेखर ने जब दवा ली और उसका कुन एक रुपये कुछ घाने का बिल चुकाया, तब उसे सन्देह हुआ कि बीस रुपये देने का कारण कुछ और था । जब वह लौटा, तो पिता स्नानादि करके पाफेटबुक में कुछ लिख रहे थे । शेखर ने दवा उनके सामने रख दी और जब में से शेष रुपये निकालते लगा ।

पिता ने कहा, "रहने दो अभी—और जो नो कुछ मँगाना होगा—" तब शेखर का सन्देह पक्का हो गया ।

थोड़ी देर बाद घाना आ गया । रोज तो लडका घाना छोड़कर जाता था और फिर किसी समय वर्तन उठा ले जाता था । आज शेखर ने उसे काम के लिए रोक लिया ।

पिता ने एक बार घाली के श्लोक ध्यान को ध्यान से देखा, उसके बाद पाँच-साठ कोर खाए और मनमन-से होकर हाथ सींच लिया ।

ऐसी बात शेखर से कभी होती नहीं थी, बल्कि घोरों के मूँह से मुनकर भी उसे विचित्र लगती थी, पर आज कुछ तो उसके मन में उत्तरदायित्व की भावना थी,

कुछ वह यह भी अनुभव कर रहा था कि पिता का पहले-सा आतंक उस पर नहीं है; उसने साहस करके कहा, "आपने तो कुछ खाया नहीं—"

पिता ने असाधारण स्वर में उत्तर दिया, "अब क्या खाना—मेरा खाना-पीना तो उसी के साथ गया—" और एकाएक उठ खड़े हुए। शेखर चुपका-सा हो गया, उसने भी थाली सरका दी और लड़के को इशारा किया कि हाथ धुला दे....

अगले तीन-एक दिनों में कोई विशेष घटना नहीं हुई, केवल एक बार फिर कुछ चीज लाने के लिए पिता ने शेखर को कहा और फिर दस का एक नोट देने लगे। शेखर ने कहा, "अभी तो मेरे पास है—" तो कहा "तो यह भी उसी में जोड़ लेना—"

किन्तु तीन दिन में पिता की और उसकी बातें कई बार हुईं; बीच-बीच में अचानक कोई प्रसंग आता कि पिता को शेखर की माता की याद आ जाती और वातावरण में एक बोझिल और विपन्न क्लान्ति छा जाती; किन्तु थोड़ी देर बाद फिर सिलसिला आगे चल पड़ता। पिता से शेखर की बातचीत पहले बहुत कम होती थी, होती भी थी तो प्रायः एक ही पक्ष से, पर अब शेखर पिता में भी कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन देख रहा था, और अपने में भी एक बराबरी का भाव पा रहा था, और इसके कारण बातचीत में बात और चीत का अनुपात लगभग बराबर का ही था, यद्यपि उसका प्रवाह अब भी एक-सा नहीं होता था; बात अकस्मात् ही बीचोंबीच में शुरू हो जाती थी और अचानक अचानक ही समाप्त....

"ऐसे कब तक रहोगे?"

"....."

"कुछ करो-घरोगे नहीं? हॉटल की रोटियाँ तोड़-तोड़कर बनेगा क्या? यह कोई ढंग है रहने का?"

"कर तो रहा हूँ। बल्कि इतनी मेहनत तो मैंने पहले कभी नहीं की—"

अविश्वासपूर्वक—"करते होगे; पर बिना उद्देश्य के मेहनत किस काम की? निरी मेहनत से कुछ थोड़े ही होता है? जीवन का एक प्लान चाहिए, जिसके अनुसार मेहनत हो। सबसे पहले रहन-सहन व्यवस्थित होना चाहिए—यह क्या साँसियों की तरह एक गोदली फेंकाकर बैठ गए!"

"उद्देश्य तो मैंने अपने सामने रखा है। वह आपको पसन्द न आए, यह दूसरी बात है; पर मैं मेहनत तो उद्देश्य से ही कर रहा हूँ।"

"क्या उद्देश्य? पढ़ाई तो तुमने छोड़ दी है। आगे क्यों नहीं पढ़ते? कम-से-कम एम० ए० तो कर लो। मेहनत करो तो बड़ी अच्छी तरह पास हो सकते हो—स्कालरशिप भी मिल जाएगी। फिर यहाँ न पढ़ना चाहो, विलायत चले जाना।"

"पढ़ाई में तो अब रुचि नहीं है। एम० ए० करके भी क्या होगा—ग्राज तो एम० ए० पासों की भरमार हो रही है, और सब नालायक भी नहीं हैं। मुझमें ही ऐसी कौन-सी बात है कि—"

“न सही एम० ए०, कोई धीर साइन ले लो। वह बैरिस्टर धीर इंजीनियर बनने की सब बातें ही थीं? ये लोग तो लोक-सेवा भी कर सकते हैं—या फिर एजुकेशनल साइन ले सकते हो अगर सेवा करने की धुन है। कोई बुरी बात पोढ़े हो है सेवा—”

“यब मैं समझ गया हूँ कि उन बातों में दूसरों के भादर्स बोलते थे, मेरे नहीं। धीर जिस काम में जो नहीं हैं, उसमें मेहनत करके मेहनत भी नष्ट हो होगी।”

“तो आखिर तुम्हारा कुछ तो विचार होगा—”

“मैंने तो साहित्य का क्षेत्र चुना है।”

“चुना है! साहित्य से क्या होगा? साहित्य के सहारे जीवन पोढ़े ही चलता है? धीर फिर साहित्य तो दूसरे कामों के साथ-साथ भी हो सकता है। क्या डाक्टर धीर वकील धीर प्रोफेसर लेखक नहीं हो सकते? हिन्दी में तो जिस लेखक का नाम देखता हूँ, साथ में प्रोफेसर लिखा होता है। ये लोग आखिर कुछ पढ़ाते ही होंगे न कहीं। मञ्चा है, सेवा भी है, जीवन में निश्चिन्तता भी है, धीर साहित्य भी है। बात हुई न। धीर—”

“पर सब लेखक ऐसे तो नहीं होते। जो अच्छे-अच्छे साहित्यकार हुए हैं, वे तो—”

“उनकी बात धीर है। हर कोई रोती धीर कीदस पोढ़े ही होता है। धीर कालिदास ने क्या दरबार में अपना ब्यूटी नहीं भुगताई होगी? या फिर कोई मूरदास या तुलसीदास जैसा सन्त हो—वह तो भ्रष्टाचार भादमियों की बात हुई, हर कोई पोढ़े ही उनके मार्ग पर चल सकता है।”

“देखिए, या तो मुझमें कुछ प्रतिभा है, या नहीं है। अगर नहीं है, तो आप यह क्यों समझते हैं कि मैं ही एम० ए० करके दूसरे एम० ए० पास बैकारों से मञ्चा हो जाऊँगा? धीर अगर है तो क्या पता, मैं साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ कर ही सकूँ—”

“हूँ, दलीलें छांटता है!”

बात ठप हो गई।

इसके काफ़ी देर बाद, एकाएक, “लियोंने किसमें, हिन्दी में?”

“जी।”

“हूँ; हिन्दी में क्या रस्ता है? इंग्लिश में लिखकर तो कुछ प्रतिष्ठा भी बनेगी। मञ्ची भ्रष्टादनी न हो, तो कम-से-कम प्रतिष्ठा से ही भ्रष्टादी सन्तोष कर लेता है। हिन्दी से क्या मिलेगा?”

✓ “पर लिखने का कुछ उद्देश्य तो होना चाहिए। निरो प्रतिष्ठा के लिए पोढ़े हो लिखना होता है? इंग्लिश की पुस्तक तो इने गिने ही पढ़ेंगे—हिन्दी तो करोड़ों—” (फिर एकाएक याद करके कि हिन्दी-भाषी करोड़ों हों भी, पाठक तो बहुत कम होंगे।)

“या कम-से-कम साक्षी पढ़ सकते हैं।”

“पर पाठक जिस श्रेणी के? हमारे जीवन में हिन्दी की हैसियत हो क्या?”

शेखर ने कुछ अभिमान के साथ कहा, “हिन्दी जन-भाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोले हैं।” फिर यह सोचकर कि ऐसी दलील पिता को रुच सकती है, जान-बूझकर शरारत की भावना से (यद्यपि ऐसा नहीं था कि इस युक्ति में उसे विश्वास बिलकुल न हो) “और हमारी जाति की परम्परा इसमें बोलती है—हमारा सारा अतीत इसमें बँधा हुआ है!”

“होगा। पर जिससे आदमी का भविष्य न बने, उसके अतीत को लेकर क्या करें, चाटें?”

“मुझे तो भविष्य दीखता ही हिन्दी में है—अगर हिन्दी हम सबसे छूट गई तो भविष्य हुआ न हुआ बराबर है।”

“तुम्हें तो दीखेगा ही—हर बात में मेरा खण्डन जो करना हुआ। तुम्हारी माता तुम्हें बहुत याद करती रहें। पर तुम ऐसे नालायक निकले कि आए ही नहीं। माता-पिता बुरे ही सही, तब भी ऐसे कोई करता है?”

शेखर चुप।

“और वह तो बिचारी अन्त तक तुम्हारी बात सोचती रही। उसने निश्चय किया था कि तुम जेल से लौटोगे तो तुम्हारा ब्याह कर देगी। तुम्हारे लिए बहू भी देख रही थी।”

तीर की तरह शेखर के मन में स्मृति चुभ गई, “अवकी बार वह लौटकर आए तो उसकी शादी कर दो।” बड़ा भाई ईश्वरदत्त जब घर से भागा था, तब उसके लिए माँ ने यह प्रस्ताव किया था....एकाएक उसे लगा कि उसका सारा उद्योग—मानसिक और शारीरिक—जीवन के मानचित्र में ही एक ठीक जगह बैठा दिया गया है, जो सदा से वैसे उद्योगों के लिए निश्चित है—कि अवकी बार वह लौटकर आए तो शादी कर दो! जैसे उसके सब विचार एक परिचित रोग हैं, जिसका स्पष्ट उपचार है—अमुक नम्बर का मिक्शचर! शेखर ने उत्तर देना चाहा ‘सब भाइयों के लिए एक ही नुस्खा होगा?’ पर फिर संयत-भाव से बोला, “मेरा क्यों? मैं तो ब्याह करना नहीं चाहता। और अभी तो बड़े भाई हैं।”

“तुम्हारे चाहने का क्या है? लड़कों के चाहने से थोड़े ही ब्याह होते हैं। यह तो सामाजिक कर्त्तव्य है। लड़का, कन्या, माता-पिता, विरादरी, सभी उसमें होते हैं। हाँ, यह बात ठीक है कि पहले बड़े भाइयों का होना चाहिए। पर ईश्वर की सगाई हो ही गई है, प्रभु की भी हो ही जाएगी। सगाई का तो पहले-पीछे का कुछ होता भी नहीं, जिसके योग्य कन्या मिले, सगाई हो जाती है। और—”

शेखर ने देखा कि यह तो प्रश्न बड़ी आसानी से हल होते चले जा रहे हैं! उसने जोर देकर कहा, “मुझे अभी विवाह करना ही नहीं तो—”

“क्यों? प्रभु तो अभी पढ़ रहा है; इंजीनियर बनते उसे दो साल और लगेंगे। तुमने तो पढ़ाई छोड़ दी है, अब तुम्हें ढंग से रहना चाहिए, आगे का कुछ सोचना

चाहिए। घर-गिरस्वो बनाओ, चार पैसे कमाओ, भ्रतग निश्चिन्त होकर रहो। वह भ्रच्छे पर की होगी तो थोड़े में भी काम चला लेगी, बल्कि भाभी गिरस्वो तो वह के साथ भाती है। और मैंने कुछ जोड़ा तो है नहीं, जो कुछ होता रहा है, तुम लोगों पर खर्च कर दिया है; पर फिर भी जो कुछ बन पड़ेगा, कर हो देगा। मुझे कौन साप ले जाना है—जैसा पीछे दिया, वैसा अब दिया। ब्याह भ्रच्छी तरह हो जाएगा, तो समझ लूंगा कि उसके मन की एक साथ पूरी हो गई। जीवन में तो बिचारी ने सुख देखा नहीं। अब पहले जमाने की बात थोड़े ही है—पहले तो बहुत कितनी-कितनी सेवा किया करती थी—” पिता फिर कुछ भ्रन्वमनस्क-से हो गए।

शेखर ने कहा, “देखिए, मुझे विवाह करने की रत्ती भर इच्छा नहीं है। और मैं उसके योग्य भी नहीं हूँ—कुछ कमाता नहीं हूँ, और ऐसी भ्रिगरी भी नहीं है कि भागे चलकर कुछ कमान की भाशा हो। बल्की मैं तोस-चालीस मिल सजते होंगे, पर वह भी कभी नहीं कहेगा। ऐसी दशा में यह बन्धन पालना पाप भी है और मूर्खता भी। और फिर—” एक क्षण रुककर शेखर फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा, “फिर मैंने अपने जीवन का एक मिशन चुन लिया है, अब जान-बूझकर उसके मार्ग में बाधा क्यों खड़ी करेंगे?”

“क्या मिशन? कैसा मिशन?”

“मुझे कुछ कमाना-जोड़ना नहीं है। लिखना है, तो वह भी पैसा जोड़ने के लिए नहीं। वह साधन होगा एक बड़े उद्देश्य का—मैं अपने समाज की, अपने मास-पास के जीवन के सब प्रंगों की व्यवस्था बदल देने का प्रत ले रहा हूँ—यह तो आप भी मानेंगे कि परिपर्तन आवश्यक है? और नहीं तो इतना तो आप मानेंगे ही कि देश को स्वाधीन होना चाहिए?”

पिता ने कुछ खीन और कुछ पितृत्व के अभिमान के स्वर में कहा, “कितनी बातें नीप गया है!” फिर थोड़ा हँसकर बोले, “हम तुम्हें अपने जीवन की बातें बतलाते हैं—हमने कभी कही नहीं, पर अब छिपाने में क्या रखा है, अब तुम बड़े हो गए।” उनकी भाँसे बहुत दूर चली गई और गहरे स्वर में उन्होंने कहना आरम्भ किया, “जब मैंने पढ़ाई समाप्त की, तब हम तीन-चार लड़कों ने भी ऐसा प्रत लिया था। हमारी पढ़ाई तो गुरुकुल में हुई थी, जब हम वहाँ से निकले तो हमने आपस में सलाह की कि पचीस वर्ष की आयु होने में जितने-जितने वर्ष बाकी हैं—मेरी आयु तब अठारह वर्ष की थी—उतने-उतने हमने से प्रत्येक प्रत का पालन करते हुए बिताया, क्योंकि ब्रह्मचर्य की प्रशस्था पचीस तक की होती है। तब पर जो कपड़े थे, उनके प्रलावा केवल एक लाठी और एक माले में दो-तीन पुस्तकें ही हमारी पूँजी थी। तुम व्यवस्था बदलने की बात कहते हो; हमारे उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे। प्रंगों की निराल बाहर करना और हिन्दू राष्ट्र को संगठित करके विशुद्ध आर्य-संस्कृति की पुनःस्थापना....चार साल तक हम लोगों ने भीरा माँग-माँगकर प्रचार किया। ऐसे-ऐसे बौद्ध स्पर्तों में हम गये कि तुम कल्पना भी नहीं कर सकते; देखो तो तुमने क्या होनी! और—” कुछ रुककर एक कैसी-सी

हँसी हँसकर, “अंग्रेजों के विरुद्ध हमने जितना विष-वमन किया—आज के आतंकवादी क्या करेंगे ! पर अन्त में—” उनकी भँवों और कन्धों ने संकेत से वाक्य पूरा किया कि ‘सब निष्फल’ !

पिता ने शेखर की ओर देखा । उसके चेहरे पर कौतूहल स्पष्ट देखकर फिर कहने लगे, “एक साल तक हम लोग इकट्ठे रहे । फिर अलग-अलग मार्ग पकड़े । अपना कर्त्तव्य हमारे आगे इतना स्पष्ट था कि राह चलते कोई इक्का-दुक्का अंग्रेज मिल जाए तो उसकी बुरी गत बनाते थे ! मैं—” उनके नयने अभिमान से फूल गए—“बहुत तगड़ा था— और चेहरा ऐसा लाल होता था कि बस ! आजकल की तरह थोड़े ही । बाबू साहब नहीं थे हम !”

फिर थोड़ी देर के लिए उनकी दृष्टि अन्तर्मुख हो गई, मानो दूर दबी हुई स्मृति को खोदकर ला रहे हों.... “पर अन्त अच्छा नहीं हुआ । दो साथी किसी आतंककारी दल के साथ पकड़े गए और फाँसी लग गए । तीसरे का कुछ पता नहीं लगा कि वह कैसे मर गया । पता यही लगा कि कुछ ईसाई मिशनरियों ने उससे चिढ़कर उसे विष दिला दिया था । चौथा—चौथा मैं था । चार साल तक यह करते-करते मुझे लगने लगा कि मैं व्यर्थ काम कर रहा हूँ—केवल इसलिए नहीं कि यह टटीहरी का प्रयास है; अधिक इसलिए कि यह घृणा का प्रचार कभी अच्छा फल नहीं ला सकता.... फिर एक दिन एक घटना से मेरी आँखें विलकुल खुल गईं और—” एकाएक विषय बदलकर उन्होंने कहा, “घृणा का प्रचार तो यह है ही । तुम भी क्या करोगे ? जो अच्छा नहीं है, उसके विनाश का ही तो प्रचार करोगे न ?”

“उतना ही नहीं, जो हम चाहते हैं उसका—”

“हाँ, हाँ; पर परिस्थिति की लाचारी है कि विनाश पर ही तुम्हारा आग्रह हो जाएगा । मैंने देखा है कि सब प्रचार अन्ततः घृणा का प्रचार है; क्योंकि घृणा में शक्ति है, प्यार में वह नहीं है । वैसे ही जैसे विष में शक्ति है । लड़ाई लड़ी जाती है, जिहाद होते हैं, तो घृणा के सहारे.... और घृणा सचमुच विष है । वह दूसरे को भी मारती है, अपने को भी नहीं छोड़ती । और जब दूसरों को नहीं मार पाती, तब तो अपने को इतनी जल्दी खा लेती है कि....”

वे एकाएक चुप हो गए । शेखर कुछ प्रतिवाद भी करना चाहता था, और यह भी पूछना चाहता था कि वह घटना क्या थी, पर उसे डर हुआ कि पूछने से कहीं पिता का मूड ही न बदल जाए । क्योंकि आज तक अपने अतीत की बात उन्होंने कभी नहीं कही थी । सचमुच शेखर ने कभी इस कल्पना से साक्षात्कार नहीं किया था कि पिता भी कभी एक ऐसे युवक रहे होंगे ! अतः वह चुप ही खड़ा रहा । थोड़ी देर बाद पिता फिर बोले—“तुम भी पागल हो जाओगे ।” और फिर खो-से गए । फिर जैसे अपने को जगाकर कहने लगे, “तीन चार साल में अपने कामों से आत्मा विलकुल उठ गई । तब मुझे इस बात की बड़ी आवश्यकता जान पड़ने लगी कि किसी से उपदेश लेना चाहिए । पर

ऐसा था ही कौन ! फिर किसी ने मुझे बताया कि टिहरी की तरफ हिमाचल की किसी गुफा में एक महात्मा रहते हैं, उन्हीं से सच्चा उपदेन मिल सकता है। संस्कार तो ऐसे थे ही कि हिमाचल की कन्दराओं में सच्चे साधक घोर जानो रहते हैं; मैं इधर हो को चल पड़ा। कई यहीने भटकने के बाद एक दिन जंगल पार करते-करते एक झुले-से टीले पर बैठ गया। टीले के नीचे ही एक पहाड़ी नाला बहता था; उसकी धारा का ऊपर का भाग तो पथरीली जमीन में घोर करता हुआ बहता था, पर निचला एक चौड़े-से घाले की घास में खो गया था, घोर वहाँ दलदल-सी भी हो रही थी।

साँस लेकर पिता फिर बहने लगे, "थोड़ी देर बाद ऊपर से एक भीमकाय मूर्ति घाती दीखी। काला चमकता हुआ शरीर, सम्भी-लम्बी रुखी जटा घोर सिंह की-सी प्रयाल, बदन पर एक कौपीन। जहाँ से दलदल प्रारम्भ होती थी, वही बैठकर उसने हाथों से बहुत-सा कीचड़ खोदा घोर टीले के उलाव पर जमा करने लगा। जब काफी कीचड़ जमा हो गया, तब वह उसे थाप-थापकर जाने क्या करने लगा। मैं वहाँ से बहुत दूर था, मगः बिना उसे चौंकाए कुछ पास घाने के लिए मैंने दूसरी घोर से टीले का चक्कर लगाया घोर जहाँ वह बैठा था, वहाँ से कुछ ही नोचे एक पेड़ की मोठ खड़े होकर उसे देखने लगा। जो मैंने देखा, उससे मैं चकित रह गया।

"उसने मिट्टी की एक तोप बनाई थी। नोचे झुककर निशाना देखता, फिर हाथ की एक सकड़ी से तोप को घाग देता, घोर फिर मुंह से जोर का शब्द करता—'ठाँय।' फिर एक घट्टहास से जंगल गुंजाकर वही क्रम दुहराने लगता...."

पिता ने रुककर देखा कि शेखर पर इसका क्या असर हुआ है, फिर बोले, "मैं बहुत देर तक मुग्ध भाव से यह देखता रहा। फिर मैंने देखा, उसी स्थान के भास-पास घोर भी कई मिट्टी की तोपें पड़ी हैं, जिनकी मिट्टी मूसरर टूट गिरी है....वाँ घण्टे बाद मैं उठकर चला आया।"

अबकी शेखर ने पूछा ही तो, "फिर?"

"बाद में पूछताछ करने पर मुझे पता लगा कि वह सन् सत्तावन का एक बिद्रोही सिपाही था, जो पीछे जब अंग्रेजों ने अमानुषी ङंग से बदला लेना प्रारम्भ किया, तब भागकर वहाँ आ छिपा था। तब से उसका यही नित्य-क्रम था—चालीस बरस से वह ये मिट्टी की तोपें शाय रहा था।"

बहुत देर तक मौन रहा।

"उस पटना से अपने प्रयासों की विफलता मेरे सामने स्पष्ट हो गई। मैंने महा- (सामों की खोज छोड़ी, घोर लौटकर दूसरे प्राथम में प्रवेश किया। इस बात को पैंतीस साल हो गए। मुझे नहीं लगता कि मैंने भूल की।" फिर सण भर रुककर सोचते हुए— "पूपा का यही अन्त होता है—हो ही यही सकता है। पागलपन।" फिर कुछ इस भाव से कि इसके आगे सब तर्क परास्त हैं, उन्होंने कुछ मुस्कराकर शेखर की घोर देखा।

शेखर के मुँह पर दर्जनों प्रतिवाद एक साथ आ गए। बोला, “यह आप कैसे कह सकते हैं? पहले तो यही सिद्ध नहीं है कि वह घृणा से पागल हुआ—या कि घृणा से ही उसे असफलता मिली। जंगल में रहकर मिट्टी की तोपें दागने का असल कारण तो या आतंक—वह छिपकर तोप दागता था, इसीलिए मिट्टी की तोप थी। वह बेवसी का विद्रोह था—और बेवसी भी आप मोल ली हुई, इसीलिए विद्रोह भी विफल था। न छिपता, लड़ मरता, तो घृणा क्यों असफल मानी जा सकती? और मान ही लीजिए कि वह विद्रोह करने के कारण पागल हुआ, तो आपके पास यह कहने का क्या कारण है कि उसका जीवन कम सिद्ध हुआ? पागल तो सभी होते हैं, उसके पागलपन में एक असाधारण एकाग्रता थी, वस इतना ही तो सिद्ध हुआ न?”

पिता ने झुल्लाकर कहा, “पागल होओगे क्या, तुम तो अभी पागल हो।”

पिता ने कहा, “निश्चिन्तता बड़ी बात होती है।”

शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे।

“तुम अभी इसका महत्व नहीं समझोगे। जीवन में सिक्योरिटी बड़ी चीज है। साहित्य से कुछ टका-पैसा आ भी गया, तो उसका क्या भरोसा? आमदनी की वरकत तब होती है जब नियम से एक-सी आती रहे, चाहे थोड़ी हो। इसीलिए कहता हूँ, घर बसाओ, कुछ कमाओ, चैन से रहो। जीवन का कुछ ढंग हो तो आदमी को पता रहता है कि वह कहाँ खड़ा है।”

शेखर फिर चुप रहा। पिता ने कहा, “बोलते क्यों नहीं?”

“क्या बोलूँ, मेरी तो समझ में नहीं आता।”

“इसमें समझने की क्या बात है? ऐसा कौन है, जो जीवन में सिक्योर होना नहीं चाहता? नहीं तो यह बीमा, प्राविडेण्ट फण्ड, पेंशन आदि का रिवाज ही कैसे होता? आजकल तो कोई नौकरी करता है, तो पहले पूछता है कि पेंशन या प्राविडेण्ट फण्ड है या नहीं। क्यों, मेरी बात ठीक नहीं है?”

“ठीक है। पर मैं तो सिक्योर होना नहीं चाहता। आप घर-गिरस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं; मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो मैं बचना चाहता हूँ। यह चैन की जिन्दगी, यह आरवासन का भाव, यह दिनों-दिन जोखम की अनुपस्थिति—यही तो घुन है, जो जीवन की शक्ति को खा जाता है। मैं इन सबका उलटा चाहता हूँ। चाहता हूँ निरन्तर आशंका और जोखम का वातावरण, ताकि मैं हर समय लड़ने को बाध्य होऊँ; अपने हाथ से तोड़कर नष्ट करूँ और अपने ही हाथ से फिर नए सिरे से बनाऊँ।”

“जाहमखाह वहस करने के लिए वहसते जाओगे। दो दिन सचमुच ऐसे रहना पड़े तो नर्वस ब्रेकडाउन हो जाए! जोखम राह चलते आता है तो भुगत लिया जाता है, कोई माँगता भी है? तुम बहुत विज्ञान बघारते हो, क्या यह सम्यता के विकास की ही गति नहीं है कि मानव निरन्तर निरापद अवस्था की ओर बढ़ता गया है?”

"सम्प्रता ! यह सम्प्रता तो डकोतता है । विस्फोटित, मुब-बान्ने और उजले को सब बातों का प्रसली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा होता जाता है । जो जितना सम्प्र है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी लम्बी है । सम्प्रता तो परावर्तित का नाम बन गया है । परावर्तों में बचपन एक साल का होता है, हम से हम दो साल का । जंगली लोगों में दस-बारह साल का होता होगा । हम लोग इतने लम्बे हो रहे हैं कि अब तीस-तीस साल तक बच्चा, बच्चा ही बना रहता है, अपने पैरों पर खड़ा होता है । कई लोग तो बचपन से निकले बिना ही मर जाते हैं ।"

"क्या मतलब ?"

"मम मैं हो इक्कीस साल का हो चुका । अपनी माता मुझे इस लम्बे लम्बे कि लाहौर जैसे निरापद शहर में अपना मकान लेकर रह सकूँ । मैं तो लम्बे लम्बे कि आपके ऐसा सोचने का मतलब यही है कि आपने बीस साल तक मुझे जो कुछ सिखाया-पढ़ाया है, उस सबको आप रहो कर रहे हैं, क्योंकि उसने मुझे इस लम्बे लम्बे कि मुझे लगता है कि हम जरूरत से ज्यादा सम्प्र हो गए हैं । हमारे लम्बे लम्बे कि क्या हाल होता होगा ! क्या इस तरह व्यक्ति को जबरदस्ती पर निर्भर रहने पड़ता जाता, उसके सच्चे व्यक्तित्व को और मानसिक शक्ति को सुत्ताना पड़ेगा ? सम्प्रता का क्या यही धर्म होना चाहिए कि जीवन को तलवार को धननुर्ता कर दो बार, दफ़्तर उल्टे टक्कर लेने की शक्ति को कुचल दिया जाए ? आप ही बताइए कि अगर मार्स मुझ से ऐसे भाराम चाहनेवाले होते, तो जावा और कम्बोज और चीन तक उनकी संतुष्टि कैसे पहुँचती ? बरिह भार्य होते ही कहाँ—भार्य तो वे तब कहलाए जब कहाँ से वे एक नए देश में भाकर बसे ।"

पिता ने भुँझलाई हुई सराहना के साथ शेखर की ओर देखकर कहा, "ये सब पढ़ी हुई बातें बोल रहे हो, या अपनी साँची हुई ?"

शेखर को एकाएक बाबा मदनसिंह की याद आई । अपनी व्याप में से मूत्र लौजना होता है....शायद उसकी दलीलों पर बाबा के विचारों की छाप है, पर क्या इतना कि शेखर केवल तोते की तरह दुहरा रहा है ? क्या जो कुछ वह कह रहा है, उसका अनुभव उसकी नाड़ियों में नहीं है ?

उसने सिन्न होकर मौन साध लिया....

पिता ने दो-तीन दिन और शेखर के साथ मगज मारा । बीच में एक-दो दिन वे कुछ घूमघाम कर लोगों से मिल भी आए; और दो-एक व्यक्ति वहाँ फाटकर भी आते मिल गए । तीसरे दिन रामेश्वर के साथ शक्ति भी उन्हें मिलने आई—शक्ति ने शेखर को सोटे पे । जब उसके समवेदना के वाक्यों से पिता का हृदय विस्मय का दौरा हुआ के संस्मरण कहने लगे, शेखर दवे-बाँव उठकर बाहर बना गया । उसका अनुपस्थिति में शक्ति धीरे-धीरे सहज भाव से उन्हें वहाँ खान्दना दे सकी, और शेखर में तनिक भी योग्यता नहीं है—पता नहीं और किसी को भी वह मान्यता

दे सकता है या नहीं, पर पिता से ऐसी बात करते तो उसकी जीभ ऐंठ जाती है।

रात को शेखर एकाएक चौंककर जागा। उसने स्वप्न नहीं देखा था, उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्यों ऐसे धवराकर उठ बैठा है। धवराहट और असह्य बेचैनी बड़ी स्पष्ट थी—उसने मुड़कर पिता को और देखा और फिर चौंका—पिता भी उठकर बैठे हुए थे। एकाएक पिता के भरीए हुए कण्ठ से एक विचित्र स्वर निकला, जो न चीख थी, न कराह—और शेखर ने जाना कि इसी स्वर से वह हड़बड़ाकर जागा था.... वह थोड़ा-सा कांप गया; पिता ने शायद जान लिया कि वह उठ बैठा है, तब वह जल्दी से उठकर और जूता घसीटते हुए बाहर आंगन में चले गए।

शेखर ने पिता को कभी रोते नहीं देखा था—और इस बेवस ढंग से रोते.... उसके अन्तर में बहुत गहरे कहीं दर्द होने लगा, और शब्दहीन समवेदना उसमें उमड़ने लगी। वह नहीं जानता था कि पिता इतना दुःख मना सकते हैं; अब तक उसने यह भी नहीं समझा था कि दैनिक व्यवहार की कठोरता और रुखाई का मोल हर कोई कभी कहीं अकेले में चुकाता ही है—कि सन्तान पर कठोर शासन करनेवाले पिता की भी नैसर्गिक मानवी कोमलता आखिर कहीं तो प्रकट होती ही होगी....

बाहर आंगन से उसने हांपे हुए कण्ठ का 'हुँहुँक—हुँहुँक' सुना, और फिर नाक साफ करने की आवाज.... फिर चप्पल के स्वर से अनुमान करके कि पिता भीतर को आ रहे हैं, वह जल्दी से मुँह ढँककर लेट गया, और साँस को नियमित बनाकर हृद्गति की तीव्रता को छिपाने का यत्न करने लगा....

थोड़ी देर बाद पिता आकर चारपाई पर बैठ गए, एक बड़ी लम्बी और टूटी हुई आह उन्होंने भरी; फिर धीरे से लेट गए।

बहुत देर बाद तक शेखर सोचता रहा कि वे अभी सो गए हैं या नहीं और अन्त में स्वयं सो गया।

अगले दिन पिता को लौटना था। प्रातःकाल मुँह-हाथ धोकर और सामान ठीक करके चाय पीते समय उन्होंने लखे स्वर से पूछा, "फिर क्या निश्चय किया तुमने?"

रात की स्मृति अभी तक बनी होने के कारण शेखर नहीं चाहता था कि कोई ऐसी बात उसके मुँह से निकले, जिससे पिता को क्लेश हो। उसने अपना स्वर यथासम्भव विनीत बनाकर कहा, "जी, मैं तो पहले ही बता चुका हूँ। एक पुस्तक तो मैं छपने भी दे रहा हूँ—" इतने दिन तक शेखर वह हस्तलिपि देने नहीं गया था।

"अच्छा? क्या पुस्तक है?"

"हमारा समाज' शीर्षक रखा है। उसमें—"

"तो समाज के पीछे लाठी लेकर पड़े हो। तुम्हारी मर्जी बाबा! अक्स की बात सुनोगे थोड़े ही।" फिर जैसे कुछ ढीले पड़कर, "हम भी कच सुनते थे। जवानी का लहू ही ऐसा होता है। आप पटकी खाए बिना मानता कौन है।"

शेखर ने मन ही मन कहा, 'तो ठीक तो है।' पर प्रकाशय कुछ नहीं बोला।

इतने में शशि मा गई। पिता ने उसको धीरे देखकर पूछा, "तुम क्यों नहीं समझती इसे ? मुना है, तुम्हारी बहुत मानता है।"

शेखर ने पूछा, "किससे मुना है ?"

"किससे तो मुना सही। क्यों, बात ठीक नहीं है ?"

शशि ने कहा, "मेरी बात कब सुनते है—मुझे तो भट डांट देते है।"

"डांटने या क्या मतलब उसका ? तुम क्यों सुनती हो ?"

शशि के झूठे अभियोग पर शेखर को हँसी आने लगी; वह उठकर कुछ साने के बहाने कोठरी में जाता गया और वहाँ से प्रांगण में ; काफी देर तक वहाँ घूमता रहा। फिर उधे विस्मय भी हुआ कि अभी तक उसकी बुलाहट नहीं हुई। शशि न जाने कैसे बिना किसी पिता से बातें कर लेती है—यह भी तो उससे एक स्निग्ध स्वर में बोलता है, जिसमें अधिकार की भावना नहीं होती। उन दोनों में लगातार सहज भाव से बात-लाप हो सकता है, शेखर और पिता के बीच तो बहस ही होती है, या फिर सिखा हुआ मोन।

एकाएक शेखर को याद आया, उसके पास रुपये पड़े हैं, जिनका हिसाब नहीं दिया गया। वह भीतर जाता, इतने में पिता की आवाज आई, "शेखर !"

शेखर ने अपने झुत्तों की जेब में से नाट और रुपये निकालकर पिता की ओर बढ़ाते हुए कहा, "यह लीजिए बाको ; हिसाब भी मैंने एक पर्ची पर लिख दिया है।"

पिता ने किंचित् डाँटकर कहा, "अच्छा-अच्छा, रखो ; बढ़ा आया हिसाब देनेवाला !"

शेखर क्षणभर किर्कत्तम्बविमूढ़ खड़ा रहा। फिर शशि को इतारे से कहता पाकर कि इस प्रसंग को तुरंत बन्द कर दे, उसने रुपये जेब में रख लिए।

पौड़ी देर में लौगा आया, शशि प्रणाम करके लौट गई और शेखर पिता के साथ स्टेशन चला।



'हमारा समाज' की पाण्डुलिपि प्रकाशक को दे देने के बाद शेखर को ऐसा अनुभव होने लगा कि जो उद्देश्य उसने अपने सामने रखा है, उसकी ओर एक लौड़ी वह चढ़ गया है। इससे उसे बहुत सात्वना मिली, और वह कुछ अधिक नियमित होकर काम करने का प्रयास करने लगा। प्रबन्धी वार उसने ससार के विभिन्न समाजों में पुरुष और स्त्री के अधिकारों का तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया। प्रतिपाद्य विषय यह था कि इस समय पुरुष और स्त्री के ध्यान के सम्बन्धों की, और एक-दूसरे के सम्पूर्ण प्रत्येक के अधिकार को, नियमित करनेवाली जो साक्षियाँ हैं, उनमें बहुत कम ऐसा है, जो विवेक की नींव पर खड़ी हुई है, या कि जिनके पोछे प्रकृति ही विनाशकर धर्मशास्त्र का व्यवस्था है, उस धर्मशास्त्र को, जिसकी पूँजी को इकाई खया न होकर जीव है। इतना ही नहीं, इससे प्रागे बढ़कर वह यह भी सिद्ध करना चाहता था कि गुपारकों में भी

प्रचलित तर्क-परम्परा है—कि रूढ़ियाँ किसी जमाने में ठीक थीं, क्योंकि उस समय की परिस्थिति के लिए बुद्धि-संगत थीं, पर अब नई परिस्थिति में असंगत हो गई हैं—वह भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि बहुत से विश्वासों की जड़ नवीन या प्राचीन किसी भी परिस्थिति में अनिवार्य नहीं हैं—अर्थात् अतीत की परिस्थिति के साथ भी उनका अपरिहार्य कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। उनकी जड़ है विशुद्ध अन्धविश्वास या जादू-टोने की तर्कालोचन क्रियाओं में। टोने की प्राचीन रीतियों के ही बहुत से अवशेष हैं, जिन्हें हम अनन्तर बुद्धि-संगत बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। यह प्रयास वैसा ही है, जैसे पुरानी टूटी हुई मिट्टी की लुटिया मिल जाने पर हम उसमें पीतल की नई पेंदी टांकना चाहें—पर ऐसा उप-हासास्पद प्रयास हम नित्य ही करते हैं।

शेखर यह भी कहना चाहता था कि इन सुधारकों के असफल होने का कारण यह भी है। वे ऐसी रूढ़ियों को पुराने जमाने की दृष्टि से ठीक मानकर मानव के अहंकार को पुष्ट करते हैं—वह और भी आग्रहपूर्वक कहने लगता है कि अजी साहब, पुराने सब रिवाज तो ऋषियों ने निर्दिष्ट किए थे—आप खुद मानते हैं कि वे समयानुकूल थे! इससे फिर वह आसानी से एक सीढ़ी और बढ़ता है जब वह देखता है कि बहुत से नए रिवाज भी बुद्धिसंगत नहीं हैं, तब वह कहता है, 'साहब, वे तो ऋषि थे, वे जो निश्चित कर गए, वह उसी जमाने के लिए नहीं, युग-युगान्तर के लिए ठीक था, क्योंकि वे तो त्रिकालदर्शी थे—अगर वह अपने जमाने के लिए बुद्धि-संगत विधान बना सकते थे, तो क्या भविष्य के लिए नहीं बना सकते थे?' वस, इस दृष्टिकोण के आगे सुधारक की एक नहीं चल सकती—यह रूढ़ि का दुर्भेद्य कवच है।

शेखर चाहता था उसकी पुस्तक में निरे सिद्धान्त का प्रतिपादन न हो, जो युक्तियाँ वह उपस्थित करे, उन्हें पुष्ट करने के लिए इतिहास, मनोविज्ञान और जीव-विज्ञान—विशेषकर गानवशास्त्र से प्रमाणों का ऐसा पहाड़ खड़ा कर दे कि उसकी एक-एक युक्ति अकाट्य हो जाए। वह अनुभव कर रहा था कि इसके लिए उसका अध्ययन पर्याप्त नहीं है। कालेज में विज्ञान उसका विषय ही रहा था, और वैसे भी वह इधर-उधर की बहुत पुस्तकें पढ़ता था, और जेल के दस महीनों में भी उसने बहुत कुछ पढ़ा था, जिससे समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में उसकी रुचि भी परिष्कृत हुई थी; पर वह अच्छी तरह जानता था कि मानव का ज्ञान-पुंज जिस तीव्र गति से बढ़ रहा है, उसके साथ-साथ चलना बहुत कठिन है, विशेषकर उस व्यक्ति के लिए, जिसके अध्ययन का किसी बहुज्ञ का निर्देश न मिल सकता हो—वह चाहता था कि नगर के प्रमुख सार्वजनिक पुस्तकालय का गमना वन जाए, ताकि पढ़ने की सामग्री मिल सके; और पिता के दिये हुए रुपये में से होटल का बिल आदि चुकाकर बाराह-एक रुपए उसके पास बाकी भी थे; पर पुस्तकालय का गठ रुपये तो वार्षिक चन्दा था, और जिन विषयों की पुस्तकें वह लेना चाहता था, उनके लिए दोस रुपये का डिपॉजिट भी आवश्यक था....

एक दिन बंटे-बंटे उसे ध्यान हुआ, उसकी कई किताबें सो गईं ? घरपर, पर बहुत-सी बची हुई भी हैं। जो पुस्तकें वह पढ़ चुका है; उन्हें पूँजीपतियों का तरह संजोकर रखने का उसे क्या अधिकार है ? वे उसे बहुत प्यारी हैं, बल्कि उन्हें वह अपने विनाश-पर ध्यात् सामाजिक शरीर का एक अंग मानता है; पर ज्ञान क्यों कम प्याग हो ? और ज्ञान क्यों बिना प्रयास मिले—ज्ञान क्या कोई खुरान की पुड़िया है कि मुक्त चखने को मिल जाए !

शेखर ने झालमारी के पास जाकर पुस्तकें देखना प्रारम्भ किया। दो-एक बार सब देख चुकने के बाद उसने अधिक दामोदासी तीन पुस्तकें निकाली; फिर एक बार सब पुस्तकों को देखकर दो वापस रख दो और एक और निकाली; फिर सबकी वापस रखकर दहलने लगा.... फिर उसने बड़े आकार की दो जिल्दों की एक पुस्तक निकाली—बंत्स लिखित 'इतिहास की रूखरेखा'। जल्दी-जल्दी उसके बहुत-से पन्ने उलट डाले, फिर मन-ही-मन कहा, यह तो जनरल पुस्तक है, और इसे बार-बार देखने की आवश्यकता तो पड़ती नहीं—दो बार पढ़ ही चुका है। और उसे बाहर रख लिया। फिर दो पक्कर काटकर उससे भी बड़े आकार की एक पुस्तक निकाली—पुण्यताई का चित्र-संग्रह.... इसके दो-एक चित्र देखकर वह जैसे पुस्तक को सम्बोधित करके मन-ही-मन कहने लगा, जब और संग्रह नहीं रहे, तब इस एक से क्या होगा ! फिर पुण्यताई कौन दुनिया का सबसे बड़ा चित्रकार है—और चित्र तो आदमी सब रखे जब रखने लायक जगह हो। यहाँ क्या जाने कम रोमक लग जाए—और उसने अपने को याद दिलाया कि उसकी पहली रचना को कीड़े खा गए थे; और दूसरी को गाय खा गई थी पर उसके मन का भाव और का-सा अधिक था, निश्चय उसमें बितनुत नहीं था ..

शेखर ने तीनों पुस्तकों की जिल्दें खोलकर फिर देखी। ये पुस्तकें उसे कालेज में पुरस्कार मिली थी, और जिल्द के अन्दर इस आशय का प्रमाण-पत्र भी चिपका हुआ था। धनगर शेखर उसे देखता रहा, फिर एकाएक उसने दृढ़ हाथों से प्रमाणपत्र कोने से पकड़-पकड़कर उखाड़ डाले, पुस्तकें पुराने घसबार में लपेटों और बाहर खल दिया।

पुस्तकें मुक्त लगभग मड़तातीस रुपये की थी, पर बाजार में उनके मठारह सेंट ग अधिक नहीं लगे। दो-एक जगह पुच्छर शेखर ने बंत्स का इतिहास एक सेकण्डहैंड पुस्तक-विक्रेता के पास साढ़े पन्द्रह रुपये में बेच दिया—यह उसकी कीमत का ठोस भाषा था। दूसरी पुस्तक के चार रुपये से अधिक देने को कोई तय्यार नहीं हुआ, क्योंकि शेखर को पता लगा, मूल्य सबहू होने पर भी नई पुस्तक बाजार में पचास प्रतिशत कमोशन काटकर साढ़े पाठ में मिल रही थी। अतः शेखर उसे लेकर कालेज के एक लड़के के पास गया, जो उसका परिचित भाई था और चित्रकला में रुचि रखता था; शेखर ने वह पुस्तक किसी तरह उसके रुपये मड़कर उससे पाठ रुपये से लिए—यदि शेखर ने स्पष्ट अनुमति किया कि आहूत पर जितना दबाव डाला जा सकता है, उतना ही कम वह नहीं डाल रहा है...

किन्तु सदस्य बनकर जब वह पहले ही खेप में फ्रेजर की 'गोल्डन वो', क्रॉली की 'मिस्टिक रोज़' और पालिनोस्की की....तथा मनुस्मृति का एक सटीक और विशद आलोचना-युक्त संस्करण ले आया, तब उसके मन का अवसाद उतर गया, और इन पुस्तकों को, जिगका उल्लेख बार-बार पढ़कर उसकी उत्कण्ठा तीव्र हो चुकी थी, वह मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में जुट गया। पढ़ना स्वर्गित करके जब वह पुस्तक अलमारी में रखता, तब उसे ऐसा जान पड़ता कि ये भी पराई नहीं हैं, उसकी आत्मीयता के घेरे में आ गई हैं....

एक दिन शेखर ने लिखते-लिखते चौंककर देखा कि कोई उसके द्वार पर खड़ा प्रतीक्षा कर रहा है कि वह मुंह उठाए तो अनुमति लेकर प्रवेश करे। शेखर ने हड़बड़ा-कर कहा, "आइए-आइए—" और इधर-उधर फैले हुए कागज समेटकर चारपाई पर स्थान बनाने लगा।

आगन्तुक ने चेहरे पर बनावटी मुस्कान का जाल फैलाते हुए कहा, "मेरा नाम अश्वीन राय है, और मैं यहाँ की हिन्दू सुधार सभा का मंत्री हूँ।"

शेखर ने कहा, "आज्ञा?"

"मैंने सुना है कि आप समाज-सुधार के कार्य को अपने जीवन का मिशन बनाना चाहते हैं। आप अध्ययनशील भी बहुत हैं, यह तो प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ। असल में साधना ही सुधार की पहली माँग है। मैं—"

शेखर ने विस्मय से पूछा, "आपने यह सब कहाँ सुना?"

"प्रतिभा छिप थोड़े ही सकती है—आप जिनसे लाख छिपाएँ—"

यह नहीं हो सकता—कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। शेखर ने कुछ रुखाई से कहा, "कैसे कृपा हुई?"

"यों ही दर्शन के लिए चला आया। समाज सेवा के काम में इतने कम व्यक्तियों को दिलचस्पी होती है—और आजकल के नौजवान तो आप जानते हैं जैसे हैं—किसी काम के काम में उन्हें रुचि नहीं—सेवा के तो नाम से चिढ़ते हैं—आपसे हमें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं—"

"कहिए, मैं क्या कर सकता हूँ—"

"आप बहुत कुछ कर सकते हैं। आपमें उत्साह है, लगन है, जवानों का बल है। आप कभी हमारी किसी सभा में आकर देखिए, हमारा कार्यक्रम देखकर आप स्वयं जान लेंगे कि आप कितनी मदद कर सकते हैं।"

शेखर ने कुछ रुचि दिखाते हुए कहा, "अवश्य आऊँगा। पर आप कुछ संक्षेप में—"

"हाँ, हाँ। सुधार तो हम बहुत-सी बातों का चाहते हैं, पर यह अनुभव करके कि समाज की वृत्तिवाद परिवार पर खड़ी है, और समाज का सुधार तभी हो सकता है जब पहले परिवार का जीवन सुधारा जाए, हमने उसी को अपना क्षेत्र चुना है।"

"बहुत ठीक—"

"घोर परिवार की बुनियाद विवाह है, इसलिए हम सबसे पहले विवाह को परिपाटी में सुधार चाहते हैं।"

"यह तो बड़े महत्व का काम है। आपका कार्यक्रम क्या है?"

"कोई एक बात हो तो बताऊँ न? ऐसे काम में बहुमुखी उद्योग करना पड़ता है। नवयुवकों और नवयुवतियों और उनके माता-पिताओं सबका सहयोग आवश्यक होता है; फिर पत्र-पत्रिकाएँ बनना महत्व रखती हैं, फिर नेताओं, पंडितों आदि को भी प्रसन्न रखना पड़ता है—"

"क्यों?"

"क्योंकि व्यर्थ का विरोध बढ़ाने से लाभ? धरना काम जितने कम विरोध के साथ सम्पन्न हो सके उतना ही अच्छा, क्यों आपकी क्या राय है?" साता प्रमोदक राय कुछ हँसे।

"ठीक है। अच्छा, मैं प्रवरण आपकी सलाह में धाऊँगा। कब है?"

"माइए हो नहीं, आपकी योजना भी प्रवरण पड़ेगा—"

शेखर ने कुछ भिन्नकृत हुए कहा, "बोलने का तो मुझे बिल्कुल अभ्यास रहा है, मैं तो दानवीन करके हूँ अधिक उपयोगी हो सकता हूँ—"

"वाह! यह भी कोई बात है? समाज-सुधार के काम में समाज से भागने से कैसे चलेगा? और फिर कोई बड़ा जल्सा खोले ही है—इन्ने गिने घादनी होने जिन्हें काम में रुचि है। समझ लीजिए कि वर्कर्स की मीटिंग है—बाकी हमारा सब काम तो बाहर होगा है, मीटिंग में केवल विचार-विनिमय होता है—"

अन्त में तब हुआ कि शेखर मीटिंग में जाएगा और विचारों के आदान-प्रदान में हिस्सा लेने के लिए कुछ करेगा भी। साता प्रमोदक राय बने गए।

यद्यपि शेखर ने इस नियंत्रण की बात शनि को बड़े शान्त भाव से बठाई, और उसकी सहमति भी शान्त भाव से स्वीकार कर ली, तथापि भीतर ही भीतर उसके उत्तेजना बढ़ने लगी—एक ओर नए शक्ति की भावना और काम के लिए मार्ग मिलने का उत्साह, दूसरी ओर पहले-पहल शास्त्रार्थ का संकोच और दर....कानेज में और विरोधकर 'एटिमानम क्लब' में वह काफ़ी उत्साह के साथ अपने मत का पोषण कर लेता था, पर वह जान और जो—वहाँ सब परिचित और साथी थे, और वही स्वयं क्लब के निर्माताओं में वह एक था, यहाँ पर वही एक गैर होगा, नियंत्रण की शक्ति-धारिता में बँधा हुआ, और अनुभव की समाज-सेवियों में एक प्रकृति नोसितिया 'अमेर'फलतः उसने बड़े परिश्रम से तम्बारी धारम्भ की—और अपने बन्धु के लिए 'पाइंट' तिसते-तिसते पूरा एक निबन्ध लिख जाता....उन दिनों वह जो कुछ पढ़ रहा था, उसका और उसके दृष्टान्तों का उसने भरपूर उपयोग किया—शेखर की शक्तों के सुधार की बात करते हुए उसने कुटुम्ब की मृत्युति से धारम्भ करने शुरू

का निरूपण किया—सिद्ध किया कि आरम्भ में उस विकास और जीवन के अर्थशात्र में कोई समन्वय नहीं था और कौटुम्बिक जीवन की प्रागैतिहासिक रूढ़ियों की आर्थिक भित्ति खोजना मूर्खता है; किन्तु क्रमशः रूढ़ियों का विकास जादू-टोने की परिधि से निकलकर आर्थिक नियमों से प्रभावित होने लगा, और फलतः आर्थिक विकास के साथ-साथ उनका भी घोर परिवर्तन होता रहा। मनुस्मृति से उद्धरण देकर उसने प्रमाणित किया कि स्मृतिकाल का परिवार-चिन्तन तात्कालिक आर्थिक परिकल्पनाओं से वैधा हुआ था—इसीलिए स्मृतियों की तर्क-परम्परा ही नहीं, उनके रूपक और दृष्टान्त भी एक विशेष अवस्था की कृषि-मूलक सम्यता के द्योतक हैं। इसीलिए स्त्री के अधिकारों का नियमन करने में बराबर गाय, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, महिषी के दृष्टान्त देकर निर्धारणाएँ की गई हैं—पुरुष को 'उत्पादक' मानकर इन सबको और स्त्री को उत्पादन का उपकरण माना गया है—और कृषि की भाँति ही इन सबकी सन्तान को उत्पादक की सम्पत्ति, इन सबके धन को स्वामी का धन ! पितृत्व का निर्णय करने के लिए भी क्षेत्री और क्षेत्र और फल का रूपक व्यवहृत हुआ। किन्तु यह कहने में स्मृतियों की अवज्ञा नहीं है—जब तक समाज का नियमन सम्यता की तात्कालिक अवस्था के साथ विकसित होता रहा, तब तक समाज ठीक रहा और उसके भीतर सड़ाँघ नहीं उत्पन्न हुई। किन्तु (शेखर ने प्रतिपादन किया) आधुनिक युग में यह सामंजस्य नष्ट हो गया—हमारे जीवन की परिस्थितियाँ अधिक तेजी से बदलने लगीं, पर समाज का विकास रुक गया। इसका एक कारण निस्सन्देह यह था कि विदेशी शासन-सत्ता ने एक नई और कृत्रिम स्मृति खड़ी कर दी—समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसने जोड़-बटोरकर जहाँ-तहाँ के प्रचलनों का एक पुंज खड़ा किया और उसको प्रमाण मान लिया....यह भूलकर कि प्रमाण भी सदा विकासशील रहे हैं और रहते हैं; और जिस परिस्थिति में ये प्रमाण इकट्ठे किए गए थे, वह तो अपेक्षाकृत और भी अधिक स्थायी, अनिश्चित और द्रव थी ! बहते पानी को एकाएक बाँधकर जमा लिया गया—उस जमी हुई बर्फ़ीली पपड़ी के नीचे नया बोज़ फूटता और बढ़ता तो कैसे ? किन्तु यह बाहरी कारण केवल एक कारण था—दूसरा और हमारे लिए अधिक महत्व का कारण अवश्य यह था कि समाज के भीतर ही दुर्बलता और जड़ता थी—उस लचकीलेपन की कमी जो जीवन का अपरिहार्य धर्म है....इन साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाओं के बाद शेखर ने पारिवारिक जीवन के मुख्य-मुख्य अंगों का विवेचन करके आधुनिक सम्य जीवन की परिस्थितियों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक परिवर्तनों का उल्लेख किया था।

ज्यों-ज्यों सभा का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों शेखर की उत्तेजना बढ़ती गई—'हमारा समाज' की समाप्ति के बाद भी वह इतना उतावला नहीं हुआ था जितना इस मोटिंग के लिए हो गया....

एक पथरीले नीले रंग की धूमिल सान्ध—चौतल्ले के एक झरेले कोणाकार कमरे की खुली खिड़कियों में से ठण्डा धीरे बोझीला धीरे तेजाब की तरह धुननेवाला, गौर के कंचुल-सी मरी धीरे बदरंग चिकनाहट लिये शहर के पोथ का घुमा भीतर धँसा पना था रहा है। नीचे धीरे घासपास फैले हुए सदुरय शहर में से प्रेव-सा भाकारहोन धीरे पूर्ण के कफ़न को भेदकर उमर उठ रहा है, पर उसकी नीरव चाप मानो कमरे के पथ-राए हुए सप्राटे को बड़ा रही है। शेखर पूर्ण से ग्रंथो, पर जलन के कारण धीरे भी निर्जल घ्राँसों को यत्नात् खोले हुए घाट के एक कोने में दुबका बैठा है, धीरे धूमिन भाव से अनुभव करता है कि यह बाहर का चित्र उसकी भीतरी अवस्था की ग्रंथों बिबम्बना है....

शेखर को सुधार-सभा की बैठक से लौटे घण्टा भर हुआ है। वह अपने को मना लेना चाहता है कि बैठक की बात को वह बिलकुल भूल चुका है, पर जैसे पदाभात उत्पन्न करनेवाले विष से पैदा होनेवाली तड़िता हो उसके प्रसार की घेतना उत्पन्न करे, वैसे ही शेखर की स्थग्धता उस मोटिंग के अनुभव की भावति का रूप ले रही थी....

सभा में सी से ऊपर व्यक्ति देखकर शेखर ने विस्मय से सोचा था कि क्या सचमुच समाज सुधार के इतने 'बर्कर' शहर में है? उसके मन में घाघा का नया संचार हुआ था, धीरे कार्यवाही के विषय में जो नया कोनूहल आया था, उसमें वह अपने वक्तव्य का मकुलाहट भूल गया था। किसी तरह सभा प्रारम्भ हुई—पहले वक्ता ने अपना विषय घोषित किया 'ब्राह्मण समाज में विवाह की समस्याएँ'—शेखर एकाग्र होकर सुनने लगा, पर क्रमशः एकाग्रता कम होने लगी, धीरे थोड़ी देर बाद उसका मन बिलकुल उचट गया। वह वक्ता की धीरे से मन सर्वथा हटाकर थोतामी में से एक-एक की मुद्रा का अध्ययन करने लगा। अनेक बहुत एकाग्र होकर सुन रहे थे—वक्ति उनकी तन्मयता यहाँ तक पहुँची थी कि वे हाथ या तिर हिलाकर, होठ धीरे भावों की भंगिमा बदल-बदलकर न केवल अनुमोदन कर रहे थे, बल्कि वक्ता के प्रमूर्त विचारों को मानो मूर्त क्रियाओं में अनुवादित भी करते जा रहे थे। शेखर सहसा अपनी घ्राँसों पर विरवास नही कर सका—यद्यपि वह किसी तरह भी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पा रहा था, बल्कि वक्ता पर कुछ भी रहा था। धुपला-सा ज्ञान उसे रहा कि वक्ता ने प्रस्ताव का रूप ले लिया है—कि प्रस्ताव का भासय यह है कि ब्राह्मणों में वर इतने दुर्लभ हो रहे हैं कि कुमारियों के विवाह की भीषण समस्या उपस्थित हो गई है, अतः उनकी सहायता के लिए धीरे उन मात्रा-पितामों के विस्तार के लिए सुधार-सभा एक समेटो बना दे, जो ब्राह्मण-कुमार-विवाह-प्रवन्धक-समिति कहलाए, धीरे जिसका सबसे पहला काम हो प्रान्त भर के विवाह-योग्य ब्राह्मण कुमारों की एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची तय्यार करके प्रकाशित करना, जिसने किसी जरूरतमन्द पिता को अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर का पता मिल जाए धीरे साथ ही अन्य शतव्य सूचनाएँ भी—घासु, घाय, कुल, धोल, पिता की धान, पद, रंग-रूप, रति ध्यसन, कंसी कन्या पसन्द है, नविष्य के लिए प्ला। इत्यादि.. इस प्रकार की तार्

सुविधा हो जाएगी, कितनी दौड़-धूप, कितना कष्ट और व्यय बच जाएगा !
पेश भी हो गया, मत लिये बिना सर्वसम्मति से पास भी हो गया... शेखर ने
की एक लम्बी साँस ली और अगले वक्ता की प्रतीक्षा करने लगा, जिसका
देने के लिए लाला अमोलक राय खड़े हुए थे। एकाएक चौंककर उसने जाना
तने सब प्रशंसात्मक विशेषणों के साथ जिसे बखाना जा रहा है, वह शेखर ही है !
ता मन और भी डूब गया; पर किसी तरह साहस बटोरकर (उस समय उसके
साहस बटोरना सीटिंग के अनुभवों की छाप को विखेरने का ही पर्याय था !)
आगे आया और पहले से तय्यार की हुई योजना के अनुसार अपनी बात कहने लगा।
रम्भ करते ही अगली कतार में दो-एक व्यक्तियों की कानाफूसी और उसके बाद एक
द्वारा अमोलक राय से कहा हुआ वाक्य, 'लड़का तो अच्छा मालूम होता है, लालाजी,
वधाई—' सुनकर उसे कुछ ढाढ़स भी हुआ और कुछ उलझन भी, पर जिस वीर भाव
से नया साधक सब प्रलोभनों को दुत्कार कर मन बाँधता है, कुछ उसी भाव से शेखर
अपने प्रतिपाद्य से चिपटा रहा....

किन्तु तपोबल से अपनाया हुआ अन्धायन भी दूर होता ही है—उर्वशी और तिलो-
त्तमा को देखकर नहीं, ऊँच से फैले हुए जमुहाए मुख-विवरों को और तिरस्कार से कुंचित
भनों को देखकर ! एक क्षण ऐसा आया कि शेखर समूची सभा की उपेक्षा की और
अनदेखी नहीं कर सका—अपनी बात की गति दूनी तेज करके भी नहीं.... तब जैसे उसका
मन एक साथ ही दो-तीन स्तरों पर काम करने लगा, और उसकी स्मृति भी मानो
पूर्वापर का ज्ञान छोड़कर कई एक वाजों या घटनाओं को साथ मिलाने लगी... सभा के
बाद अंधेरे होते हुए कमरे में बैठा हुआ प्रत्यत्रलोकी शेखर किसी तरह भी इस उलझन
के तार अलग न कर सका—क्या पहले हुआ, क्या बाद में, वह नहीं निश्चय कर पाया;
एक साथ ही वह सुनने लगा कि शेखर मनुस्मृति के उद्धरण दे रहा है, कोई कह रहा
है (या कह रहे हैं ?) 'लड़का राजी है, लड़की का वाप राजी है, तो बाबा हमें क्या ?
शादी करो, छुट्टी करो, हमारी क्यों मिट्टी-पलीद करते हो ? पण्डितजी आप तो आप,
यहाँ तो मनु की मिट्टी-पलीद है ! विलायती पढ़ाई जो न करे सो छोड़ा ! आखिर ईसाई
लोग पढ़ाएँ तो हिन्दू-धर्म का आदर रहेगा कैसे—वे हिन्दू धर्म का प्रचार करने योढ़े ही
आए हैं ? लालाजी ने यह नहीं सोचा होगा ! खत्री लड़की ब्राह्मण लड़के से शादी करेगी—
ब्राह्मण लड़का मनु की नाक काटेगा ! चाल तो लालाजी की खूब थी, पर आखि-
राय का नाम सुनता है; या कि अमोलक राय का प्रमाण देता है और मालिनोवस्की
लड़की की बात सुनता है; या कि दोनों या कि कोई नहीं—वह कुछ समझ नहीं पा-
योड़ा-सा जानता है कि उस सभा में कहीं वह खो गया है, पर असल में मंच पर
होकर बोल रहा है या कि मंच खो गया है और वह सभा में है, या कि सभा खो
और मंच—तब एकाएक जलता हुआ एक वाण शेखर की चेतना की ढाल को वेध

हैं और वह सब समझ जाता है—प्रमोदक राय की कन्या विवाह योग्य है, और वे खत्री हैं, पर ब्राह्मण जमाई पाकर प्रसन्न हो होंगे; और समाज-मुधारक समुह को समाज-मुधारक दामाद मिन जाए तो और क्या चाहिए—सम्बन्ध का सम्बन्ध, मुधार का मुधार !—और यह सझा है इस सब जाननेवाली मरी सभा के आगे घोषित करने को कि देखो, मैं शेखर उत्तलू बनाया जा रहा है और इसके लिए मनु प्रमाण है, मातिनोवस्की प्रमाण है....

धुमी प्रच्छा है, तेजाब की चुभन पच्छी है, केंचुल की मरी बदरंग ठण्डी चिकनाहट पच्छी है, सबकी पुच घाने दो इस चौतल्ले की कन्न में—समाज-मुधारक शेखर !

उस क्षणित प्रयत्ना में लोंदे-सा शेखर सब कुछ के लिए तय्यार था; तय्यार नहीं था वो उगी बात के लिए जो हुई—किसी ने दरवाजा खटखटाया और बिना उत्तर की प्रतीक्षा के भीतर चला आया—हड़बड़ाकर उठते हुए शेखर ने देखा कि एक अपरिचित व्यक्ति के साथ सामने खड़े हैं—लाला भमोलक राय !

नैसर्गिक विनय ने कहा कि बत्ती जला ले, पर विनय शेखर को अपने साथ प्रन्याय लगा । उसने कहा, "कहिए ?"

लाला भमोलक राय ने कुछ आहत स्वर में उत्तर दिया, "आप तो बहुत नाराज जान पड़ते हैं ?"

"मेरी क्या नाराजी—"

"आप पक गए मालूम होते हैं—लाइए, मैं बत्ती-बत्ती जला दूँ—"

शेखर ने जल्दी से बत्ती जलाकर एक ओर रख दी और बोला, "बैठिए !"

लाला बोले, "मे स्वामी हरिहरानन्द है । हम लोग आपसे मीटिंग के बारे में बात करने आए हैं—"

शेखर ने देखा कि नवागन्तुक गेरघाघारी है, और मुंडी हुई चिकनी खोपड़ी के कारण उनके तैलाक्त बाल फूले हुए मालूम होते हैं । प्रभूरा-सा प्रणाम करते हुए उसने पूछा, "मीटिंग की क्या बात ? मीटिंग तो हो चुकी—"

स्वामीजी बोले, "कर्म अपने-आप में पूरा नहीं होता, उसका फल भी होता है । मीटिंग से जो सिलसिला चला था वह...." इसके बाद वे ऐसे रुक गए, जैसे ज्ञान के इस पारे को पगुराना आवश्यक हो ।

लाला ने कहा, "आपकी स्मृति से तो मीटिंग में तहलका मच गया । मैं तो आपको बंदी घाना से ले गया था—"

शेखर ने भमककर कहा, "आज्ञा ? मुझे आपने प्रच्छा बेवकूफ बनाया । यही बात थी तो—"

"क्या बात—कौसी बात—मैं तो बिलकुल शुभेच्छा से आपको ले गया था, लोग तो वकते हैं—"

स्वामीजी ने समर्पण किया, "हाँ, बेटा, लोगों की वो भावत होती है, ईर्ष्या से जन्मे है ।"

शेखर ने ख्वाई से कहा, "अच्छा जाने दीजिए। अब तो खत्म हुई बात—"
"मीटिंग की बात छोड़िए, अब आपसे हमारा परिचय हो गया है तो उसे पुष्ट
रना चाहिए—"

"यह आपकी कृपा है। मैं तो जंगली आदमी हूँ, अकेला रहने का आदी हूँ—मुझे
परिचय से क्या लाभ—"

"समाज में रहना तो हर आदमी का कर्तव्य है; बल्कि समाज के बिना कोई जी
ही कैसे सकता है—"

"भुके तो समाज के बीच में जीना ही कठिन मालूम होता है—उतना ही कठिन
जितना डिब्बे के 'वैकुण्ठ' में ! अकेले रहना तो बहुत आसान है—रहे, सो रहते चले
नए !"

"माना कि आप असाधारण व्यक्ति हैं। पर असाधारण आदमी भी—"
स्वामीजी ने बात काटकर कहा, "क्यों असाधारण ? हर बात में असाधारण की
दुहाई देने से नहीं चलता। मैं कहता हूँ, सब आदमी साधारण हैं, और होने चाहिए।"

शेखर ने कहा, "मैंने तो असाधारण होने का कभी दावा नहीं किया ; मैं साधारण
हूँ और साधारण ही बना रहना चाहता हूँ—आप ही मुझ पर असाधारणता का जामा
नादकर मेरी जान मुसीबत में डाल रहे हैं—"

स्वामीजी ने दुहराया, "सब कोई साधारण हैं। और कोई खास बात किसी में हो
भी तो क्या ? उसके सहारे जिया नहीं जा सकता। आपकी नाक लम्बी है तो क्या आप
पाखाने नहीं जाते ? नाक कट भी जाए तो भी आदमी जी सकता है ; पाखाने जाए
बिना नहीं जी सकता। इसीलिए सब कोई साधारण हैं।"

शेखर को इस आदमी से, उसके तर्क से, और उसके बात को दुहराने के ढंग से
विराग हुआ। उसने बहस से बचने के लिए कहा, "आप ठीक कहते हैं।"
"इसीलिए कहता हूँ, समाज जरूरी है। आप समाज में जाइए, नाक फिर भी
लम्बी रहेगी। (शेखर ने चाहा, स्वामीजी से कहे कि वे अपना वाक्य सुधारकर क
कि 'आप पाखाने जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी,' पर चुप रहा)—क्यों, आप सहम
नहीं हैं ?"

शेखर कुछ बोला नहीं, वह चाहता था कि बात किसी तरह खत्म हो और ये
जाएँ !

'आप उत्तर नहीं देते। मन में सोचते होंगे कि इनको बकने दो। नोजवानी
अहंकार सबमें होता है। मुझमें भी था—उसका नतीजा यह देख लीजिए—"

शेखर ने अबकी बार कुछ दिलचस्पी से हरिहरानन्द की ओर देखा।
"मैं संन्यासी हूँ, गेरुआ पहने हूँ। आप संन्यास का अर्थ जानते हैं। पर मैं
इसलिए नहीं हूँ कि मैंने सब छोड़ा है, इसलिए हूँ कि सब कुछ मुझसे छिन गया
सब अहंकार के कारण। अहंकार ही घाती था; फिर वह भी टूट गया। मैं प्रचा

फिरता है, पर यह मेरुमा ऋषि नहीं है, कफनी है। मिट्टी के रंग की—जो मिट्टी सब कुछ डक देती है। सब कोई साधारण होते हैं—”

स्वामीजी को इस स्वीकारोक्ति की स्पष्टता शेखर को छू गई। उसने कुछ नम्र पड़कर कहा, “मैं झंझार के कारण चुप नहीं, चुप इसलिए था कि कुछ कहना नहीं है। मैं अपनी अकिंचनता जानता हूँ। पर अकिंचन है, इसलिए अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारूँ, यह तर्क मेरी समझ में नहीं आता।”

“लालाजी आपके शुभचिन्तक हैं। वे जो कहते हैं, ठीक कहते हैं। प्रतिभा का होना नहीं बनाना चाहिए, सब कोई साधारण होते हैं और इसलिए विवाह ठीक बात है।”

“मैं कब कहता हूँ कि ठीक नहीं है। पर मुझे अभी नहीं करना है, और किसी के कहने से नहीं करना है। चाहता ही नहीं, चाहता भी तो योग्य नहीं हूँ।”

“क्यों?” लाला ने कुछ भाषा से पूछा।

“पचास बातें हैं। पर छोड़िए उन्हें—”

“आखिर कुछ तो बनाइए—”

“नहीं, रहने दीजिए। अभी विवाह की बात सोचना प्राप्त मोल लेता है।”

एकाएक हरिहरानन्द ने उत्तेजित स्वर में कहा, “ठीक है, प्राप्त मोल लेना है। तो है हिम्मत—बढ़ो प्राप्ति और लो प्राप्त सिर पर—”

शेखर ने एक बार फिर ध्यान से हरिहरानन्द की ओर देखा, फिर बोला, “समा कीजिए, मैं यका हूँ। यह बहस तो समाप्त होगी नहीं, मैं अपने मन की बात आपसे कह चुका हूँ।”

आखिर लालाजी का प्रासन हिलता देखकर उसने तसल्ली की सट्टि ली....



शशि से दुवारा मिलने पर शेखर ने मीटिंग की तारीख कहांती उसे सुना दी, और मीटिंग के बाद अमोलक राय और हरिहरानन्द से हुई बातचीत भी। शशि पहले चुपचाप सुनती रही, फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर कुछ गम्भीर होकर उसने पूछा, “बहुत दुःखी हुए थे क्या?”

शेखर ने झिझकते हुए कहा, “उस समय तो काफ़ी खोम हुआ था। अब सोचता हूँ कि तुम्हारी तरह मैं भी क्यों न हँस सका—”

शशि फिर हँसने लगी।

बोड़ी देर बाद शशि ने पूछा, “वे लोग फिर आएँगे?”

“अन्धेरा तो है। पर मैंने उनकी बात मन से बिलकुल निकाल दी है।”

“बिलकुल? अच्छा, एक बात पूछूँ, शेखर? उन दोनों की फिर... सार मिला?”

“सार? किसी में नहीं—किस बात में—?”

“कि ‘बड़ी आगे और लो आकृत सिर पर’—”

शेखर एक क्षण शशि की ओर स्थिर भाव से देखता रहा। फिर बोला, “हाँ, कुछ तर्क या तो मेरे जैसे लोगों के मन के अनुकूल, पर—” एकाएक कुछ चौंकर—“शशि, तुम्हारा अभिप्राय क्या है?”

शशि चुप रही। शेखर ही फिर बोला, “तुम्हें भी इस ब्राह्मण कुमार के भविष्य की चिन्ता है क्या?”

“हाँ, कुछ है तो। सचमुच, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते—”
“शशि!”

बोड़ी देर सन्नाटा रहा। फिर शशि कहने लगी, “पिताजी मुझसे कहते थे, तुम्हें समझाऊँ। समझाने की तो बात क्या है, पर तुमने जिस तरह अपने को संसार से अलग खींच लिया है, इस तरह आदमी बहुत देर तक काम का रहेगा, इसमें मुझे सन्देह होता है। इससे-यथार्थ पर तुम्हारी पकड़ छूट जाएगी—”

“यथार्थ पर मेरी—या मुझ पर यथार्थ की?”

“एक ही बात नहीं है क्या? यों कहो कि यथार्थ का और तुम्हारा सम्बन्ध-सूत्र टूट जाएगा—”

शेखर ने जैसे एकाएक बहुत-सा साहस बटोरकर कहा, “देखो, शशि, हम लोगों ने इस ढंग की बात कभी की नहीं, पर तुम सच-सच बताओ, तुम्हीं ने शादी में क्या पा लिया है?” फिर शशि के मुँह पर चेदना की हल्की-सी रेखा देखकर—“मैं तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहता, पर—”

शशि ने सुस्थ होकर कहा, “नहीं, मैं समझती हूँ। पर मेरी बात उदाहरण नहीं बन सकती—मेरे ब्याह की तो बुनियाद ही और है। मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह हुआ था। ब्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नहीं था; पाना तो”—वाक्य अधूरा ही रह गया।

बोड़ी देर बाद शेखर ने कहा, “पर फिर मेरे लिए परिस्थिति भिन्न कैसे हुई—मेरे लिए भी तो....या बलेश पाना ही अगर पाना हो तब तो—”

“नहीं, वह मैं नहीं कहती। तुम्हें एक साथी खोजना चाहिए, जो बराबर साथ चल सके, साथ ग्लेश भोग सके और साथ सुख पा सके—बलेश या सुख बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात साथ की है—साझा करने की क्षमता की!”

“शादी करने से यह सब मिल ही जाएगा, इसका क्या प्रमाण है? और विशेषकर ब्राह्मणकुमार बनकर—”

“प्रमाण नहीं है, यह मैं जानती हूँ। और मैं नहीं कहती कि बैसे ढंग से शादी करो। मैं इतना ही कहती हूँ कि अगर ठीक साथी तुम्हें मिल सके तो—”

शेखर ने संक्षेप से कहा, “तो छोड़ो इस बात को—अगर ऐसा कोई मिलेगा तो

देशों जायगी। यह स्पष्ट है कि बूढ़ेने ये वह नहीं मिलेगा—मिलेगा; यह चले जायगी तो मिल जायगी, तब भीचल पतार लूंगा, बस ?”

एकएक उसने देखा कि गति का ध्यान उसकी बात की धोर होकर भी उसकी बड़ी-बड़ी धारों किसी बड़ी दूर के पथ पर कोई दूर दूरता हुई धोर भी गई हैं, मानो उस दूर दूर के पथ का अभिनन्दन करने को उसकी भात्मा द्वार खो है....शेखर ने भी कुछ सोए-से पर साथ ही कुछ कौतुक नरे स्वर में कहा, “धोर यह चलते मोती मुझे मिलेगा, तब मैं कोई प्ररन नहीं पूछूंगा, संगम नहीं करूंगा, नहीं बांधूंगा। जो देवता देते हैं....”

गति बिलकुल नहीं गुन रही थी। शेखर ने जान-बूझकर उसे चौकाने के लिए कहा, “जो देवता देने हैं, उसके लिए शास्त्रों को भी साक्षी क्यों मांगी जाए ?”

गति ने सहसा जागकर कहा, “क्या ?”

उसकी धारों मिली धोर जैसे जकड़ो गईं। शेखर ने बताते बल्बना बहकर उन निराल देना चाहा, पर फिर भी वह दस्तवा रहा कि उन गुले कपाटों के पीछे भातों है, उस भातों के भीतर गहरी वेदना है, उस वेदना के भीतर धोर गहरा भाव भातों—

धोर इस इतने अपलक काल तक उसके भीतर किसी गुम्ह में प्रतिध्वनि गुंजती रही, “साक्षी क्यों मांगी जाए....साक्षी क्यों मांगी जाए...”

●
एक विधि गति उसके मन पर धा गई धोर वह सगम में पड़ने धोर निराले सगा। गुधार-सुभा बाले लेख का परिष्कार; दो नग निबन्ध, दो कहानियाँ—इतना सब काम समाप्त करते जब उसने सोस ली, तब सनावाली पटना को सगमग दो सताह हो गए थे; धोर गति को धाए भी इस दिन—इन दस दिनों में शेखर ने होटलवाले लडके के लिबा किसी को नहीं देखा था; केवल एक दिन नीचे तीन तलेवालों के दो बच्चे न जाने किस बात-मुलभ विरवास के साथ उसके पास चले धाए थे, “भापको पतंग बनानी मम काण्ड ले धाएंगे—हमें पतंग बना दोजिएगा, उरुर।” शेखर ने हँसकर बचन दे दिया था, धोर साथ ही वह भी पना सगा लिया था कि किसकी कितने पैसे मिलेंगे; किने धोर परतों में गर्च हो जाएंगे धोर कितने मन्त्र तय्यार करने में—बसत प्रगर पतंग लेकर स्वयं पतंग न बनाई जाएगी तो बसत एक पतंग धा सकेगी धोर बसन्त-मी के दिन एक-एक पतंग से क्या होगा ?
बसन्त-पंचमी....यों न शेखर स्वयं उन बच्चों के लिए सब सामान सा दे धोर उनके धोर परिधम बचा दे ? बसन्त-पंचमी....पर पैसे कहाँ है ? धोर होटल का बिल धोर धा....

शेखर ने निश्चय किया कि जो कुछ लिखा है, सब पत्रिकाओं को भेज देगा और सब से पारिश्रमिक माँगेगा—कोई तो कुछ देगा ही....पर सब रचनाएँ लौट आईं। सबके साथ प्रशंसात्मक पत्र थे। शेखर यह विरोधाभास पहले नहीं समझ सका, पर अन्त में एक सम्पादकीय पत्र के अस्पष्ट संकेत से जान गया कि जो मुफ्त अच्छा है वह पारिश्रमिक का भी अधिकारी ही है, ऐसा नहीं है....उसने दुबारा उद्योग करने की ठानी, पर डाक-महसूल का भी जुआ खेलने की उसकी सामर्थ्य नहीं थी। एक बार उसने सोचा कि पुराने ही लिफाफे का पता काटकर फिर भेज दे, पर नए पत्र के सामने पहले से ही यह स्वीकार कर लेना कि रचना और कहीं से लौटकर आई है, कुछ बुद्धिमानी नहीं जैची.....अन्त में उसने रचनाएँ स्वयं लेकर स्थानीय सम्पादकों के द्वार खटखटाने की ठानी।

‘हमारा समाज’ वाले ही चक्कर की आवृत्ति फिर हुई, अबकी बार कुछ और कृष्ण रूप में, और कुछ अधिक निष्परिणाम....केवल एक साप्ताहिक के सम्पादक ने उससे वसन्त-पंचमी के विषय पर कहानी या कविता माँगी, क्योंकि पत्र का विशेषांक निकलनेवाला था। शेखर ने अपना पुराना निश्चय याद किया कि फरमाइशी साहित्य वह कभी नहीं रचेगा; पर फिर सोचा कि जो फरमाइशी है, उसे साहित्य कहने की कोई बाध्यता नहीं है और जो साहित्य है, उसे तराजूबाट से ऊपर रखने के लिए आवश्यक भी है कि रोटी कमाने का साधन दूसरा हो....उसने कहानी लिखना स्वीकार कर लिया और पारिश्रमिक के बारे में इतना आश्वासन पर्याप्त समझा कि ‘रचना पर विचार किया जाएगा, जो कुछ पत्रपुष्प—’

किन्तु वैसी रचना आसान नहीं थी। घंटों अपने साथ युद्ध करके भी शेखर वसन्त-पंचमी पर कहानी नहीं लिख सका; और बार-बार उसका परास्त और कुंठित मन तीन-तल्लेवाले बच्चों और उनकी पतंग की माँग की ओर जाने लगा....वसन्तोत्सव....पतंगोत्सव....वह कल्पना में देखता, वह पतंग और डोर और चरखी और भंभा सब ले आया है, और बच्चे किलकारियाँ मारते हुए छत पर कूद रहे हैं; और शेखर उन्हें सिखा रहा है कि पतंग कैसे उड़ाएँ—वह जानता हो, यह नहीं है, पर उन बच्चों के सामने वह ‘जानकार’ जो है....और फिर उसकी कल्पना की पतंग कट जाती, और यथार्थ की सूनी चरखी घुमाता हुआ वह सोचता कि वसन्त-पंचमी की कहानी और होटल का बिल....एकाएक उसे ध्यान आया, क्यों न यही बात वह कहानी के रूप में लिख दे? यह विचार उसे ओछा लगा; कुछ उन बच्चों के साथ विश्वासघात भी लगा, पर हिन्दी में नित्यप्रति ऐसी चीजें छपती हैं, और अगर वह उसे साहित्य मान लेने की भूल नहीं करता, तो क्या हर्ज है? फरमाइशी काम है अनासक्त भाव से श्रमिक की तरह वह पसोने की रोटी खाता है तो क्या बुरा है....इस तर्क से उसकी तसल्ली नहीं हुई, फिर भी उसने कहानी लिख डाली—नाम रख दिया ‘पतंग-पंचमी’।

सम्पादक ने एक बार धीरे-धीरे एक बार शेखर का चेहरा देतकर कहा, "भाप बड़े उत्साही मुवक है—"

शेखर ने संक्षेप से कहा, "जी।"

सम्पादक ने रचना एक घोर रख दी, फिर शेखर की घोर ओं देता, मानो उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद किसी वस्तु का जहाँ-उहाँ पड़े रहना उनकी ध्वस्त-मुद्रि को पसन्द नहीं है।

शेखर ने जान-बूझकर रुखे स्वर में कहा, "घोर मेरा पारिधमिक?"

सम्पादक ने ध्रुपन्त विस्मय जताते हुए कहा, "पारिधमिक? घी—ही।" पारिधमिक तो हमारे यहाँ त्रैमासिक हिसाब के समय दिया जाता है—घोर घनी ठा निर्णय—"

शेखर ने प्रोच दबाते हुए कहा, "निर्णय घनी कर लीजिए न?"

सम्पादक ने सान्त घोर बिकने स्वर में कहा, "साहित्य तो बड़ी साधना चाहता है—"

एकाएक शेखर को लगा कि सिफ्टाबार व्यर्थ है मानी फलप्रद नहीं है; घोर जो धमिक है, उसके लिए फल अनिवार्य है। सोचा, "चाहता होगा जो साहित्य होमा। पर भाप ऐसी चीज को साहित्य समझने की भूल करते भी हों तो मैं नहीं करता। जब साहित्य लिखता तब साधना भी कर लूँगा, घनी तो अपना भाप बेचता है, नकद धाम चाहता है।"

सम्पादक ने ध्यान से घोर नए विस्मय से शेखर को घिर से घेर तक देता, फिर कहा, "देखिए, नियम तो मैंने भापको बता दिया, पर भापने मेरे अनुरोध से ही यह कहा। तो तिस्रो भी, इसलिये इसके प्रकाशित होते ही पारिधमिक की व्यवस्था कस्मा।" फिर तीसरे काड़कर "पर भाप जानते हैं, हमारी परिस्थिति.... केवल धर्मपुष्प—"

शेखर ने धनमने-से स्वर से कहा, "धर्मवाद।" घोर लौट चला....

एक घोर बककर में जब वह युगान्तर साहित्य मन्दिर की घोर जा निकला तो उसने सोचा, 'हमारा समाज' का भी हात पूछता चलूँ। संचालक महोदय स्वयं उपस्थित थे, शेखर को देतकर बोले, "भाप मध्ये भाये—मैं सोच रहा था कि किसी को धारके यहाँ नेंद—"

"क्यों, कुछ विशेष बात है—"

"नहीं, यों ही"—धर्म-निर्भीत नेत्रों से वे कुछ देर शेखर को देतते रहे, फिर बोले, "बात यह है कि—प्रसन्न में—मैंने वह पुस्तक दो-एक विशेषज्ञों को दिखाई है, उनकी राय है कि उसमें कुछ संशोधन आवश्यक है—"

शेखर ने विनीत भाव से कहा—"हो सकता है। मैं केवल धर्मप्रेता हूँ, विशेषज्ञ नहीं हूँ। क्या-क्या संशोधन उन्होंने सुझाए—"

“देखिए, यह तो मैं जवानी नहीं बता सकता, पर यह समझ लीजिए कि परिणाम-वाले परिच्छेद उनकी राय में ठीक नहीं हैं और बदले जाने चाहिए—”

“यह तो ग्रामूल परिवर्तन हो गया। इतना बड़ा परिवर्तन तो लेखक—”

“भेरा तो विचार है कि आप सब परिवर्तन करके उनकी अनुमति से उनका नाम भी दे दें तो अच्छा हो; उनके सम्पादकत्व में किताब छपेगी तो विक्री भी निश्चित है और—”

“वे सज्जन हैं कौन ?”

प्रश्न का उत्तर न देते हुए संचालक फिर बोले, “अन्तिम परिच्छेद बदलने में समय नहीं लगेगा—”

“किन्तु तथ्यों से जो परिणाम निकलते हैं, उन्हें बदला कैसे जाए ? परिणाम तो—”

“परिणाम तो अपनी-अपनी मत है। एक ही तथ्य से पाँच परिणाम निकल सकते हैं, सब दृष्टिकोण की बात है। और जब परिणाम बदल जाएंगे तो तथ्य—”

शेखर ने आग्रह से कहा, “तथ्य से परिणाम निकलते हैं कि परिणाम से तथ्य ? जो तथ्य हैं, उनकी अनदेखी तो नहीं हो सकती—”

“तथ्य आखिर क्या है। जो कुछ है सब तथ्य है। जो नहीं है, वह भी तथ्य है—उसका न होना तथ्य है ? आदमी अपनी रुचि के अनुसार तथ्य चुनता है, फिर उन तथ्यों से परिणाम निकालता है, अतः परिणाम भी रुचि द्वारा नियमित हुए न ?”

“अच्छा, ऐसे ही सही। तब फिर मैंने अपनी रुचि के तथ्य और परिणाम पुस्तक में रख दिए, संशोधन का प्रश्न ही कहाँ रहा ? पर मैं तो यही कहता हूँ कि तथ्य तथ्य है, और मेरी समझ में जो परिणाम मैंने निकाले हैं, वे अनिवार्य हैं।”

संचालक ने कुछ दृढ़ता के साथ कहा, “यह तो आपका हठ है। रुचि अपनी होती है, पर रुचि का परिष्कार भी तो हो सकता है। और समाज की आलोचना बड़े दायित्व का मामला है—हम तो विशेषज्ञों की राय अवश्य लेते हैं। आपके लिए तो बड़ा अच्छा अवसर है—पुस्तक के साथ योग्य सम्पादक का नाम होगा तो विक्री भी होगी और भविष्य के लिए मार्ग खुल जाएगा—आपको तो कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इतने परिश्रम से परिवर्तन कर दिया है—”

शेखर ने चौंककर कहा, “कर दिया है ? पर आपको पहले मुझसे पूछना तो चाहिए था ? आखिर वे विशेषज्ञ हैं कौन ?”

“बड़े अनुभवी विद्वान् हैं और समाज-सेवा तो उनके जीवन का व्रत है—”

“आखिर नाम तो बताइए—”

“लाला अमोलक राय—”

शेखर ने रुक-रुककर प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए कहा, “मेरी पुस्तक ज्यों की त्यों छपेगी—अपने तर्क और मत के लिए मैं उत्तरदायी हूँ।”

शेखर

"पर हम तो विद्वानों की राय के विरुद्ध—भाप जानते हैं, प्रधानक के उत्तरदायी का मामला है—हम तो भापके हित—"

शेखर ने पूछा, "क्या भाप यह कहना चाहते हैं कि बिना परिवर्तन के भाप पुनर्जीवित नहीं हो सकते?"

"देखिए—हमारी असमर्थता—यह भावों में माने का मामला नहीं है—"

"तो भाप मेरी हस्तलिपि लौटा दीजिए—"

"भाप सोचकर देखिए—"

शेखर ने दुःख से कहा, "मेरी हस्तलिपि भाप तुरंत लौटा दीजिए—"

"भाप तो मानते नहीं। मुझे बड़ा खेद हो रहा है—"

शेखर ने फिर कहा, "हस्तलिपि मुझे देने की कृपा कीजिए तो मैं जाऊँ—"

संचालक ने आवाज दी, "बपरासी!" एक सुस्त-सी मूर्ति सामने आकर खड़ी हो गई।

"जाना साला प्रधानक राय के यहाँ से कागज ले आना—उन्हें कहना कि 'हमारा समाज' के कागज दे दें—नाम याद रहेगा न 'हमारा समाज'?"

"जी। 'हमारा समाज'।"

"हाँ।"

शेखर ने पूछा, "कितनी देर लगेगी?"

"पष्टे डेढ़ पष्टे में आ जाएगा—"

शेखर वहीं ठहरना नहीं चाहता था। बोला, "धन्यवाद, मैं दो पष्टे बाद आऊँगा—"

घोर उठकर पल दिया।

ऐसा आन्दोलित मन लेकर वह घर नहीं लौटना चाहता था, घोर बाहर उसे कोई काम था नहीं; शेखर निरुद्धर सड़कों और गलियों में बहकर काटने लगा। केवल एक बार एक दुकान के बाहर कई एक बरखियाँ टँगी हुई देखकर वह थोड़ी देर रुक गया। घोर परतियों की तथा दुकान के भीतर के भयंकर में धुँधली-सी दीपती हुई दो हँडियों घोर कोने में पर्वगों के डेर की आकृति का प्रभावित करता रहा; फिर भागे पड़ा। घोर एक जगह पलों की एक घोर दुकान देखकर उसे याद आया, जेब में तापत्र पर एक पुस्तक पड़ी थी घोर सोचा था कि वह फलाहारी हो जाएगा। कुछ देर रुककर उसने दुकानदार से कन्यारी बनारों का भाव पूछा, मुना कि सवा रुपये घोर एक बनार लगभग चौदह माने का होगा। उसके बाद वह घोर नहीं नहीं घाड़े पार बजे के लगभग वह फिर 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' पहुँचा; घोर वहाँ हस्तलिपि लेकर, बिना एक शब्द बोले संचालक को सलाम नमस्कार करके घर ... दिन बहुत छोटे हो गए थे, कुछ बरती-सी नो थी, घोर घाड़े पार बजे हो लगा था कि दिन डल रहा है....

घुँबकर शेखर ने हस्तलिपि नीचे पटक दी घोर चारपाई पर बैठ गया

एकाएक उठा और हस्तलिपि उठाकर पन्ने उलटने लगा....उत्तरांश के कई पन्ने निकाल दिए गए थे और उसकी जगह नए पन्ने थे, किसी और हाथ के लिखे हुए—पक्षरों से स्पष्ट था कि हाथ कच्चा है, और शायद लड़की का है....शेखर ने भटककर उन पन्नों को अलग किया और दो टुकड़े करके फेंक दिया। फिर उसने देखा, कई पन्नों पर उसके लिखे हुए अंश काट दिए गए हैं और हाशिये में नया कुछ लिखा हुआ है। इन पन्नों को भी उसने भटककर अलग किया—पुस्तक की मूल असंशोधित लिपि तो उसके पास थी ही!—और उसी तरह दो टुकड़े करके एक और डाल दिया। फिर शेषांश को दो-एक बार उलट-पलटकर देखा, फिर एक खिन्न 'हुँ:' के साथ उसे भी नीचे डाल दिया और पैर से पन्ना-पन्ना इधर-उधर बिखेर दिया।

एक बार उसने चारों ओर देखा, फिर चारपाई पर आँधे लेटकर तकिये में मुंह छिपा लिया।

तकिये के भीतर रई का गुदगुदा अन्धकार—स्वागत, अन्धकार! तुम सूक्ष्म और अमूर्त नहीं हो, तुम्हारा आकार है, भार है, घनत्व है, तो और भी स्वागत!....शेखर को लगा, किसी तरह उसी अन्धकार में वह भी पिघलकर मिल जाए—तो—तो....

एक अन्धी-सी घुन्घ में वह उठा और धीरे-धीरे नीचे उतरकर फिर सड़क पर आ गया। क्रमशः ठिठुरते और संकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर उसके बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था....अन्धकार और एकान्त—निर्लिप्त शून्य—विविक्त, अनासक्त, अन्धकार... किसी चीज़ में कोई अर्थ नहीं है; सब कुछ एक परिणाम है, जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है....कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण का है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है....अनुद्देश्य, आंति, भटकन....

वह क्या कर रहा है—कहाँ जा रहा है—पर कर रहा है और जा रहा है तो क्या हुआ? आगे और घुन्घ अभी बाकी है, और जमता हुआ अंधेरा आँखों में चुभता है तो आँखों को देखने से मतलब क्या है....जंगल में जब लोग खो जाते हैं तो अपने आप उनके पैर चक्कर काटने लगते हैं, चक्कर काटते ही वे मर जाते हैं। उसे कहीं जाना नहीं है, चक्कर काटना नहीं है। वर्ष से अन्धे हुए-हुए पहाड़ी बकरे की तरह वह सिर झुकाए लड़खड़ाता चला जा रहा है, चला जा रहा है। वह जानने लगा है कि उसकी इस उद्देश्यहीनता में छिपा हुआ उद्देश्य है; कि वह उद्देश्य पुनः उद्देश्यहीनता है, बुझ जाने की माँग है....

पीछे मोटर का हार्न बजता है, वह अनसुनी करता है, मोटर पास से निकल जाती है। हार्न फिर बजता है, शेखर फिर उपेक्षा करता है, वैसा ही बीच सड़क चलता जा रहा है। हार्न फिर बजता है, जोर से बजता है, घुष्टता से बजता है, ललकार से बजता है, धमकी से बजता है—

अनुद्देश्य, अनुद्देश्य; वह चला जा रहा है बीच सड़क—

एकाएक दो हाथों ने उसकी बांह पकड़कर जोर से उसे खींच लिया; ब्रेकों की चोख

को दुबाली हुई एक चीख निकली, "बानूजी!" शेखर ने घाँख उठाई—एक स्त्री जवान नहीं थी, मुन्दर नहीं थी। मोटर शेखर को धूँकर सर्राती हुई निकल गई। दबने से जो सड़सड़ाहट उसमें घाई थी, वह मर गई और पालित की ककक की में सो गई।

शेखर ने अत्यन्त बिड़बिड़े स्वर में कहा, "क्यों, तुम्हें क्या?" किसी को क्या—वह मरे, जिये, मोटर के नीचे आए, मरने में डूबे, भाग में प

किसी को क्यों कुछ मतलब?

स्त्री ने आहत विस्मय में कहा, "बानूजी, मैंने तो—" और चुप रह गई। शेखर को घाँसे उसकी घाँसों से मिलतीं। नहीं, वह जवान नहीं थी। वह मुन्दर नहीं थी। पर उसकी घाँसों में वह आग्रह, वह वत्सन डर....

शेखर ने सहानुभूतिहीन स्वर में कहा, "बहिन, मुझे माफ़ करो—" और जल्दी से मुड़कर घर की ओर चल पड़ा। किन्तु उसके पैरों की बाप धागे सब भी अर्थहीन सतकार से दुबाली जाती थी, "किसी को क्या, किसी को क्या".... सोझियाँ बढ़कर कमरे की देहरो पर पैर रखते-रखते शेखर एकाएक ठिठक गया।

कमरा ज्यों का त्यों था, पर बत्ती जल रही थी और चारपाई के कोने में सिमटकर बैठे हुई नगि एकटक उसकी ओर देख रही थी।

● जाने कितनी देर तक कोई नहीं बोला, न हिला। फिर नगि ने कहा, "कहाँ थे, शेखर? मैं कब से बैठी राह देख रही हूँ—और यह सब क्या है?" और फिर एकाएक लपककर शेखर के पास आकर उनके दोनों कंधे पकड़कर बबराए हुए स्वर में कहा— "शेखर! शेखर! क्या हुआ—"

शेखर ने नगि की दोनों कलाईयाँ पकड़ ली और मूडल दबाव से उसे पोंछे धकेलता था चारपाई तक ले गया; उसी मूडल दबाव से उसने नगि की चारपाई पर बिठा दिया। फिर पीटे से अपने कंधे धुड़ाकर बिसरे हुए कागजों की रोंदवा हुआ कमरे के जाकर स्वयं सदा हो गया, और धाग भर बाद कागजों के बीच में भूमि पर बैठ

"कुछ नहीं, नगि; होना क्या था—"

नगि फिर उठकर शेखर के पास आ खड़ी हुई।

"दवागो शेखर! यह सब क्या करने गए थे। और—और क्या करके आए हो?" शेखर चुप रहा। सामने खड़ी नगि के पैरों पर उसकी दृष्टि गड़ी रही।

"कहो, शेखर! तुम नहीं जानते कि अभी राह देगते-देखने में—"

नगि मधुरा धोड़कर नगि चुप हो गई। न जाने कितनी देर तक दोनों चुप और खड़े; फिर कागजों में बही एक 'टप्' मुनकर शेखर चौंकर उठ खड़ा हु

किन्तु शशि की पीठ लैम्प की ओर थी, उसका मुख अँधेरे में था....शेखर ने एकाग्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कन्वे से पकड़कर शशि को घुमाना चाहा, पर उसके स्पर्श करते ही शशि का शरीर कठोर पड़ गया और वह हिली नहीं...शेखर ने एकाएक उसका कन्वा छोड़ दिया ; चारपाई के पास जाकर घप् से बैठा और फिर लेट गया; उसके बुझते मन ने जाना कि आगे कुछ गति नहीं है—उसकी आँखें अपलक छत को देखने लगीं—अनुद्देश्य, अनुद्देश्य, जड़ अनुद्देश्य—

शशि अपने आप आकर उसके सिरहाने खड़ी हो गई । एक अनिश्चित स्वर में उसने पुकारा, “शेखर ?” और उसके ऊपर को तनिक-सा झुकी—टप् से एक बूंद शेखर के माथे पर गिरी—

एकाएक शेखर ने हाथ बढ़ाकर उसे धीरे-धीरे नीचे झुका लिया, उसकी छाती में मुँह छिपाकर फूटकर रो पड़ा....उसका पिंजर बेतरह हिलने लगा, उसकी मुट्टियाँ शशि के कन्वों पर जकड़ गईं । शशि एक शब्द भी बोले बिना वैसे ही उस पर झुकी रही, जैसे पहाड़ी सोते के ऊपर छायादार सप्तपर्ण का वृक्ष....

सप्तपर्ण की छाँह में से समीर काँपता हुआ जाता है, एक प्रच्छन्न शिथिलता अंगों में भर जाती है, छाँह के अमूर्त स्पर्श तले सब कुछ क्रमशः शान्त होता जाता है । एक रेशमी स्पर्श शेखर के वालों को सहलाता हुआ पूछता है, “अब बताओगे ?”

नहीं, जीवन में कोई उद्देश्य नहीं है, तो चुप रहने में, छिपाने में भी कोई उद्देश्य नहीं है, बात अगर नहीं छूती तो उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी नहीं छू सकती.... शेखर ने कहा, “गया था तब नहीं जानता था, पर चलते-चलते जान पड़ा कि आत्म-हत्या का उपाय खोज रहा हूँ ।”

एक हल्की-सी सिहरन सप्तपर्ण को काँपा गई !

“क्यों, शेखर ?”

“यों ही ; समझ में आया कि मरने के लिए कारण ढूँढ़ना आवश्यक नहीं है, प्रमाण तो जीने के लिए चाहिए । जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं है, उसका मर जाना तो स्वतः सम्मत है ।”

चिन्तित और बहुमुख प्रतिवाद का स्वर—“शेखर !”

“पाने के लिए न जियो, देने के लिए जियो । माना ! पर क्या दो ? निरुद्देश्य, कारणहीन, अर्थहीन आत्मपीड़ा ? क्यों दो, किसके लिए दो ? अगर साध्य एक है जनमात्र का सुख, तो देय भी एक है सुख—नहीं तो कुछ नहीं है, सब बोझा है । और मैं देखता हूँ कि अपने होश के अठारह-बीस सालों में मैंने—” एक काँपाती हुई सिसकी, फिर उसकी शिथिल देह को हिला गई ।

“मैंने किसी को सुख नहीं दिया; एक अहंकार के लिए जिया हूँ और सबको क्लेश देता आया हूँ—”

“तुम कैसे जानते हो, शेखर ?”

“नहीं जानता, यहो जानना है। जिनसे स्नेह किया है, उन्हें भी मुझ नहीं पूछा नहीं, पर क्या स्नेह इतनी भी बुद्धि नहीं देता कि कोई जान ले, जिसे स्नेह उमे गुण भी देता है कि नहीं?”

गति ने धीरे-धीरे उठते हुए कहा, “भायद नहीं देता। नहीं तो तुम देख वह धीरे-धीरे चलकर सिङ्गरी के पास गई, दाग भर चौपटे पर हाथ रखकर देखाती रही—एकाएक बूँदें पड़ने लगी थी, जो सिङ्गरी के चौपटे में पिरे हुए घालोक में धाकर पल भर चमक जाती थी—एक शून्य में से धाकर दुनरे में लो फिर उसने वहाँ लड़े-लड़े घूमकर कहा, “घोर शेखर, क्या स्नेह ही देय नहीं है— से बढ़कर देय?”

“है, बहुत बड़ा देय है—पर इसीलिए कि वह इतना बड़ा मुझ है। अगर स्नेह नहीं देता, जलाता ही जलाता है, तो उसका भी दग्ध होना ही मज्जा—”

गति जल्दी से फिर अपने स्थान पर लौट आई; शेखर के सिरहाने चारपाई के कोने पर बैठती हुई कुछ झपटकर बोली, “धुप रहो, शेखर, तुम्हें कुछ पता नहीं है कि तुम क्या कहे जा रहे हो।”

शेखर धुप हो गया, घोर वहीं लेंटे-लेंटे घाँसों ऊपर उठाकर गति को घोर देखने लगा। गति किसी घोर नहीं देख रही थी, ठीक सामने ही उसकी दृष्टि गड़ी थी, पर उसने प्रवरण जाना कि इस ऊपर देखने के प्रयास से शेखर के माथे पर त्योंरियाँ पड़ गई हैं, क्योंकि एक हाथ से वह उन्हें गहलाने लगी, जैसे कोई रेशमी कपड़े में से सतवटें निकाल रहा हो। जब यह उद्योग सफल नहीं हुआ, तो उसकी उँगलियों ने बढ़कर शेखर की पलकों को बसातु बन्द कर दिया—फिर वे वहीं टिकी रही, घाँसों पर से हटती नहीं।

शेखर ने बहुत धीमे स्वर में कहा, ‘मुनो, गति।’

गति फिर उसके ऊपर किन्तु मुक गई।

“गति, तुम क्या हो, कुछ समझ में नहीं आता—”

स्विर स्वर से, “यों, शेखर?”

“कय से तुम्हें बहिन कहता आया है, पर बहिन जितनी पास होती है, उतनी पास तुम नहीं हो, इसलिए वह जिनकी दूर होती है—उतनी—दूर भी तुम नहीं हो।” एका-एक उसने गति को उँगलियों को दोनों हाथों में अपनी घाँसों पर जोर से दाब लिया, जो घाँसों पुलन में कुछ धनर्य हो जाएगा...

गति की काँपती हुई आवाज में शेखर जैसे बाहर की वर्षा को धनवरत मार मुन पा—“क्या मजिमाय है तुम्हारा, शेखर?”

शेखर ने फिर दोनों हाथ उठाए, कनपटों के पास से गति का सिर हल्के से पकड़ा उसे अपने ऊपर झुका लिया, फिर बोला, “मजिमाय मैं नहीं जानता, तुम्हें जान मैं जानता है कि जिनसे स्वप्न मैंने देखे हैं, सब तुमने पाकर घुन जाते हैं—”

शशि के झुकने में न अनुकूलता थी न प्रतिरोध; वह झुकी हुई थी पर स्तब्ध, निःशब्द थी....

वह स्तब्धता जैसे शेखर के प्राणों में भी समा गई; उसे लगा कि सब कुछ ज्यों का त्यों स्तिमित हो गया है; क्योंकि आगे और कुछ होने को नहीं है, सब कुछ वहाँ पहुँच गया है जहाँ कैवल्य है, क्योंकि निर्वाण है.... यद्यपि, दूर कहीं, वादल की गर्जन थी और बूंदों का फूटकार, और कौंध का वह प्रकाश, जो स्वयं भी कुछ नहीं दिखाता और वाद के ग्रन्थकार को भी घना कर जाता है।

और शेखर के ऊपर थी सप्तपर्ण के तरुण गाछ की छाँह, जिसे दूर की कोई बहती साँस कंपा जाती थी; दूर दक्षिणी किसी समीर की साँस, क्योंकि उसमें स्निग्ध गर्माई थी, और जब-तब एक सोंधापन शेखर के नासा-पुटों को भर देता था—वह सोंधापन, तल्य के प्राणद पहले स्पर्श में होता है....

सप्तपर्णी, मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं मानता। यह मिट्टी शायद अनुर्वर ही है, पर तुम्हारी छाँह में यह साँस उसे छूती हुई चली जाती है, तो उसे और कुछ नहीं चाहिए, वह जीती है...

एक सीमा होती है, जिससे आगे मोन स्वयं अपना उत्तर है, और सब जिज्ञासाएँ उसमें लीन हैं, क्योंकि वह परम अ-प्रश्न है.... न जाने कब और कैसे शेखर की बाहरी शिथिलता उसके भीतर समा गई और वह सो गया—योड़ी-थोड़ी देर बाद बिजली की कड़कन से कुछ चौंककर वह जागा, पर वह जागरण एक तन्द्रिल व्यामोह से आगे नहीं बढ़ा, और ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के सोंधे प्रच्छन्न आरवासन में फिर लवलीन हो गया ...केवल एक बार जैसे उस द्रवित अवस्था में जीवन के ठोस ज्ञान ने व्याघात डालना चाहा, शेखर ने चौंककर कहा, “शशि, बहुत देर हो गई, तुम्हें वापस जाना है”—और मानो उठने का उद्योग किया, पर शशि हिली नहीं, उसकी निश्चलता में पौष की हिम-शीत वर्षा ने ही उत्तर दिया कि अब वापस जाने के लिए भी अधिक देर हो गई है; फिर शेखर ने कहा, “तुम थक जाओगी, शशि,” और दुबारा उठने का उद्योग किया ताकि डंग से बैठ जाए; पर शशि ने फिर एक हाथ से उसके उद्योग जड़ित कर दिए और उसने पाया कि उसके मन की संकल्प-शक्ति और पेशियों की प्रेरणा-शक्ति एक चिकने भ्रमूर्त और सर्वथा स्वीकार्य धन्वन में बँधी है; फिर वह तन्द्रा पूर्ववत् छा गई और सप्तपर्णी की छाँह में अस्तित्व सो गया....

अवश्यमेव यह अरुणाली स्वप्न की है—वातावरण में स्फटिक की-सी शीतल स्वच्छता है, किन्तु उसमें रंग की स्निग्धता भी है—शेखर अपना सिर तनिक-सा उठाकर अपने ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के गाछ को छूता है—क्या उसका माथा सप्तपर्णी के भीतर के जीवन-प्रवाह को नाड़ी देख सकेगा—उसके हृदय का स्पन्दन अनुभव कर सकेगा ?

ससर्पणी की आत्मा बोली—आत्मा का स्वर कितना कोमल होता है !—
 हो, शेखर ?”

“है—”

“तुमने जो कुछ कहा था, वह याद है ?”

“हाँ—”

“उसका प्रतिप्राप समझते हो ?”

मौन बोला कि हाँ समझता हूँ।

“पर मैं भी कुछ कहूँ, सुनोगे ?”

मौन ही फिर बोला कि सुन रहा हूँ।

“तुमने जो दिया है, उसमें सज्जा नहीं है। वह बरदान है, यह मैं भी बिना सज्जे के देखती हूँ। परदान में प्रस्वीकार का विकल्प नहीं है।”

“... ”

“मैं विवाहिता हूँ। अपना प्राप मैं स्वच्छा से दे दिया है, अपने का, इह क सकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो द दिया है, मेंग नहीं है, उसको धीरे में मैं कुछ नहीं कह सकती, न कुछ स्वीकार हा कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, धीरे—न कुछ दे सकती हूँ।” उह चप हो गई, बहुत देर तक कोई नहीं बोला केवल बातावरण का स्फटिक कुछ धीरे-धीरे जान पड़न लगा—

“अपने को मिटा देने में मैंने कतमी नहीं की—परन्तु हाथ में दिया—होम कर दिया, धीरे देर निरा कि सब जन गया है—उन में गया है। यह नहीं सोचा कि धोखा लाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि उहा हो ।”

शान्ति में कितनी अंधा हो सकता है धीरे स्वप्न के स्फटिक की लानी में कितनी हिम-विजडित पराश्रय यहाँ है सब कुछ का धन—स्वप्न का भी धन—

ससर्पणी की आत्मा ने एकाग्र ब-राकर—जैसे नई आहुति में होमाग्नि दीप्त हो उठे।—कहा ‘पर तुम म मरा वह जीवन है, जो मैं त जो मेंग मैं है।’

फिर एक विधाम

“धीरे वह मर्न नहीं है इमोविंग कम सब नहीं है, कम जोना नहीं है। शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई बेटा कुछ सब समझा बता कि मैं—सब—कुछ नहीं हूँ। एक लाया है।” धीरे फिर हिम-धान्तरक नत्र न भरकर—“धीरे धमून् होकर मैं—

तुम्हारा अपना-प्राप है, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।

फिर मौन, जिसमें वह लाल स्फटिक कैप-मा है—

“शान्ति, क्या इसमें—तुम्हारा जि—मिडि है—सम्पुति है ?”

“सिद्धि नहीं। मेरा जीवन न इनका मिट्टा था, न इनका हुवा—। निःशेषी पूर्णता नहीं है पर मैं मनुष्य है शेखर धीरे मन्तोप का यह कुछ है {

वह स्फटिक अरुणाली में घुल गया है, वह शीतलता स्वप्न की नहीं है, पौष के खड़कड़ाते वर्षा-घुले प्रत्यूष की है....शेखर ने एकाएक अपने को सप्तवर्णी की छाँह के नीचे से खींच लिया और उठ बैठा, चेतना की एक दंति उसे सहसा पिछले दस घण्टों के जीवन-विकास की एक द्रुत भाँकी दिखा गई; सहसा इस भावना से भरकर कि आज भोर की पहली किरण के साथ वह शशि को नए रूप में देखेगा, और कुछ बाल्य-काल में रटे हुए और हाल में दुबारा नए प्रकाश में पड़े हुए वैदिक भावगीतों के श्रद्धा-भाव से आप्लावित होकर उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखते हुए कहा, "मेरी आँखें पुनीत हों—"

शशि के खोए-से स्वर ने उसकी मनःस्थिति को भरपूर अपनाते हुए कहा, "और मेरा जागरण...."

शशि उठ खड़ी हुई थी, रात भर चारपाई के सेरूप पर जहाँ वह बैठी रही थी, वहाँ पड़ी हुई एक सलवट को उसने हाथ से सँवारा, फिर जाकर खिड़की के सामने खड़ी हो गई। चौखटे के साथ सटकर उसने दोनों बाँहें बाहर फैला दीं।

सप्तवर्णी के इस प्रतनु, लचकीले, पर उद्ग्रीव गाछ को देखकर शेखर का हृदय हठात् एक कृतज्ञ शाशीर्वाद-भाव से उमड़ आया। खिड़की के चौखटे में जड़े हुए उस विमुख आकार को सिर से पैर तक एक वत्सल दृष्टि से छूकर उसने मन-ही-मन शब्दहीन प्रार्थना की, और प्रतीक्षा करता रहा कि आलोक की पहली किरण शशि की आकार-रेखा को कुन्दन से मढ़ दे....

अरुणाली का आश्वासन दंति की यथार्थता नहीं बना, केवल एक फीका उजाला बनकर रह गया—दिन निकलते-निकलते बदली फिर घनी हो गई थी। शेखर न जाने किस विनोद-भरी उमंग से नीचे बिखरे हुए 'हमारा समाज' के पन्नों के मुख्यांश पर बैठ गया था; शशि वहीं खिड़की में खड़ी थी, पर अब शेखर की ओर उन्मुख।

"शशि, तुम अब भी गाती हो?"

एक अन्तर्मुख, म्लान 'हुँह!' ने मानो कहा, "अब, गाना!" पर प्रकट शशि बोली, "अब मैं वापस जा रही हूँ।"

शेखर ने हाथ के इशारे से बिखरी हुई हस्तलिपि को एक घेरे में बाँधते हुए कहा, "हमारा सारा समाज प्रतीक्षा कर रहा है—" (फटा हुआ, चियड़े-चियड़े बिखरा हुआ)

समाज और लाला अमोलक राय सुधारक द्वारा संशोधित सनाज!....)

शशि ने कहा, "गाए एक वर्ष हो गया—" पर इसमें प्रतिवाद नहीं था, केवल आग्रह की स्वीकृति थी, "अभी गाऊँगी नहीं, पाठ हो कर सकती हूँ—"

क्रमशः स्पष्टतर होती हुई स्वरलहरी से कमरा गूँजने लगा—

"अभयं नः करोत्यन्तरिक्षं अभयं ज्ञावा पृथिवी उभे इमे।

अभयं परचादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।

धन्यं मित्राद्भयममित्राद् धन्यं क्षाताद्भयं पुरो यः ।
धन्यं नक्तं भयं दिवा नः सर्वा धाता मम मित्रं भवन्तु ॥”

किन्तु अपने भाप ही बलि मूढ़कर फिर लिङ्गों में प्रत्यभिमुख होकर सड़ी हो गई, और दाग भर गुनगुनाने के बाद निष्कम्प किन्तु गूँजते स्वर में गाने लगी—सतेज और स्पन्दनशील प्रवाह के साथ, जैसे स्वस्थ घमनी में रक्त....

“भाजि मर्मर-कनि केन जागितो रे !
पल्लवे-पल्लवे हिलोले-हिलोले परपर कम्पन जागितो रे ।
.....”

भाजि मम घन्तर माने
कोया पयिकेर पद-युनि बाजे
ताइ चकित-चकित घूम भागितो रे—
भाज मर्मर कनि केन जागितो रे !”

उस स्वर को सुनते हुए, और उस सघों हुई पीठ के तरंगयित धारोह-प्रवरोह को देखाते हुए रोखर का मन बहुत दूर चला गया । किन्तु दूर लगता था वह समय, जब वह छिपकर शक्ति की उत्फुल्ल गीत-सहरो सुनने का यत्न किया करता था, जब वह स्तब्ध होकर उसका गाना सुना करता था—उसी से नहीं, शक्ति से भी कितनी दूर....तब वह सुखी थी—उस रंगमहीन मुख से सुखी, जो स्वयं अपने अस्तित्व को नहीं जानता ; और भाज यह जानती है कि मुख में भी वह सुखी नहीं है, केवल सन्तुष्ट है—सन्तुष्ट प्रार्थनापूर्ण—अपने अस्तित्व के इस भ्रम, इस विभागीकरण को गौरव मानकर अपनाती हुई...

किन्तु यदि यही है, यदि शक्ति भाज इस क्षण मनुष्य भी है, तो क्या यही सब रोखर के जीवन का सबसे सार्थक क्षण नहीं है, क्योंकि इतने बड़ा सुख वह सब शक्ति को नहीं दे सकता ? और—और क्योंकि इस क्षण ने कल और भाज के बीच में उसका जीवन बदल दिया है—

उसे याद आया कि रात ही एक घजनकी स्त्री द्वारा सींचकर बचा लिए जाने पर वह मल्लाया या और सोनता हुआ सौदा कि किसी को क्या—किसी को क्या....भाज—भाज किसी को कुछ है—और वह जानता है कि किसी को कुछ है . .

तब जो कल वह करने जा रहा था, क्या उनका उचित समय भाज नहीं है—इस क्षण नहीं है ? सिद्धि और सन्तोष के दिने हुए और पाए हुए मुख में बुझ जाना—किन्तु यही सिद्धि !... अगले वह अपनी चुपचाप गिमक जाए, कानों में शक्ति के गाने की चिरन्तन गूँज नेकर लुप्त हो जाए—

यह धीरे-धीरे द्वार की ओर गिसकने लगा, चौखटे को छूते ही सीधा लड़ा हो गया—

एक एक शक्ति ने जाना बन्द करके बहा, “रुही, रोखर ?”

वह जड़ित हो गया। शशि ने घूमकर फिर पूछा, “कहाँ जा रहे थे?”

शेखर कुछ नहीं बोला।

“अभी तुम्हारा मन नहीं धुला? शेखर, मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे।”

घात में पकड़े गए चोर की-सी उद्धतता से शेखर ने कहा, “क्यों?”

शशि ने अधिकार के स्वर में कहा, “क्यों” नहीं है। मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे।” फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर में, “मेरी तरफ़ देखा, शेखर—मेरी आँखों की तरफ़। क्या तुम मनमानी कर सकते हो—भकेले हो?”

शेखर ने आँखें नीची कर लीं। परास्त भाव से कमरे में लौट आया।

“क्या कहें बताओ, क्या कहती हो—”

शशि ने हाथ के इशारे से एक सीठी फटकार देते हुए कहा, “अब बहुत समय है कहने-सुनने को। अब मैं चली—सवेरा हो गया है। पर अब कुछ पागलपन किया तो—” तर्जनी उठाकर उसने वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

शेखर ने कहा, “मेरी अकल को कुछ हो गया है—बिल्कुल पागल हूँ।” उसके स्वर में खिन्न लज्जा का भाव था।

शशि ने विचारक के गम्भीर स्वर से, पर हँसती आँखों से कहा, “पागल—पागल तो नहीं; बहुत बड़ा वच्चा!” और सीढ़ियाँ उतर गईं।

शेखर ‘हमारा समाज’ के बिखरे पन्ने बटोरने लगा।

एकाएक प्रातःकाल का भाव उसके मन में फिर उमड़ आया, और विस्मय से उसने अपने-आपसे पूछा कि उसके मनोभाव का प्रतिबिम्ब कैसे इतनी जल्दी शशि के मन में उदित हो जाता है.... इस जिज्ञासा से और भी पुष्टि हुई। कृतज्ञता से उसने फिर कहा, ‘मेरी आँखें पुनीत हों....’

शशि ने जोड़ा था, ‘और मेरा जागरण’। किन्तु जागरण तो मेरा है, शशि, जागरण तो मेरा है—मैं तुम्हारे पुण्यायन का जागरूक हूँ....

चतुर्थ खंड
धागे, रस्सियाँ, गुंझार

बदती घोर सीत, किन्तु दिन के प्राण मुन्दर है—मुन्दर घोर स्निग्ध, सघ स्नात.... वह संगीतकार होता, तो भाज के दिन की धारमा को स्वरो की नूतिका से घोंक लेता—चित्रकार होता तो उसका चित्र खोचता; मूर्तिकार होता तो स्फटिक किला में उसके प्राण को बोधकर ऊपर कर देता—भ्रमर नहीं, भ्रमर तो वह स्वयं है, उसके आकार की मूर्त की परिधि में से घाता.... क्योंकि आनन्द का जो आकार भ्रमरम होता है, जो बोध की उंगलियों से घुसा जा सकता है—भ्रमर वह आकार मूर्त नहीं है, तो यह केवल चित्रकार को रूप-संज्ञा की स्वच्छन्दता देता है—मादृति घोर उत्कृष्टा दासियाँ बनकर उस रूप की सँवारती है—

रोखर लिखेगा । हो सका तो कविता लिखेगा, किन्तु कुछ भी लिखेगा भ्रमरम, क्योंकि जैसा पुला हुआ उसका मन भाज है, वैसा उसे याद नहीं, इससे पहले रूप था, और जिस जीवन-तहर का शिखर इतने युगों बाद पाया है, उसकी दूसरी उठान कब होगी, कौन जाने....

क्या ऐसा कुछ नहीं है, जो लिखने से परे है, जो बहुत विचाल है, जो बहुत गहरा है, जो पिरता नहीं, क्योंकि वह स्वयं घेरनेवाला है ?

भ्रमरम है । किन्तु उसे पकड़ने की स्पर्धा कौन कर रहा है ? सतपत्नी की घोड़ ऊपर है, सघ घोर है; किन्तु उसकी साँस का भ्रमर तो भी पी सकता है, और उसमें पितीयमान होकर उसके मुर में गुनगुना भी सकता है ...

कृतित्व सबसे पहले कृतज्ञता है....

रोखर लिखने लगा ।



नो, दस, ग्यारह, साढ़े ग्यारह—

जैन में शीघर ने पैरों की चाप से व्यक्ति की मनोदशा भाँपना सीख लिया था, इसलिए मोड़ियों पर पैरों की चाप सुनकर वह चौंका । जीवन के दलदल घोर शंका के जाल में से अपने को भागे पसीटने की इतनी धनिच्छा, इतनी क्वाण्टि—कौन है यह भ्रमरा, जो भाज के पुनीत दिन—

रोखर ने एक बार अपने सामने पड़े हुए स्मृति-रंगे कागजों को देखा और फिर मोड़ियों की घोर के छिवाड़ को—

एक निपिन पैर देखते पर सटकाए, एक हाथ घोर झोढ़नी चौखटे पर घोर कन्धा हाथ पर टेके, बेरंग चेहरे में पुँधाले चौच-खो जन्मि घोंगे सुन्य पर टिकाए सामने धनि गड़ो सी ।

उसने हड़बड़ाकर उठते हुए कहा, “अरे, कैसे आ गई—” और शशि के मुँह को देखकर सहारा देने को लपका ।

“आ गई, बस—अब वहाँ लौटना नहीं होगा—नहीं, मुझे मत छोओ, मैं अभी चली जाऊँगी—”

“अर्रे, क्या कहती हो, शशि—”

“उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है ।”

“क्या—क्यों ?” एकाएक स्तब्ध होकर, “भीतर आओ, शशि, बैठकर बात कहो—”

“नहीं, शेखर, मैं पति द्वारा परित्यक्ता हूँ, कलंकिनी हूँ, मुझे कहीं स्थान नहीं है । मुझे भीतर मत बुलाओ—”

शशि को वहीं देहरी पर बैठने के लिए भुक्तो देख, शेखर ने मर्महित स्वर में कहना प्रारम्भ किया, “शशि—” फिर एकाएक उसने जाना, वह बैठना स्वेच्छामूलक नहीं है, शशि इसलिए बैठ रही है कि वह खड़ी नहीं रह सकती....उसने दौड़कर भुजा पकड़कर शशि को संभाला और भीतर की ओर लिवाने लगा ।

“हाँ, मैं कहती हूँ । सोच लो, शेखर, अभी समय है । कोई कारण नहीं है कि तुम मुझे भीतर बुलाओ या आने दो । मैं रुकने नहीं आई—किसी को संकट में डालना मुझसे नहीं होगा—और—तुम्हें—तो—कभी नहीं....” उसका स्वर टूट गया, आयासपूर्वक उसने कहा, “तुमने आगे ही जो दिया है—”

शेखर ने दूसरे हाथ से उसका मुँह बन्द करते हुए उसे चारपाई तक पहुँचाया, बलात् बिठा दिया, और फिर हल्के दबाव से लिटाने का यत्न करने लगा—

दबी हुई कराह के साथ शशि ने कहा, “नहीं, बैठी रहने दो—”

शेखर ने तनिक अलग हटकर कहा, “क्यों निकाल दिया है, शशि ?” और फिर तत्काल ही, “अगर कहने में कष्ट होता है तो रहने दो—”

“कहूँगी । अभी मुझे जाना जो है । उन्होंने कहा है, मैं भ्रष्टा हूँ, पापाचारिणी हूँ ।”

थोड़ी देर की स्तब्धता के बाद “क्यों ?”

“मैं रात भर बाहर रही थी—”

“क्या तुमने उनसे कहा नहीं कि तुम यहाँ आई थीं—मेरे पास थीं ?”

शशि देख तो कहीं कुछ नहीं रही थी, फिर भी उसने मुँह फेर लिया, बोली नहीं ।

“तुमने क्यों नहीं कहा ? मैं अभी जाता हूँ—”

तड़पकर, “नहीं, नहीं ! तुम मत जाओ—”

“क्यों—”

“नहीं, शेखर, नहीं ! मैं—”

"कुछ नहीं, कुछ नहीं—"

यह अनावश्यक धापहू क्यों ? शेखर ने निम्नित स्वर से पूछा, "डाक्टर बुला लाऊँ ?"

"नहीं, कुछ नहीं है शेखर—" किन्तु धारपाई पर सेटती हुई शनि फिर एकाएक निबुड़कर घपबैठी रह गई; फिर भुरिबल से एक करवट सिमटकर निरपल हो गई, एक हाथ धीरे-धीरे उठकर माथे तक गया और टिक गया; उँगलियाँ सरककर बेजों की ओर धकीं और तीन नख धीरे-बहुटी से भीमन हो गए—एकाएक शेखर ने देखा कि मध्यमि शनि की आँखें खुली हैं तथापि वह न कुछ देखती है, न जानती है, यह भी नहीं कि शेखर वहाँ है—या कि वह है भी....

क्या एकठा का घन मृत्यु का बल है—क्या एक दूसरे को पहचान लेने का यही पुरस्कार है कि दोनों के पास कहने का कुछ नहीं है, विनिमय के लिए कुछ नहीं है; एक और घनदेखती निस्पन्द आँखें और दूसरी और बिम्ब, हठबोध पायाण ? एकाएक समूची परिस्थिति की ह्यस्ता—रामेश्वर के वार की, शनि की थोट की दारुणता—शेखर के चेतना-मुकुट पर हथौड़े की मार की तरह पड़ी ; वह तिलमिला गया । एक तनाव उसके गारे गरीर में जागकर उसकी भवों में संचित हो गया, और शनि पर टिकी हुई उसकी दृष्टि को धाग भर के लिए धार दे गया; फिर उसने झुककर धीरे-धीरे शनि के पैताने से बम्बल छुटाकर उसे उड़ा दिया; पुरानी शास कम्पे पर डाली और बाहर बल पड़ा ।

"कहाँ—जा रहे हो ?"

शेखर चौक पड़ा, पर बिना रुके बोला, "मैं—आया, शनि, तुम सेटी रहो—" और जल्दी से उतर गया । कोई कार्यक्रम उसके मन में स्पष्ट नहीं था, केवल इतना स्पष्ट था कि वह रामेश्वर से साक्षात् करने जा रहा है ।

रामेश्वर देहरी के ठीक सामने बैठा था; शेखर ने उसे धाग भर पहले देखा; किन्तु धाग ही भर में रामेश्वर के चेहरे का बम्ब भ्रमिलमिल का-सा भाव प्रतिबूनता से बँटीला हो आया; पनी और पहले ही मिली हुई भवों सेहूँके के आड़-सी उत्तम गई—

"तुम्हारी इतनी मजाल—क्या करने आये हो तुम यहाँ पर—"

रामेश्वर की गरज को अपेक्षा से एक और डेलते हुए शेखर ने कहा, "क्या करने आया है, यह तो यही पर तय करूँगा ; पर आपने यह किया क्या है—होगा में हे भाव ?"

"बेहूया पैरवी करने आया है—तेरे पाग गई मातिल सेने—निकल जाओ मेरे घर से—तुम्हारी बना लगती थी वो—" रामेश्वर का चेहरा पूना और प्रनिहिमा ने बेहद बुरूप हो आया, उसके मथने और घोट फटने से सगे; शेखर ने जान लिया कि उसका विद्वेय भागणति की उस सीमा पर पहुँच गया है कि अगर रक-रककर नहीं बोलेगा तो तुलसाने सगेगा । पर आखिर उसे इतने रोष का अधिकार क्या है—क्या वह प्रतीति

है ? वह नृगांस, अन्धा, आततायी ! उसने कड़े पड़कर कहा, "मैं जवाब देने नहीं, माँगने आया हूँ—"

रामेश्वर कई क्षणों तक गीले पलीते की तरह "तु-तु-तु-" करता रहा, मानो शेखर की स्पर्धा पर उसके चेहरे का तमतमाया हुआ विस्फार निर्वाक हो गया हो। शेखर ने इस अवसर से लाभ उठाते हुए एक तने हुए, द्रुत एकस्वर से कहना शुरू किया, "शशि मेरे पास थी, मैं देर से लौटा था, वह मुझे आत्म-घात—" क्षणभर अटककर, "तसल्ली देने ठहरी थी, फिर वर्षा—" किन्तु फिर अनुभव करके कि वह जवाब दे रहा है, और वह भी कुछ असंगत, उसने ओठ काटकर वह वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। "आप कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं, आपको पता नहीं है। शशि—आप उसके पैर छूने लायक भी नहीं हैं, और आप—" उसे विस्मय हुआ कि शशि के प्रति कोई अव्यक्त दायित्व उससे अब भी इस व्यक्ति को 'आप' कहकर सम्बोधन करा रहा है।

फटे हुए बाँस पर धारी के दर्रांतों का जैसा स्वर होता है, वैसे स्वर में रामेश्वर के पिछली तरफ दूसरे कमरे के किवाड़ से कोई सहसा बोला, "तो जा, चाट उसके तलुवे तू—तुझसे चटवाकर उसका जी ठण्डा होगा—"

शेखर ने चौंककर देखा, रामेश्वर के पीछे एक स्त्री का चेहरा है, जिसकी असंख्य साँवली भुर्रियों में से रामेश्वर की वासी प्रतिकृति झाँकती है; वही झंखाड़-सी भवें हैं; किन्तु उनके नीचे के विवरों में आँख की जगह फफूँद के गुल्म हैं....क्या रामेश्वर की माँ है ? शेखर ने उसे पहले नहीं देखा था, न जानता था कि वह कब, कैसे आयी है।

"तसल्ली देने ठहरी थी इसे ! रात भर तसल्ली पाकर ही इतना होसला हो गया है—बदमाश बदकार यहीं का !" साँप की फुफकार की तरह शेखर की ओर थूकफर मानो उसे आवेश की नई निधि मिली, और शेखर ने देखा कि उसके पार्श्व में एक बूढ़ा चेहरा और आ गया है, जिसकी खिचड़ी मूँछें काँप रही हैं।

"यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया है, भले घर में कोई घुसने नहीं दे; कम्युनिस्ट तो औरत को साझा-माल मानते हैं, नास्तिक ! इनका तो काम ही है लड़कियों को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते हैं, पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है। पहले वहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसी का घर बिगड़े, इन्हें क्या—इन्हें तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुपत !" मानो इस जाति के लोगों का अपराध वर्णनातीत हो, इस भाव से भरकर अपने भीतर का सारा विष एक ही शब्द में उगलते हुए उन खिचड़ी मूँछों ने क्षण भर रुककर फिर कहा, "कम्युनिस्ट !"

शेखर को लगा कि यह कोई दूसरी दुनिया है; कर्म और फिसलन और काली बगी की कोई दुनिया, जिससे विपेली भाप उठती है—चकित और विमूढ़ वह इस कुत्सित दुहरे आक्रमण पर क्रुद्ध भी नहीं हो सका, केवल हड़वाक रह गया। पर रामेश्वर के

गुस्से का घोड़ा जैसे इस कोठे की दुहरी मार में तिममितावर लगाम तुड़ा भागा—
रामेश्वर ने एकाएक आगे बढ़कर एक चप्पड़ शेर के मुँह पर मार दिया।

अवश्य ही यह एक दूसरी दुनिया है, जिसमें सोचकर, विवेक से—या इच्छा से भी—बुद्ध नहीं होता, सब कुछ अपने-आप, घटना के भीतर किसी अनिष्ट, आसुरी शक्ति की प्रेरणा से होता है—घटना की कौश अपने आपको धाँक जाती है.... धुँधली-सी रहता कि शेर के मुँह पर चप्पड़ पड़ी है; स्वयंचालित प्रतिक्रिया कि शेर के हाथ में उठकर आक्रान्ता को कलाई को जकड़ लिया है कि मुट्ठी धमका: कड़ी पकड़ती जाती है और कलाई को पीछे मोड़ता जा रहो है—कलाई जिसमें हिंसा पयरा गई है और जो अब उस जकड़ के भींचे बाँधे लगे है। धुँधला-सा विचार कि वह जकड़ इतनी बड़ी पड़ जाएगी कि कलाई की हड्डियाँ कड़कड़ा जाएँगी—कि कलाई रामेश्वर की है, कि वह कलाई न होकर रामेश्वर की गर्दन होती तो—होशी यो....

जिन्नु क्यों है यह कलाई, क्यों नहीं है यह गर्दन? अवश्य वह गर्दन है; जैसे कलाई बहकवाती है, वैसे ही गर्दन भी बहकवा सकती है, क्योंकि जकड़ में कुछ ईप्सा नहीं है, कामना नहीं है, यह बेयम जकड़ है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप घनती है, यद्यपि उसके पैर धमके हैं—

दूसरी दुनिया के पैर को जाड़कर एक स्वयं शेर की मुखा पर पड़ा और शक्ति ने कहा, “शेर !”

मुट्ठी की जकड़ तुम गई, पर स्तम्भ हाथ वही का वही रह गया। फिर एकाएक शेर को लगा, वह किसी गिजगिजी, घसींज चीज की पकड़े था, उसने जैगलियाँ फैलाई और फिर हाथ एकाएक नीचे गिर पड़ा।

मनाटे में उस आसुरी शक्ति का प्रवाह बहुत देर तक अप्रतिरोध बहता रहा.... फिर शक्ति ने कहा, “मैं डरती थी कि तुम यही करोगे? यहाँ क्यों आए तुम?” शेर का सम्पूर्ण विद्रोह उसके मौन में से भाँबता रहा।

“तुम जाओ यहाँ से—”

शेर की शक्ति स्थिर होकर शक्ति की छाँतो में गड गई। कुछ लोगों के बाद उसने पूछा, “और तुम? तुम भी चलो—”

“तुम चले जाओ। तुम यहाँ से घरे बहने से जाओ।” उसके स्वर में आत्मा का दर्ब था, जो जानता है कि उसकी प्रभुता बेयम आसपास की प्रजा को ही नहीं, उस मिट्टी को भी घनाती है, जिस पर उसने पैर रखे हैं, क्योंकि वह भी उसकी सम्पत्ति है।

शेर गुनगाव मोटर की ओर चले गए। इन निष्क्रामन पर उमका मारा अस्तिस्व घोषार पर रहा था, जिन्नु उसके मुँह में एक दण्ड नहीं निभता और उसके विवेक ने किसी विचार का स्पष्ट निरचय बिना तो नहीं कि एक नहीं, पचास शेर भी जितनी धडा, जितनी आस्था, जितना प्यार इस राजा की दे सबने दे, वह सब उन ५५ के सामने ही और शेर शेर ३।

उसने मुड़कर नहीं देखा, किन्तु वह किसी छठे इन्द्रिय के सहारे सब जान रहा था, जो उसके पीछे हो रहा है....चार स्तब्ध शरीर, शशि की आँखें एक वृत्त बनाती हुई एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर जा टिकती हैं और खड़ी रहती हैं। उस दृष्टि में क्या है, उसे पढ़ने की योग्यता किसी में नहीं है; उसमें भी नहीं, जिस पर जाकर वह टिक गई है और जिससे वह आगे नहीं बढ़ेगी, सहसा अपने भीतर सिमट आएगी।

एकाएक घड़ाक से किवाड़ बन्द हुए और भीतर से कुण्डा लगाने का कितकिटाता हुआ स्वर। तभी शेखर ने मुड़कर देखा; उससे छः-सात सीढ़ी ऊपर शशि पत्थर की शलाका-सी वन्द द्वार के बाहर खड़ी थी। वह कुछ बोला नहीं; वहीं रुका रहा और फिर धीरे-धीरे एकाएक सीढ़ी उतरने लगा। तब उसने जाना कि उसके पीछे बहुत धीमा और सुस्त एक दूसरे पैर का भी स्वर है।

सीढ़ियों से उसके पीछे-पीछे शशि बाहर सड़क पर निकली तो ऊपर खिड़की से मूँछों से धनकर आया हुआ एक स्वर बोला, “दफ़ा हुई—”

शारी की रगड़ खाकर फटा वाँस कर्कश स्वर से प्रतिवाद कर उठा।

“ले ले उसको कोख में, कलमुँही राँड़—कुत्ती !”

शेखर को बोध हो आया कि इन सम्बोधनों में उसके अस्तित्व की उपेक्षा उसके उत्तरदायित्व का ही परिणाम है। वह मुड़ा नहीं, किन्तु वहीं ठिठक गया कि शशि उसके बराबर आ जाए....

७

कमरे के दुहरे एकान्त में कितना कुछ जानने को था, कितना कुछ पूछने को था, जो शेखर ने तब नहीं जाना और नहीं पूछा; पूछा कभी भी नहीं, और जाना भी न जाने कब, बोध की किन छोटी-छोटी, विरल, मनचली तरंगों की क्षणस्यायी चमक के सहारे पूछने और जानने का समय भी नहीं था; शेखर भाँपता था कि जो-जो वह देखता है, उसके पीछे और उसके अन्तराल में उससे अधिक महत्व का कुछ घटित हो रहा है, होता रहा है, किन्तु इस भावना के सूत्र पकड़ने और सुलझाने का मौका कब था, जब कि इतनी और तात्कालिक बातें सोचने को पड़ी थीं और जवाब माँगती थीं....

शशि चारपाई पर लेटी नहीं, पड़ी थी, प्रश्नचिह्न की तरह एक करवट सिमटी हुई; उसकी पलकें निष्प्रयास झपक जाती थीं और कुछ देर बाद खुल जाती थीं, शेखर जानता था कि वह झपक एक दर्द को छिपा लेती है....

शशि स्वस्थ नहीं है, कुछ प्रबन्ध करना होगा—विस्तर नहीं है, शशि के पास कपड़े भी नहीं हैं, खाने की व्यवस्था—पैसा नहीं है, कुछ भी नहीं है....

शाम होने से पहले-पहले कुछ प्रश्नों का उत्तर तो आवश्यक था ही। शाम का खाना होटल से आता है, पर होटल को सूचना देनी होगी—इस समय के लिए वह

स्वयं कुछ बना लेगा—लौटकर; सबसे पहले बिस्तर और भोजन के लिए अधिक सम्पत्ति....

शेखर ने बदलने के लिए कपड़े निकाले और बाहर जाने लगा। शशि ने निष्प्रमत्त स्वर से पूछा, “भव कहाँ जा रहे हो?”

“जरा कालेज जा रहा हूँ, घंटे भर में लौट आऊँगा।” फिर एक कदम वापस आकर, “शशि, बदलना मत, मैं और कुछ नहीं करता। और तुम—तुम यहीं सेटी रहो, बाहर मत निकलना।”

कपड़े बदलकर शेखर फिर शशि के पास लौटा और बोली देर उसे देखता रहा। फिर बोला, “तुम भव सो आओ, बहुत पकी हो। रात भर बीटी रहों, और सबेरे ठे—”

शशि ने धनुष-भाष में उत्तर दिया, “अच्छा, यो आऊँगी।”

पलते-चलते शेखर ने दुनार से मुस्कराकर कहा, “मैं अच्छा हूँ कि तुम?”

बैठ पड़े बाद जब यह होस्टल से बगल में तीन कमरा, एक दरी और एक नमदा लेकर, जेब में जेब के दस रुपये बाले और मुँह पर तात्कालिक सफलता का भाव लिये लौटा, तो शशि फिर गल के पास निरचल बैठी थी, और पानी बहने जा रहा था....

शेखर ने अपना बिस्तर झाड़कर, नई चादर निकालकर पारपाई पर शशि के लिये बिछा दी, और कमरे के कोण के दूसरे भाग में अपने लिए बिस्तर करने का निश्चय करके बाकी कपड़ों का गोस वहाँ बाल दिया। फिर वह शशि को पारपाई तक लिवा लाया; उसके मन की सतह पर भावों का एक यथोचित पपड़ी जम गई और वह शशि से कुछ पूछ भी नहीं सका; उसे लिटाकर कुछ खाने का प्रबन्ध करने वह कोठरी में गया तो देखा, धंगीटी में भाग है, रसोई के बर्तन बिखरे पड़े हैं, दात और उबले धान का शाक एक मोर पड़ा है, कुछ-एक रोटियाँ भी बनी रहती हैं, पर काम जैसे बीच ही में छोड़ दिया गया है, छाटा जो बैठा नहीं है और कोठरी की लिङ्की में दो गीरेया चिड़ियाँ ताक में बैठी हैं कि कब बाँध भर से जाएँ—घाटे में बाँध के दो-एक चिड़ियाँ भी हैं....उसने कमरे में लौटकर जरा जोर से कहा, “शशि तुम—तुम बड़ी नालायक हो।”

शशि ने धररायी की तरह मुस्कराते हुए कहा, “मैं क्या करती, बर्तन समेटने का वक्त ही नहीं मिला, अभी ठीक-ठाक कर देती हूँ—”

शेखर ने निहुरपी भस्माहट के साथ कहा, “मैं यह कह रहा हूँ? तुमने काम क्यों किया—अच्छा, भव अपनी करतूत का पत्र भरो। तुम बीटो, मैं दाती परोकर लाता हूँ।”

“मैंने कोई अपने लिए बनाया है? तुम खाओ—”

“मह तुम्हें दण्ड दिया गया है कि पहले तुम खाओ, फिर बर्तन धो-धाकर मैं लाऊँगा—”

“नहीं, मह धन्याय है—तुम्हें खाना पड़ेगा।” फिर—अनिष्टानुसार, “बर्तन धाँके मत भोजन देना—”

“अच्छा, माफ़ किया। अपने लिए भी साथ ही ले आता हूँ—”

“शशि ने मुझाए स्वर में कहा, “नहीं, शेखर, मैं नहीं खाऊँगी।”

“क्या ? पहले ही दिन तुम रोटी बनाकर खिलाओगी और आप उपवास करोगी ? क्या समझा है मुझे तुमने ? मैं—बिलकुल नहीं खाऊँगा।” फिर स्थिति को कुछ हल्का करने के लिए, ‘शाय’ शब्द के आकार को ऐसे ढंग से प्लुत करते हुए कि शशि पहचान ले, शेखर पिता की नकल उतार रहा है, “मैं अतिथि-पूजक आश्रयों की सन्तान हूँ—”

शशि ने किंचित् मुस्कराकर उसके प्रयास को स्वीकार करते हुए कहा, “अतिथि बनकर मैं सबेरे आई थी—पर तुमने अतिथि रहने नहीं दिया। अब तो मैं—” एकाएक स्वर बदलकर, “हाँ, अब भी अतिथि ही बनाना चाहो तो—” शेखर का मुँह देखकर शशि फिर रुक गई और बोली, “नहीं कहती, लो। तुम्हें दुःखी नहीं करना चाहती शेखर, मैं जरूर खाती, पर मैं—खा सकती नहीं—”

एकाएक चिन्ता से भरकर शेखर ने कहा, “क्यों शशि ? क्या हुआ है तुम्हें—तुम्हें कहीं—चोट आई है ?”

“मैं—मुझे—मेरी तबियत ठीक नहीं है—”

शेखर ने जान लिया कि इसमें स्वीकृति नहीं, छिपाव है; किन्तु वह शशि को जानता है, अगर उसे कुछ नहीं बताना है तो नहीं बताना है, आग्रह व्यर्थ है।

“तो बिलकुल नहीं खाओगी—थोड़ा-सा भी ?”

“नहीं, शेखर। तुम अपनी थाली यहीं ले आओ, मेरे सामने खाओ तो मेरा भी खाना हो जाएगा—”

“.....”

“ना मैं किसी तरह नहीं सुनूँगी—नहीं तो मैं समझूँगी, मेरे हाथ का खाना तुम्हें भग्राह—”

शेखर चुपचाप कोठरी की ओर चल पड़ा।

बिना भूख मिट्टी के गोले निगलने में भी इतना आत्म-दमन करना पड़ता है कि नहीं, नहीं मालूम। पर शेखर के मन में कहीं धुँधला-सा यह ज्ञान भी है कि शशि से उसकी ओर स्नेह की एक आप्लवनकारी धारा बही आ रही है, और उसके अन्तर का स्नेह स्वयं शशि की ओर उठ रहा है, जैसे जल-प्रपात में गर्त की उत्सुक फेनधारा को सिर-झाँखों पर लेने के लिए उमड़-उमड़ आती है....और यह कि दुःख और लाज्जना की खाद में यह जो दुहरे वात्सल्य का शंकु फूटा है, यह मानव जीवन के सबसे बड़े और अलौकिक चमत्कार का उन्मेष है....

●

मैं सचमुच बहुत-सी बातें नहीं जानता था उस समय और पहले तो भाँपने की, कल्पना करने की भी सामर्थ्य नहीं थी। फिर क्रमशः जान गया। किन्तु जानने और न

जानने की अवस्थायों के बीच कोई रेखा नहीं खींच सकता; स्पष्ट याद नहीं कर सकता कि कब पटना के पोछे का पूरा इतिहास मुझे बताया गया। बताया गया अवश्य, क्योंकि यह जंगे मेरे चेतना-कोष की एक अनन्य मंजूषा है, जो मानो कभी उस कोष के बाहर नहीं था, सदा से उसका अंग है—मेरे अस्तित्व का अंग। इतना अतिश्रुत अंग, कि जब याद करना है तो जान पड़ता है, वह सब मेरी अपनी अनुमति है; गति की अनुमति के ध्यान पर टिकी हुई कल्पना या विषय नहीं। याद में मैं स्वयं गति हो जाता हूँ, उसके विचार गोपता है, उसकी स्मृतियाँ याद करता हूँ, उसकी वेदना सहता हूँ, उसका मोन, स्पर्शाहीन घट्ट घमिमान मुक्त में जाग उठता है.... गति अब नहीं है, किन्तु मैं गति हूँ; इसलिए मैं भी अब नहीं हूँ, केवल था। किन्तु अब भी मैं अपने से अधिक उसके दुःख से दुःखी हूँ, उसके घमिमान से उन्नत, अब: वह जीती है...

कहते हैं कि जिन घटनाओं का अनुभव बहुत तीव्र अनुमति के साथ किया जाता है, वे चेतना के पट पर परपर की लकीर की तरह अमिट गिच जाती हैं, और उनका स्मरण एक पूरे चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नहीं। अर्थात् स्मृति में वे घटनाएँ आती हैं तो एक अनिवार्य, परिदर्शनहीन अनुभव लेकर, जिनमें स्मरण करनेवाले की कलम की स्वेच्छा नहीं, घटना की बाध्य अनुगतिकता है.... एक दूसरा सिद्धान्त है कि लोगी वेदना-जन्म अनुमति को चेतना भुजाने का प्रयत्न करता है और क्रमशः धारम-प्रसारणा के इतने पदों में लपेट देती है कि उसकी धारार-रेखा बिलकुल अस्म्य हो जाती है, व्यक्ति की स्मृति से बिलकुल निवृत्त जाती है। किन्तु मैं देखा हूँ कि तीव्रतम अनुमति की वे घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटती हैं, और न परपर पर चिरे हुए इतिहास की तरह निरम और अव्यक्त हैं। देखा हूँ कि कुछ दूरय हैं, जो बिजली की चौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड़ गए हैं; तोड़ ही नहीं, उलझ भी गए हैं, जिससे मैं उन घनन्त घटनाओं को भी ठीक कालक्रम से नहीं देखा—मनमाने क्रम से वे जलती हुई आती हैं और जाती जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ। इनका ही वह सारा है कि यह सब अवश्य हुआ, और इसमें यह ध्वनि नहीं है कि केवल इतना ही हुआ या कि इतनी क्रम से हुआ....

या नहीं यह बात तो नहीं है कि धरम-शास्त्र की प्रतीक्षा करते हुए अमिषुक के स्वोकारी-भाव की दबाकर स्मृति के धोहे पर रक्षाया की आशयन बुद्धि पाई पड़ी है? क्या अतिश्रुत दिनों में अपने जीवन का धर्म, अमिषाव, उसकी निष्पत्ति और मिडि मोदता हुआ मैं अपने उत्तम की सफलता के मोह में पड़ गया हूँ—वेदन-ध्वनन की निर्ममता से डिगलर गृहन की आशक्ति में पड़ गया हूँ?

किन्तु क्या गृहन ही सबसे बड़ी निर्ममता, सबसे बड़ी अनाशक्ति नहीं है, जब कि वह अपनी ही अतिमूर्ति की अपने प्राणों का दास है?

ये सब बातें धर्म की दृष्टि से क्या हैं? और धर्म, अनुभव...

का अनिवार्य अनुक्रम ? जो स्वीकारी है, उसके लिए क्या जीवन का अनुक्रम ही बड़ा नहीं है ? भीतरी और बाहरी दोनों क्रमों के विरोध का अविरोध भी क्या एक अविक गहरा स्वीकार नहीं है ?

बाहर से आकर शेखर देखता है कि शशि की चारपाई के पास फर्श पर मौसी बिचावती बंठी हैं। उसका हृदय धक् से हो जाता है; शशि, शेखर और रामेश्वर के त्रिकोण के बाहर और भी संसार है, जो असंगत नहीं है, इस बात की जैसे वह अनदेखी कर गया था। समाज संगति के घेरे से बाहर है, इस बारे में उसे सन्देह नहीं था; पर मौसी किसी तरह भी बाहर नहीं है, यह भी असन्दिग्ध है; और इस द्विपित उलझन में मौसी—

शेखर ने स्थिर भाव से प्रणाम किया और कहा, “मौसी, फर्श पर क्यों—”

मौसी ने हाथ के इशारे से उसे आशीर्वाद दे दिया, मुंह से कुछ नहीं बोलीं। शेखर ने एकाएक देखा कि उनका चेहरा बिलकुल पीला है और आँखों के नीचे के काले अर्ध-चन्द्र के नीचे से निकलकर दो रेखाएँ ओठों के कोने छूती हुई ठोड़ी को घेरने जा रही हैं; और शशि का चेहरा उनकी ओर है, पर आँखें चारपाई की बाही पर गड़ी हैं—

शशि ने कहा, “शेखर, तुम अभी बाहर जाओ।” वह ठिठका, फिर लौट गया। शशि में उसका विश्वास आत्मविश्वास से बढ़ गया था। आँगन में पहुँचकर उसने पीछे किवाड़ भी वन्द कर दिया, और आँगन में टहलने लगा। एकाएक कोठरी में पहुँचा और सब चीजों को उलटने-पलटने और ताक को पुनः साफ़ करके सँवारने लगा....

○

/ शेखर और डाक्टर बात कर रहे हैं। दाईं ओर एक पर्दे की ओट में शशि लेटी है; और पर्दे तथा डाक्टर के बीच में मौसी खड़ी हैं, एक हाथ उनका पर्दे को पकड़े ही रह गया है, मानो इस दुविधा में कि मौसी को उसके पीछे ही रहना चाहिए या बाहर आ जाना चाहिए।

“पेट में अवश्य काफी चोट आई है। बहुत एहतियात करना होगा। कोई सीरियस बात नहीं है, पर आप जानते हैं, अन्दरूनी चोट के सेप्टिक हो जाने का अन्देशा रहता है। दवा में दे रहा हूँ; बाकी पूरा विश्राम सख्त जरूरी है, और खाने को कोई ठोस चीज मत दीजिए।”

“जी।”

डाक्टर नुस्खा लिखने के लिए झुके हैं; पर्दे की ओट से शशि के उठने से मेज के चरमराने का स्वर आता है—

मौसी पूछती है, “और पीठ का दर्द—”

“वह तो अपने-आप ठीक हो जाएगा—गिरने से अटक आ गया होगा—” फिर

कुछ सोचकर, "कहीं दर्द होता है?" और पुनः उठ सके होते हैं; शेखर मकेना पदों की ओर देखता हुआ रह जाता है।

"यहाँ? यहाँ? और जरा झुक जाइए तो"—फिर एकाएक बदने हुए स्वर में, "धोह...."

दूरय फिर पूर्ववत् हो जाता है, मौसी का हाथ वहीं पदों पर है, डाक्टर शेखर के सामने है, पर चेहरा दूसरा है।

"क्यों, डाक्टर साहब—"

डाक्टर साहब गहरी दृष्टि से शेखर की ओर देखते हुए कहते हैं, "भाप हजबैण्ड है?"

"नहीं, मेरी बहिन है।"

"भो: माफ़ कीजिए; और ये मंदर है?"

मंदोप में, "हाँ।"

मौसी की ओर उन्मुख होकर, "माताजी, ये भाप ही के साथ रहती है?"

शेखर उत्तर देता है, "नहीं, समुराम में रहती हैं, हम लोग तो दिखलाने आए हैं—क्यों क्या बात है?"

डाक्टर चुप हो जाते हैं। देर बाद, जैसे कुछ सोचते हुए, कुछ निर्णय करते हुए कहते हैं, "माताजी, यह घोट की चोट तो गिरने की चोट नहीं है।"

"और?"

डाक्टर का मौन जैसे उन्हें कहता है, "मैं कई सन्तान का पिता हूँ, आपका अपना भी अनुभव है—"

मौसी मुड़कर पूछती है, "गणि, तुम्हें याद नहीं, यह चोट कैसे लगी?"

गणि नहीं बोली; मौन का जैसे अन्त करते हुए डाक्टर कहते हैं, "इस चोट के लिए निनिमेंट देता हूँ, हल्की मासिग करके सेंक दोजिए। फिर राग भर के विराम के बाद, शेखर ने, धंधेजी में, "इट्स नॉट एम्ब्रिडेंट, इट इज ए डेलिवरेड स्नो, द किडनी इज रस्पर्ट।" (यह आकस्मिक चोट नहीं है, जानबूझकर किया हुआ आघात है—गुरदा फट गया है।)

शेखर भी धंधेजी में पूछता है, "इज इट डेंजरस?" (क्या चोट सांघातिक है?)

"नो, बट इररेरेबल्—" (नहीं, किन्तु असाध्य—)

"ह्याट ट्रीटमेंट मुड यू एडवाइज?" (आप क्या इलाज सुझाते हैं?)

"रेस्ट, एंड एंडोमोरेस—करेंज; चोखली करेंज...." (विश्राम और घोरज, मुहल-तया घोरज....)

डाक्टर को एजान आता है कि लगातार धंधेजी बाउपीड भी कुछ अधिक आराम-कर नहीं होती; मौसी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "पूरा त्रिधाम बहुत जरूरी है—यह मुस्ना इस्तेमाली से से पीजिए—दो तीन दिन बाद फिर देखना उचित

होगा—” मानो अनुमति है कि रोगी को लाने की वजाय मुझे नहीं बुलाया जा सकता है....

०

दोतल्ले पर रामेश्वर का कमरा, अपमान की शिजिनी से तना हुआ शशि का देह-चाप, घनुप-सा ही सधा हुआ; सामने रामेश्वर का चेहरा, सजीव दीवार-सा, जो नींव हिलने से टूटकर गिरने को है, उसके पीछे दो और दीवारें जो गिरेंगी नहीं, क्योंकि पहले ही ध्वस्त हैं और वरसों की फर्फूद से ढेर-सी हो गई हैं....

सास के हाथों फेंकी गई राख को एक हाथ से आँखों के आगे से पोंछते हुए शशि कहती है, “अगर आप सबका यही अटल निश्चय है तो—”

दोनों हाथ जोड़कर वह सिर थोड़ा-सा झुकाती है, सिर पर पड़ी हुई राख के दो-चार कण भरकर हाथों को छूते हुए नीचे गिर जाते हैं, वह मुड़ती है, एक कदम आगे सीढ़ी है, एक सीढ़ी वह उत्तर गई है—

आगे किचकिचाती है, “देखी वेहयाई—”

आगे की रड़कन से जैसे वह दीवार ढह पड़ती है, रामेश्वर झटककर आगे बढ़ता है और चट्टी पहने हुए पैर की भरपूर ठोकर शशि की पीठ पर पड़ती है, “कुलटा !”

कमान दुहरी हो जाती है, फिर प्रतिक्रिया शिजिनी खुक उठती है, “आपकी अन्तिम देन पीठ फेरकर नहीं लूँगी ; लीजिए, अब दीजिए—” और टूटती दीवार के सामने एक और दीवार खड़ी हो जाती है, जो कमान-सी लचकीली है, इसलिए टूटेगी नहीं—

आगे उत्साह से किचकिचाती है, “मार और एक, मार—”

पेट में लगी हुई लात से शशि एकवार ‘हुँक !’ करके रह जाती है, उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है, दीवार टटोलती हुई वह घूमती है कि इस आमुख पाई हुई भेंट के बाद अब चले—

०

तांगे में पीछे मौसी का स्वर, “डाक्टर अंगरेजी में क्या कहते थे—”

मुड़कर, “कुछ नहीं, कहते थे कि विश्राम बहुत जरूरी है, चुपचाप लेटी रहे, नहीं तो तकलीफ़ बढ़ जाएगी—”

मौसी शशि से पूछती है, “चोट कैसे लगी ? गिरने से तो सचमुच—”

शेखर और अधिक मुड़कर, “मौसी, आगे गिरने से कभी पीठ में चोट लगती है ? और मुंह-हाथ पर कोई—”

शशि घीमे से, “घर पहुँच लें—”

नीत में किशन तांदियाले का जीभ चटकाता या कभी-कभी ‘व-ए-चो-वएच !’

कोठरी की एक-एक चीज सँवारी जा चुकी है, बल्कि सारा रख-रखाव दो बार फिर बदला जा चुका है। क्या शनि और मौसी की बातचीत खत्म ही नहीं होगी, और क्या वह अब बाहर ही बाहर रहेगा ?

और यह जो शनि उसके जीवन में सत्य की तरह पैठ गई है—यह जो वह शनि के जीवन में उल्का की तरह छा गया है, मौसी क्या उसे भेल लेंगी—भेल सकेंगी ? जिससे मौसी को बचाने शनि अपने को मिटा रही थी, वह तो अब भी मौसी के पास-पास है—

शेखर नल खोल देता है और वर्सन साकर पार के नीचे रखता है, ठण्डी धीटें जैसे उसे सहारा देती हैं—

बाहिर भीतर से मौसी की आवाज आती है, “शेखर !” शेखर उसमें पड़ लेता चाहता है कि वह अपराधी ठहराया जा चुका है, या जवाब के लिए बुलाया जा रहा है, या बरी है—और मौसी के पास जा खड़ा होता है। मौसी मुँह चठाकर उसकी ओर देखती है, उनके चेहरे में एक मूढ़ बेदना है, और कुछ नहीं—“बैठ जाओ।”

शेखर उनके पास ही नीचे बैठ जाता है।

“तुम क्या कहते हो ?”

न जानता हुआ कि प्रसंग क्या है, शेखर कुछ बोल नहीं सकता।

“मैं तो इसी विरवास में पानी हूँ कि स्त्री का पति हो सब कुछ है। स्त्री भी पति की कुछ है, मैं जानती हूँ, पर जिस तरह अधिकार देना सीखा था, उसी तरह लेना नहीं सीखा, और अब यूँ ही हो गई, कुछ नया नहीं सीख सकती।” स्वर में प्रतिवाद, अग्नि-योग, आदेश कुछ नहीं है, केवल प्रकटीकरण का भाव—

“शशि कहती है कि अब सौटना नहीं है। चाहने न चाहने का सवाल भी नहीं है, सक्ने न सक्ने का सवाल है।

“मैं वही ये होकर आई हूँ।”

शेखर चौकता है, “कैसे ?”

“उन्होंने तार देकर बुलाया था, तभी तो आयी। ये कहते हैं कि उनके जाने शशि मर गई है, और हम सब ये ही नहीं। सास कहती थी कि अगर वह अब—पर छोड़ो क्या साम याद करके—”

शशि कहती है, “माँ, वहाँ उन्होंने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया—क्या कहते थे ये लोग—”

“बेटी, जिन्होंने तुम्हें निकाल दिया, उन्होंने मेरे अपमान में क्या कसर छोड़ी। कहने लगी, अब वह तुम्हें पर दूकने दे तो गोमांस खाए, पतिपातिनी होय—”

“फिर—”

“फिर क्या ! सौटना तो अब नहीं है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए समुदाय

इतना ही एकमात्र उपाय है, यह तो मैं नहीं समझती। जो रास्ता पति ही वन्द कर दे, उस पर चले बिना भी धर्म निवाहा जा सकता है।" थोड़ी देर चुप रहकर, "शशि कहती है, वह अब मेरे साथ नहीं लौटेगी, और चाहे कहीं जाना हो—"

शेखर बिना बोले शशि की ओर देखता है।

"माँ, तुम दुःख मत मानो, मैं ठीक कहती हूँ—"

"शशि कहती है, मैं लौट जाऊँ, और जैसे घरवालों ने उसे मरी समझ लिया है, मैं भी समझ लूँ—मन से नहीं तो कर्म से।"

"क्यों?"

उत्तर शशि देती है। "क्योंकि मेरा जो भोग है, उसमें माँ क्यों फँसें? उन्होंने काफ़ी भोग लिया है। अब उन्हें अलग रहना चाहिए, शादी करके उन्होंने मुझे सौंप दिया था, अब जो होता है, उसका दायित्व क्यों लें? और मैं क्यों उन्हें लेने दूँ—"

"मौसी, अपराध सबसे अधिक मेरा है, मैंने ही घूमकेतु की तरह आकर सबको इतना दुःख दिया है—मैं—"

"नहीं, शेखर, जो होना था, उसका सब जिम्मा अपने ऊपर मत लो—" फिर मानो मुख्य प्रसंग की ओर लौटकर, "शशि कहती है कि मैं तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे, उसे उसी को अकेली सहने दूँ।" वे शेखर की ओर देखती हैं और उत्तर नहीं पाती, फिर कहने लगती हैं, "पर मैं तटस्थ कैसे रह सकती हूँ? अपने शरीर से जिसे घनाकर अपने लहू से बीस साल तक सींचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेकूँ, यह क्या मेरी हार नहीं है? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मैं—"

"माँ, ऐसे सोचने से काम नहीं चलेगा। तुम अभी तो मान चुकी हो कि मैं न लौटूँ—" सारी बातचीत में पहली बार आवेश में आकर शशि कहती है, "और मुझे घर ले जाकर मेरी सारी आफ़त तुम अपने सिर पर ले लो, उसमें मेरी हार ही नहीं, अपने को मारकर जो कुछ मैंने किया है, वह सब भी इतना विफल हो जाता है कि—" फिर सहसा अपने को वश में करके, "और तुम हार से बच जाओ, ऐसा नहीं है।" कुछ देर रुककर, "हाँ, यहाँ न रहने को कहो, तो—"

शेखर कहता है, "मेरे अपराध की चुकती मुझे भी करनी है। शशि से समाज को जो वसूलना है—"

"मैं उसे यहाँ रहने से मना नहीं करती। मेरे साथ नहीं आती, तो उनके बाद य दूसरी जगह है। लोग मुझे कहा करते थे, पर मैंने बराबर सबको यही उत्तर दिया कि इन दोनों की एक घमनी है—मैंने तुम्हें कभी अलग नहीं माना, शेखर, चाहे लोचन चार की दृष्टि से हमारा रिश्ता न कुछ के बराबर है। यहाँ भी रहे तो मेरे पास के बराबर है—सिवाय इसके कि मैं अपनी सन्तान को छोड़ रही हूँ—शशि को ही सन्तान दोनों को—"

शेखर की धाँसे चरमरा रही हैं, वह चाहता है कि रो उठे, "मौसी, मौसी—माँ—"

"माँ, अपना मन से होता है, तो छोड़ना भी मन से होता है। तुम अगर मुझे—हमें—मन से नहीं छोड़ोगी तो क्यों मुझे कनेश होगा? धीर—हम भी—कभी मूलेंगे नहीं कि—"

मौसी शेखर की धीर उन्मुक्त होकर बहती है, "धीर तुम्हारे पिता को—मैं क्या उत्तर दूँगी—" एकाएक उनका स्वर टूट जाता है, वे शक्ति के सामने साट की बाही पर तिर टेक देती है, शक्ति एक बाँह में उनका कन्पा घेर लेती है, धीर उनके माँचल में अथविष जाती है। मौसी की किसी अल्पद्वारा नकलभोरी जाती दुबली देह की देवता हुआ शेखर भी बिना द्रिसे रो उठता है—किर एकाएक विस्मरण की रात में से त्रिवेणी की घारा से पुनः हुआ मया बोध कहता है कि शक्ति को हार नहीं हुई।

"यह तो, शेखर—"

मौसी रो रूप का एक मोट बढ़ाती है, "किर धीर भेज दूँगी—"

"मौसी, मैं—"

"यह तुम्हारे लिए नहीं, शक्ति के लिए दे रही हूँ—सभी यह बीमार है धीर—"

बृष हिचकिचाते स्वर में, "मौसी, यह ठीक नहीं है—मैं कुछ प्रवण्य कर सूँगा, किर—"

मौसी आहत स्वर से बहती है, "शेखर, जहाँ से डारना था, हार गई। टूटना था, टूट गई—बृष तो सन्तोष मुझे हो—"

"माँ से अभिमान मत करो, शेखर, वे तो, मैं बहती हूँ—"

शेखर धीरे से हाथ बढ़ाता है, जैसे सफाई में बहते हुए, "शक्ति अच्छी हो जाएगी सब धीर मत—" धीर मन ही मन सोचता है कि किसी तरह भी धीर नहीं—

"ईश्वर करे, यह अच्छी हो जाए जल्दी....मागे कोई बड़ा सुख नहीं है, पर दुःख भोगने की शक्ति शरीर में चाहिए—"

"माँ, मैं बहुत अच्छी हूँ—"

शेखर कहना चाहता है, "मैं साथ रहूँगा—"

इस मानवीय की भेदता हुआ सुन पड़ता है मौसी के सीझियाँ उठरने का पीमा स्वर, वे स्टेगन जाने के लिए शेखर के पीछे-पीछे उठर रही है....

"मौसी, साथ चिन्ता न कीजिएगा—"

"अच्छा, शेखर ; देखो परमेश्वर क्या साता है...." शक्ति की धीर उन्मुक्त होकर, "शक्ति, मैंने क्या तुम्हें इस दिन के लिए जना था" उनका स्वर फिर काँपने लगता है.... एकाएक, "शेखर, क्या सधमयुध तुम धारमधाम करने चले थे?"

सज्जित मौन....

"इतन-सी अच्छी की यह, सब तुमने गहाते हुए सोटा मारकर इसका किर

दिया था, तब भी यह तुम्हें बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया—नालायक शुरु से ही तुम्हारा पक्ष लेती आई है—” उनके स्वर की व्यथा-भरी झिड़की में कितना अभिमान है, कितना माधुर्य—पर यह बात तो शेखर ने पहले नहीं सुनी, पूछता है, “कब, मौसी ?” और सोचता है कि आत्मघात की बात टल गई—

मौसी मुनाने लगती हैं, “जब तुम छोटे-से थे, तब पहले-पहल—”

संभ्रम का सन्नाटा, जिसमें ठिठुरकर जमा हुआ धुआँ आँखों के रास्ते प्राणों में भर जाता है; कमरे में लालटेन के स्थान पर लैम्प का प्रकाश, शेखर जल्दी-जल्दी खिड़कियाँ बन्द कर रहा है कि वह धूमिल गोला बोक कमरे में न जम जाए—शशि चुपचाप सिमटकर लेटी है, उसकी आँखें शान्त हैं ; और निरायास शेखर के साथ-साथ जाती हैं, वह जानता है—

“शशि, तुम बड़ी झूठी हो ।”

“क्यों ?”

“इतना झूठ ? मुझे तो विलकुल ही कुछ नहीं बताया, मौसी से कहा कि गिर गई थी—इतना झूठ ! और प्रयोजन क्या था भला—”

शशि ने आश्वस्त-भाव से कहा, “मैं झूठ नहीं बोलती !”

“पर सच तो वह नहीं था—मेरे सामने तो सिर्फ चुप लगाई थी, पर—”

“शेखर, मैं समझती हूँ कि अनावश्यक कष्ट ही सबसे बड़ा झूठ है—मौसी को और दुःख देने का क्या मतलब था ? और उन लोगों की बात—उन पर मेरा कोई अभियोग नहीं है, उन्हें तो अब गिनती नहीं—”

‘और मैं—’

“तुम ! तुम क्या—पर तुम क्रमशः जान जाते; तभी बताना कोई जरूरी था ?”

“बताया तो तुमने अब भी नहीं; सच बताओ, चोट कैसे लगी ? किसी ने मारा था ?”

“मैं तो चोट का भी न बताती, पर जब मौसी के प्राणों सीधी भी न हो सकी और मुँह में फिर खून आने लगा तो बताना पड़ा—”

“खून ?”

शशि धीरे हँसी में हल्की-सी अपराध-स्वीकृति है, “हाँ, उठने-चलने से बमी होने लगती थी और खून—”

एकाएक नल के पास बैठने का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है; वह स्तब्धभाव से कहता है, “और तुम काम भी करती रहों ढीठ होकर—” फिर समर्पित-भाव से, “और मुझे रोटी खिलाने को—न खाता तभी तो क्या मर जाता—”

स्वयं ही शान्त नहीं, दूसरे को भी शान्त करनेवाले स्वर में शशि कहती है, “तुमने बाबा की बात बताई थी कि दर्द से बड़ा एक विश्वास होता है—”

“हाँ, क्यों ?”

“दर्द मे बड़ी एक साचारी होती है—जितना बड़ा दर्द, उतनी ही बड़ी—नहीं तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाए !”

इसका मरय शेखर के मन में धीरे-धीरे पैठता है। वह सोचता हुआ-सा कहता है, “हाँ, मैं जानता हूँ—” किन्तु फिर हठ पकड़कर और कुछ विस्मय में भी, “कितनी झूठी हो तुम—भूट की विशारद !”

“तुम क्या कम झूठे हो ?”

“क्यों, मैंने क्या किया है—”

“संयोगों में भी समझती है, शेखर ! ज्ञान बहुत नहीं है, पर जितना है, पक्का है। गॉट डैज़रस, दट इर्रेपरेबल् !” वह मुस्करा देती है ...

शेखर स्तब्ध भाव से चुन रह जाता है....

“पर शेखर, मैं पचगई नहीं। डाक्टर ने जो दवा बताई, वह मेरे नाम है—काफ़ी है अभी—”

“क्या—”

“एण्डोमोरेस—एण्ड करेज; ओक्रेतो करेज ...शेखर, मैं अच्छी हूँगी और तुम्हारे साथ पलकर बताऊँगी।”



साँगा थोड़ा बना जा रहा है, मोसी स्टेशन जा रही है; शेखर पहुँचाने जा रहा है और उनके पार्श्व में बैठा है। उसका मन न जाने क्यों मोसी के प्रति ममता से उमड़ा सा रहा है, जिसे वह धन्य करने का साधन नहीं जानता, चाहता है कि मोसी का हृत्प पकड़ से और स्टेशन पहुँचने तक धामे रहे—

“शेखर, गति क्या अच्छी होगी भय ?”

“कहाँ मोसी ? क्या पक्का क्यों रही है—”

“पक्का तो नहीं, शेखर, पूछती हूँ कि तुम उसके मन को मुझसे ज्यादा जानते हो ? क्योंकि यह मन की बात है—धरर उसके मन में अच्छा होने की हठ है ता यहाँ अच्छी हो जाएगी नहीं तो नहीं—नहीं तो नहीं। मैं उसे जानता हूँ—मनो लक्ष्य में हारने में हार नहीं है मेरी, शेखर !”

“मुझे तो माना है कि वह जल्दी अच्छी हो जाएगी—”

“परमात्मा करे—शेखर, तुम फिर तो नहीं सोचोगे उनटी-मुन्टी बातें—”

“क्या ?”

“तुमने बहुत बड़ा उत्तरदायित्व ले लिया है। भारतमाता की बात सोचने का धिय-वार नहीं है तुम्हें। कर्मा भी नहीं था—जीवन मरता ही एक बात है और उसे मैं फेंकना शिखावपात है—”

“मोसी, भय तो मुझे बहुत कुछ बरने की है—”

“कब नहीं था, शेखर ! तुम देखते नहीं रहे—”

शेखर एकाएक आत्मग्लानि से भरकर कहता है, “अगर मैं सचमुच उस दिन लौटकर न आता, तो—यह सब न होता !”

“अपने को ऐसे नहीं कोसते, शेखर ! और क्या पता इससे भी बुरा होता ? शशि शायद फिर भी रात भर तुम्हारी प्रतीक्षा करती—और सबेरे जो हुआ, वह फिर होता—क्योंकि वह तो होना ही था, कोई सफाई नहीं थी; रामेश्वर ने तो मुझसे कह दिया कि—”
एकाएक चुप !

“क्या कहा, बताइए न—”

“कहा कि—बात तो नई नहीं थी, केवल पता लगना नया था, और शादी भी एक बहाना था ताकि—शेखर, तीन दिनों में क्या कुछ देख-सुन लिया है मैंने !”

स्टेशन पर मौसी कहती हैं, “अब तुम जाओ, शेखर, गाड़ी के चलने तक ठहरने की जरूरत नहीं है। बैठ तो गई, अब पहुँच जाऊँगी ही—”

“नहीं, मौसी, क्या हुआ फिर—”

“साँझ से पहले तुम वापस पहुँच जाओ, इसीलिए कहती हूँ। सन्ध्या के झुटपुटे में शशि को थकेले मत छोड़ो—बड़ा उदास समय होता है, खासकर जाड़े में—” एकाएक उनका हाथ शेखर का कन्वा थपथपाता है; शेखर अनुगत होकर प्रणाम के लिए झुकता है, मौसी उसके बाल सहला देती हैं—“जाओ, बेटा”—उनका कण्ठ रूँध आता है और शेखर जानता है कि उनके करुण आशीर्वाद की छाँह उसी पर नहीं, शशि पर भी है....



साँझ और सबेरा, सबेरा और साँझ—इस प्रवाह में ध्रुव सत्य तो एक कि शेखर और शशि साथ हैं, एक सूत्र में गुंथे हैं; कि जीवन में, उद्योग में, एक उद्देश्य है, एक साध्य है, जिसमें से स्वयं प्रेरणा का सोता फूटता है...कुछ अवश्य करना है—बहुत कुछ करना है—शशि के लिए और अपने साथ के लिए....

“सुधारक, तुम्हारा ध्यान समाज की तरफ कम और भोजन की तरफ ज्यादा होता जा रहा है—तय कर लो, पहले सुधारक हो कि रसोइया !”

“क्यों ? और सब कुछ की तरह हमारा पाकशास्त्र भी सुधार माँगता है—वह भी तो शास्त्र है—”

“और उसमें भी रचनात्मक अभिव्यंजना की गुंजाइश है—क्यों न ? पर सवाल यह है कि तुम्हारे अनुकूल कौन-सा माध्यम है—कलम और कागज, या बेलन और आटा ।”

“तुम यह तुलना करती हो तो देखता हूँ, दोनों एक ही बात हैं। रोटी बनाता है

रगोदमा, गाने हैं मेहमान, तारोफ़ होती है गृहस्वामी की। निताब निगठा है लेखक, मजा लेनी है जनता, और मुनाफ़ा पाता है प्रकाशक !”

“देगती है कि शरीर को थोड़ा कष्ट देने से तुम्हारी बुद्धि बहुत ताज़ी हो गई है : अब कुछ काम-धाम धारम्भ करोने कि नहीं ? मैं अब धरना कोई काम तुम्हें नहीं करने दूँगी—”

“अब लिखूँगा। बल्कि बहुत-सा तो लिखा रहा है।” शेखर जल्दी से कहता है, क्योंकि शनि यद्यपि कुछ स्वस्थ दीखती है तथापि इनकी स्वस्थ धमनी नहीं है कि ऐसी समय ले ले। “लेकिन समस्या लिखने की नहीं है, तुम जानती हो ; समस्या यह है कि लिखकर क्या हो ! रोटी तो पक जायगी, पर अगर मछुत के घर कोई पाहुने न आए तो ?”

“तुम्हो कहा करते हो कि धर्म की शक्ति बड़ी तक है, जहाँ तक वह धर्म को साथ में चलता है—नहा तो धर्म जीतेगा ? अगर अच्छा खाना आह्वान का ही होता हो, तब तो ठीक है, पर जब बीसा न हो—”

“पर दवाकर और स्वास्थ्यकर में भी तो भेद है, और मैं अगर....”

“यों उलटी बातें माँघने में काम नहीं चलेगा—जो स्वास्थ्यकर है, वह दवाकर भी हो, इसका उपयोग करना होगा—”

“शनि, वह जो मुबार-सभा के लिए वक्तव्य तैयार किया था, उसे पूरा कर दूँ तो कुछ काम का हो ?”

“पूरा कर दो। जब तक लिखने की सुविधा है, तब तक जितना सब लिख सको, लिख जानो—क्योंकि जब साथ ही उसे निकालने की भी चिन्ता हो, तब लिखने में बाधा होगी—”

“पर वह चिन्ता तो धमी रहेगी ही ! अब—”

“धमी क्यों ? धमी तीन महीने तुम बेफिक्र लिख सकते हो—कम से कम एक पुस्तक हो जायगी—”

“तीन महीने ? और क्या खाकर—अस्वीकृति के स्तम्भ ?” फिर एकाएक शनि का भाग्य समझकर, “देखो, शनि, मैं इन बातों में नहीं घबरे का। मौखी जो इलाज के लिए दे गई है, वह इलाज में ही आगया, घरे खाने में नहीं, और—तुम्हारे भी खाने में नहीं, समझी ? दो काम की नींव सोचसो होती है।”

शनि निगध-भाव में शेखर की ओर देखने लगी। “अच्छा, मौखी में न लेना, मुम्हजे तोले ?”

तोले खर में, “क्या ?”

शनि ने धीरे-धीरे धरने गले में पकी हुई सोने की जखीर को छु दिया।

“दही है—बाकी तो सब थोड़े छोड़ दार। पर वह एक धबेला है, इसलिए और भी 'दा' नहीं कर सकते।”

शेखर ने बात टालते हुए कहा, "अच्छा, चारा नहीं होगा तो ले लूंगा—इसे जमा जी समझकर रख छोड़ो। अभी तो जो लिखा है, उसका कुछ बनाता हूँ।"

पर उसके मन में यह विचार फिर गया कि उतना पर्याप्त नहीं है—कि उसे और बहुत कुछ लिखना होगा अगर वह उस माला को वहीं बनाए रखना चाहता है, और वह माला भी जो शशि को माँ ने दी थी....

शशि के पास भूमि पर बैठकर, खाट की बाही से पीठ टेककर और उठे हुए घुटनों पर कागज रखकर लिखने का उपक्रम.... चिन्ता ने भी शेखर के मन में वह तीव्रता नहीं जगाई, जिसके खारेपन में लेखनी डुबाकर वह आलोचना करने बैठे; उसका मन अनुभूतियों का छाया-पट है, अनुभूतियाँ जो मधुर होकर भी स्वयं अपने राग-तत्व से पृथक् हो गई हैं, क्योंकि शेखर अपने-आपसे तटस्थ हो गया है, वह लिखने बंठा है.... आलोचना से कुछ अधिक रचनात्मक वह लिखना चाहता है; और उसके निर्वेद सन्तोष के पीछे तीखी अनुभूतियों का भी इतना अवशेष है कि रचना सप्राण हो, सतेज हो....

और यह बांध कि यद्यपि उसकी एकाग्रता में सहायक होने के लिए शशि त्रिलकुल निश्चल पड़ी रहेगी, तथापि शेखर के कन्धे के ऊपर से दो आँखें बराबर उस सफेद फलक पर टिकी हैं, जिस पर शेखर को अपना अन्तरंग विछाना है... उसे लेखक के भाग्य की कटुता पर भाँकने का क्या अधिकार है जब कि लेखन का सबसे बड़ा पुरस्कार उसे प्राप्त है—एक रसज्ञ पाठक जो लिखने से पहले ही पढ़ रहा है—और आस्था से मिलने वाली शक्ति उसे दे रहा है?

किन्तु यह ज्ञान तो बाधा है—ऐसे में वह लिखेगा कैसे?

क्रमशः वह सुख भी पृथक् हो जाएगा, शेखर; वह केवल शक्ति देगा, तुम लिखो तो....

धीरे-धीरे एकाकीपन आया—स्तिग्ध किन्तु सम्पूर्ण....

७

प्रकाश मन्द पड़ने लगा था; शेखर आगे झुकना गया था, जब प्रकाश इतना मन्द हो गया कि झुककर भी देखना दुस्तर हो चला, तब उसने घुटने ढोले छोड़कर, पीठ सीकरने के लिए कन्धे और तिर की पीछे फँका—

शशि की साँस वह स्पष्ट सुन सका, और उसे भान हुआ कि वह कन्धे पर साँस गर्म स्पर्श भी अनुभव कर सकता है... वह पृथक्त्व झुटपुटे में घुल गया; शेखर एक शशि की निकटता से उमड़ आया और कुछ लजा भी गया, "तुम सब पढ़ती रही हो

"शेखर, एक दिन मैं नहीं रहूँगी; तब तुम बहुत बड़े यादमी होगे और कम्पोजि में यों ही पीछे खड़ा होकर पढ़ा करूँगा—और तुम नहीं जानोगे। लेकिन अगर नहीं निखोगे, तो मैं तुम्हारे कान में चिल्ला दूँगी—"

शेखर बत्ती करने लगे उठा ।

“शनि, झूटपुटे में सुब एन गाना गा दो, फिर मैं थोड़ा धीरे तिरांगा, तब तक गाना थाएगा ।” शनि अपनी कुछ गानों मंत्री, ठगड़ा दुध पीती हैं और कुछ रम्यान्वित वेप जो काबड ने बनाए हैं—

यह बिमनी लाल कर रहा था कि कमरे का दरवाजा धातुवरण सुनार हो उठा—

“दोव, जन ।

तिरिद के हृदय-गर्भ प्राग के समीप धर—”

पर गहला रहकर शनि ने कहा, “आज नहीं शेखर, कम गाऊंगी—”

शेखर समझ गया, पर उस समय वह बेदना का नाम सेना नहीं चाहता था, धीरे-धीरे शनि के गान के बीच सुनसुनने लगा । फिर बोला, “यह तो गाना नहीं है—”

“और क्या है ?”

“बिना—शनि, वे गाने सुनाने हैं ?”

“हैं...बिना ।”

शेखर ने लम्ब उठाया, मानो उसे रखने का स्थान खूँड रहा हो ; और उसके भरपूर प्रकाश में शनि के चेहरे का देगने ला ।

तभी तीन-तकनेवाले बच्चों ने धाकर कहा, “हमको आज ऐसे दिन गए हैं—कल हम बागड लाएंगे—आप पतंग जबर बना देंगे न ?” सटकी बड़े चिन्तित भाव से शेखर के मुँह की धार देखने लगी ।

राग भर शेखर चुप रह गया—कितनी दूर की बात थी जब उसने बचन दिया था ... फिर उठान पूछा, “कितने ऐसे मिले हैं ?”

“चार आने—”

“और मुझे दो आने—पिताजी कहते थे कि सड़कियाँ पतंग नहीं उड़ाती—मुझे रंगीन चुन्नी मिली है—”

“पतंग नहीं उड़ाती ?” फिर वो दिखाते हुए मानो हमका कारण याद आ गया हो, “हाँ सच तो, सड़कियाँ गुम्बारे उड़ाती हैं ।”

“आरती गुम्बारा बनाना आता है ?” निगल भाव से सड़की पूछती है ।

“हाँ आता है—”

सड़का कुछ गतिश्रवाण से कहना है “हूँ—सड़के नहीं उड़ाते गुम्बारे ?”

शेखर हँसता है । “अगर बमन्नी चुन्नी छोड़ से तो उका छपने है ।”

शनि सड़की का बुलाकर पुछती है “गुम्बारा नाम क्या है ?”

“कुसुम गुम्बारी । और भइला का नाम बंद है ।”

“बंदगुम्बार मन्दा—” यह मानो अपनी मान-रक्षा बरदा हुआ कहना है ।

“मन्दा, तुम लोग बस बागड सेने जाओ तो पहले मुझसे पूछ जाओ—”

शेखर

वन्चों को जीने तक पहुँचाकर शेखर धीरे-धीरे टहलने लगा। परसों वसन्त-पंचमी
—सवेरे—सवेरे—सवेरे....

●
वसन्तांक निकल गया था, सम्पादक दफ्तर में नहीं थे; किसी तरह शेखर ने उनका पता लगाकर जा पकड़ा। पहले तो उन्होंने पहचाना नहीं, फिर याद दिलाने पर बोले;
“आप मिलिटरी में भी रहे हैं क्या—”

“नहीं तो—”

“बड़े पंचचुमल हैं—”

शेखर पी गया।

“जो कुछ पत्र-पुष्प हम दे सकते हैं, कभी देर नहीं करते—आप जानते हैं, तुरत बान महाकल्यान—”

कड़े स्वर से, “जो।”

“पर काम तो आफिस में जाकर ही हो सकता है—”

“तो मैं साथ चला चल सकता हूँ—”

सम्पादकजी ने कन्वे सिकोड़कर कहा, “चलिए फिर, अभी ही सही।”
एक कापी के पन्ने यों ही उलट-पुलटकर उन्होंने पढ़ते हुए स्वर से कहा, “श्रीचन्द्र-शेखर, पत्र-पुष्प—यह लीजिए।” धीरे-धीरे दराज खोलकर उन्होंने हाथ बढ़ाया और शेखर के आगे पेश किए—दो रुपये। खीसें काढ़ते हुए बोले, “सेवा में—”

शेखर थोड़ी देर आँखें फाड़कर देखता रहा, फिर उसने सम्पादक के हाथ से रुपये खींच लिए। फिर ढीठ होकर बोला, “धन्यवाद।”

दरवाजे के पास पहुँचकर मुँह फेर बोला, “आप खाते में ‘पत्र-पुष्प’ लिखते हैं?”
“हो—क्यों?”

किन्तु सम्पादक की अवज्ञा उचित नहीं है, धैर्य उसे सीखना होगा.... शेखर ने आयात पूर्वक कहा, “यों ही,” और जो उत्तर देना चाहता था, वह मन ही मन दुहरा लिया।
“केवल ‘तोयें’ लिखने से एक शब्द बच जाएगा—”

घड़ों तोयें....

●
पतंग और गुब्बारा देखकर शशि ने पूछा, “यह वन्चों के लिए लाए हो?”
“हां।”

“और अपने लिए?”

“अपने लिए? मैं कोई वन्चा हूँ—”

"पांदा-सा रंग मे धामो, तुम्हें एक रंगान ही रंग दूँ—यमही तो तुम बाँधते हो नहीं—"

"घोर तुम ?" यह अनिवार्य प्रश्न पूछकर शेखर चुप लगा गया; उसने सोचा कि क्या बड़े सवेंरे मूमने जाकर वह सरसों के फून से भाएगा और शशि को उपहार देगा....

"हर बान में मैं जरूरी हूँ ?—"

"अच्छा, दोपहर को ले आऊंगा, अभी तुम ठंड में हाथ रत भिगोमो—"

जब दोपहर तक अच्चे पूछने नहीं आए, तब शेखर ने हो पुकारा, "वेद ! वेद कुमार ! कुसुम !"

पांदा देर बाद वेद मन्मीर मुद्रा लिए धाया और कमरे के बाहर ही खड़ा रहा ।

शेखर ने कहा, "बनों, पान्दर आ जाओ—पतंग नहीं बनवाने—"

वेद ने हृत्प्रम स्वर से धीरे-धीरे कहा, "माँ ने मना किया है ।"

"बनों—दया मना किया है—"

"कहती है, वहाँ मज जाओ !" फिर शशि की ओर देखता हुआ, "कहती है, भले घर के लड़के ऐसी जगह नहीं जाते—"

शेखर चुपचाप रह गया—अनसियों से शशि की ओर देखकर दृष्टि फिर सामने कर ली ।

वेद मुड़कर धीरे-धीरे जाने लगा ।

"टहरो, वेद—ये संते जाओ ।" शेखर ने छहों पतंग, बोर, मंझ और गुबारा उड़े देते हुए कहा, "मह कुसुम को दे देना—इसके नीचे सोमबती जलाने से यह उड़ जाएगा—"

वेद का चेहरा धाए भर खिन गया, फिर झुक गया । "माँ बर्दिगी—"

"नहीं, इन्हें ले जाकर छत पर रत दो; अपने पैरों से दो-एक ओर से मारा और सब उड़ा लेना । यहाँ नहीं आओगे तब तो माँ कुछ नहीं कहेंगी न—"

वेद खना गया ।

शेखर कमरे में यों इधर-उधर करने लगा, मानो उसे कुछ काम ही हो ।

शशि ने कहा, "शेखर, जाने दो रंग, यो ही समय लपट करना है; बैठकर निम्नो—मा लामो, मुझे लिसाओ; तुम बोलते जाओ, मैं लिखती हूँ—"

शेखर चुपचाप उसके पास बैठ गया, यद्यपि वह जानता था कि उस समय वह न लिख सकेगा, न लिखा सकेगा; उस समय केवल सरसों के फूनों का एक गुच्छा उनकी दृष्टि के धामे था, जो वह कल लड़के नहीं लाएगा....

क्या शशि को वे भाँखें धाव भी—मव भी—मेरे कन्धे के ऊपर से इस कागज की ओर झूक रही होगी, जो मैं रंग रहा हूँ, और जिस की इस मानटेन के पीछे धातु में पड़ती होगी कि मैं कैसा लिख रहा हूँ ? मैं, जो बड़ा धातु तो बना हुआ हूँ मान के बिना पर गढ़ा अनस्तित्व के गर्त में झूक रहा हूँ...शशि, मेरे कन्धे से

रे चीखने का स्वर कभी नहीं पड़ा है—और तुम्हारे स्वर के प्रति मैं वहरा अभी हुआ हूँ, धीमे से धीमे स्वर के प्रति भी नहीं....कन्वे के ऊपर से आती हुई, श्रुति-के पास हलके से रोमांचकारी परस से छूनेवाली तुम्हारी नियमित साँस का ही घर में निरन्तर सुनता रहा हूँ; और झूठ मैंने नहीं लिखा....

७

भले घर के वच्चे जिन लोगों के पास नहीं जाते, उन लोगों का एक-एक कदम उन वच्चों को बड़े सजग-भाव से देखा करते हैं....जब सूर्य ऊपर चढ़ आया और भीतर आँगन में धूप आ गई, तब शशि देहरी पर आ बैठी थी कि आकाश देख ले और छत पर किल-कारते वच्चों का स्वर सुन ले; और शेखर उसके पास दीवार के सहारे खड़ा हो गया। किन्तु एकाएक उसने जाना, ऊपर से कई आँखें झाँककर उन दोनों को देख रही हैं, और उन आँखों में वैसा ही अपलक शीतल पर्यवेक्षण है, जैसा कैंकड़ों या अन्य ठण्डे रक्त के जीवों में होता है....जब उसने स्थिर दृष्टि से ऊपर देखा तो एकाएक कई हाथ उठे और साड़ी या चुनरी का पल्ला आगे खींच लाए; कैंकड़ों की आँखें उस पर से बिलकुल हटकर शशि पर टिक गईं। केवल एक बार वेद ने झाँककर आँगन में देखा, फिर एक स-संभ्रम दृष्टि सामने डालकर हट गया। शेखर कमरे के भीतर चला गया और धीरे-धीरे टहलने लगा; थोड़ी देर बाद शशि भी चली आई और लेट गई।

काफ़ी देर बाद—तीसरे पहर के लगभग—शेखर ने कुसुम के चीखकर रोने का स्वर सुना और आँगन में निकल आया। थोड़ी देर बाद एक धमकी से चीख दब गई, फिर कोठे की मुंडेर पर कुसुम का चेहरा आ गया, जिसके थोठे भ्रू भी सुबकियों से कुंचित हो-हो उठते थे, पर जिसकी आँखें निर्निमेष नीचे देख रही थीं। गुंवारा फाड़ डाला गया था....

८

चौतल्ले पर रहने के अनेक लाभ हैं; चौतल्ला संसार को काफ़ी दूरी पर रख सकता है, किन्तु चौतल्ले की भी एक छत है; और जाड़े की धूप में संसार की लहरें उछल-उछल आती हैं....शेखर अनुभव करने लगा कि वह कमरा जो आश्रय था, अब कारागार बन गया है, और अब वहाँ अधिक रहना नहीं होगा। वह जानता था कि शशि भी अनुभव करती है; किन्तु दोनों ही जैसे अनदेखी का अभिनय कर रहे थे....

पर यहाँ रहना नहीं होगा, तो क्या लाहौर में कहीं भी रहना होगा—क्या स्थान एक से नहीं हो जाएँगे—हो गए हैं? किन्तु अन्यत्र कहाँ—और कैसे ... सामर्थ्य के नाम पर शेखर के पास यो 'हमारा समाज' की पुनर्मण्डित हस्तलिखित 'फुटुम्व का इतिहास', 'समाज और राजनीति', दो एक और निबन्ध, तीन-चार कहानी अपने दो हाथ और ठोठ मन,—और शशि का स्नेहिल आशीर्वाद—सप्तपर्णी की

“और आपका ही लिखा समझा जाए, तो भी मैं बच ही जाऊँगा, ऐसा तो नहीं है—”

“ठीक । पर मैं तो आपको सर्वाधिकार दे रहा हूँ, आप हस्तलिपि के साथ जो करना चाहें करें—”

अन्त में यह निश्चय हुआ कि ‘हमारा समाज’ की लिपि सम्पादक को दे दी जाएगी; वे उसे संशोधित करके पहले क्रमशः छापेंगे, और फिर यदि पाठकों में उत्साह दौखेगा तो पुस्तकाकार—पुस्तक पर सम्पादक का नाम होगा, लेखक का नहीं । सम्पादक को घटाने-वढ़ाने, बदलने, छापने या न छापने की पूरी स्वतन्त्रता होगी । और इस सर्वाधिकार विसर्जन के बदले शेखर पाएगा पुस्तक प्रकाशन के दो मास बाद सौ रुपये; या तुरत साठ रुपये ; किन्तु तुरत की कार्रवाई के लिए उसे एक शर्तनामा लिखकर देना होगा जिसमें ये सब बातें लिखी जाएँगी ।

इसके लिए गवाह भी आवश्यक समझे गए ; फलतः जहाँ शेखर ने पहले उनसे भेंट की थी, वहीं पर शर्तनामा लिखा गया और शेखर ने हस्ताक्षर कर दिए । वहीं से रुपया लेकर सम्पादक शेखर को देने लगे तो बोले, “आपने जिन शर्तों पर स्वीकृति दी है, उनका पूरा अभिप्राय आप समझते ही हैं । वाद में सम्पादक से मतभेद होने पर आपको गिला नहीं होना चाहिए । हम सद्भावना से ही सब कुछ कर रहे हैं; आपको यह सन्तोष होना चाहिए कि आपके विचारों का पूरा नहीं, तो आंशिक प्रचार तो हो रहा है ।”

शेखर इसे कड़वी घूंट करके पी गया । सम्पादक फिर कहने लगे, “आजकल ऐसा जमाना है कि सद्भावना का श्रेय किसी को नहीं मिलता । आप ही कल को सोचें कि पुस्तक मैंने क्यों दे दी—”

अबकी शेखर से नहीं रहा गया । बोला, “आप अगर डरते हैं कि मैं पीछे पुस्तक पर अपना लेखकत्व का अधिकार जमाना चाहूँगा, तो यह डर निर्मूल है । प्रकाशन के बाद पुस्तक में कुछ रहेगा, जिस पर मैं अधिकार जमाना चाहूँगा या जिसका मैं उत्तरदायी भी हूँगा, ऐसा भरोसा मुझे नहीं है । मैंने तो पुस्तक कुँए में डाल दी—और मुंडेर पर पड़े हुए साठ रुपए उठा लिए ।”

सम्पादक चुपचाप शेखर के मुँह की ओर देखते रहे । दो गवाहों में से एक का, जो युवक था, चेहरा देखकर शेखर को लगा कि उसमें कुछ करुणा-मिश्रित उत्सुकता है ... शेखर ने नमस्कार करके विदा ली और बाहर निकल आया ।

एकाएक उसके पीछे एक स्वर ने कहा, “क्षमा कीजिएगा—”

शेखर ने मुड़कर देखा, वही युवक कुछ झिझकता हुआ उससे बात करने को चला आ रहा था ।

“कहिए—”

साठ रुपये....बड़ी चीज होते हैं, क्योंकि वे मुक्ति का साधन भी हो सकते हैं....एक घर में जहाँ चारों ओर—बल्कि नौ दिशाओं में—पड़ोसियों की हवाई है और ऊपर से पाले की मार!—बैठे रहने के शाप से मुक्ति का साधन, क्योंकि बिना ऋण चुकाए और आगे बढ़ने का प्रबन्ध किए मुक्ति वहाँ है! वह छोटा-सा कोणाकार कमरा एक दिन जिस आसानी से सप्तपर्णी की छाँह पाकर घर बन गया था, उसी आसानी से सिमट भी गया, क्योंकि अभी छाँह ही छाँह उसने जानी थी, जड़ों की जकड़ नहीं। पुस्तकें एक पेटो में चली गई; कपड़े एक ट्रंक में—शशि के पास अभी था ही क्या!—और माँगा हुआ विस्तर लीटाकर शेखर जो दो मोटे खुरदुरे कम्बल ले आया था, वे विस्तरबन्द का काम दे सकते थे....शेखर ने और सब तय्यारी कर ली थी; केवल विस्तर दोनों पड़े थे, क्योंकि अभी कुछ निश्चय नहीं हुआ था कि जाया कहाँ जाए.... शेखर के मन में रह-रहकर विचार आता था कि जब स्थानान्तर करना ही है, तो क्यों न इतनी दूर जाया जाए कि आस-पास के गुच्छरों के धागों की खींच वहाँ तक नहीं पहुँचे; कि शान्ति से काम किया जा सके, शशि कुछ विश्राम पाकर स्वस्थ हो सके, और जीवन को कुछ अर्थ दिया जा सके....पूँजी उनके पास नहीं है, वे शून्य से ही आरम्भ करने को प्रस्तुत हैं, ऋण से आरम्भ करने की वाध्यता में क्यों रहें, पर साथ ही उसे कुछ डर भी लगता था कि बहुत दूर जाना कहीं शशि के लिए अहितकर न हो; एक कोमल भावना उसे कहती थी कि पौधा अपने स्वाभाविक वातावरण से बहुत दूर जाकर नहीं पनपता....शशि में दृढ़ता है और सहिष्णुता है अवश्य, पर....कभी वह सोचता, जब स्वभाव ने उसे और परिस्थिति ने शशि को एक वातचक्र में डाल दिया है, जहाँ घूमना ही घूमना है, भटकना और-विद्रोह करना; तो क्यों न वह सब भूलकर अपने को और शशि को उसी अनिश्चित साहसिक जीवन में भोंक दे; किन्तु फिर शशि की स्वास्थ्य-चिन्ता उसे रोक देती। और इस प्रकार बाहर सब ओर से हाथ समेट लेने पर भी उस कोणाकार कमरे के दोनों भागों में दो नियमित साँसों का सखा-भाव अधुण पनपता जाता....

रामकृष्ण दो दिन देर करके आया; साथ एक और व्यक्ति को लेकर। शेखर उन्हें लेकर कमरे के बैठक अंश में बैठा, शशि कोने की ओट हो ली।

रामकृष्ण ने कहा, "हम आप से एकान्त में बात करना चाहते थे—"

इशारा समझकर शेखर बोला, "मेरी बहिन मुझसे अधिक विश्वासपात्र है—और भरसक मेरी मदद भी करेगी—"

"ओहो—तब तो उन्हें हमारे साथ सहयोग करना चाहिए—हमारे पास स्त्री-कार्यकर्त्ताओं की कमी है—"

काम की बातें होने लगीं। शेखर संगठन के बारे में बहुत कुछ जानना चाहता था; किन्तु उस समय की मानसिक स्थिति में पूछने की बजाय कुछ करने की माँग ही उसमें

ये 'घर' में शेखर किरायेदार नहीं था; लगभग अतिथि था। रामकृष्ण ने आकर
था कि अलग मकान तो बहुत तलाश करके भी नहीं मिल सका; और फिर ऐसी
रहता भी ठीक नहीं, जहाँ बहुत अधिक पूछताछ हो, क्योंकि यह उनके काम के
सबसे अधिक शंकास्पद बात है, इसलिए उनके दिल ने निश्चय किया है कि एक
योगी के यहाँ ही शेखर को स्थान दिला दिया जाए; शशि और वह दोनों वहीं रहेंगे
र खाने की व्यवस्था भी घर से ही होगी, यद्यपि उन्हें छोटे-छोटे दो अलग कमरे मिल
एँगे और वे चाहेंगे तो खाना भी कमरे में पहुँचा दिया जाएगा, अन्यथा खाना वे परि-
ार के साथ खा सकेंगे। और कमरों के लिए उन्हें किराया नहीं देना पड़ेगा; वह सह-
योगी अपने चन्दे के रूप में दिल को भेंट दे देगा। केवल दोनों के भोजन के लिए तीस

रूपये मासिक की व्यवस्था शेखर करेगा....
और क्रमशः शेखर ने पाया कि वह एक नए जीवन में प्रवेश कर रहा है; समाज के
प्रति उसका विद्रोह भाव उग्र तो उतना ही है, किन्तु समाज के प्रति उतना न होकर एक
नया रूप ले रहा है—एक अमूर्त भावना का विरोध बनता जा रहा है—भावना जिसका
धुंधला-सा ज्ञान उसे पहले भी था, किन्तु जो जेल के दस महीनों में कुछ स्पष्ट होती गई
थी और अब इन नए सहयोगियों के सम्पर्क से एकाएक स्थिर हो चली थी—इतनी स्थिर
और स्पष्ट मानो मूर्त होती जा रही हो....कभी-कभी एक भीषण सन्देह उसके भीतर
जाग उठता कि वह फिर एक बार मूर्ख तो नहीं बन रहा है, क्योंकि उसके अनजाने उसकी
बौद्धिक घृणा को एक सर्वथा अव्यक्त और स्थूल पात्र दिया जा रहा है, जिसमें बँधकर
उसकी गति नष्ट हो जाएगी और वह केवल विष उत्पन्न करनेवाली रह जाएगी, आग
नहीं....फिर कभी वह सोचता कि उसका समूचा रागात्मक जीवन एक हवाई पीठिका
पर बीतता रहा है और अब एक मजबूत भित्ति मिल जाने से वह दृढ़ हो जाएगा और
यथार्थ के साथ अधिक सामंजस्य पा सकेगा....

याँ दिन बीतते चले, और वह गुप्त आन्दोलन के फैले हुए जाल में अधिकाधिक
उलझता चला। उस उलझने में सन्तोष था, सान्त्वना थी, एक छिपा दर्प था, जो जानता
है कि अपने को स्वेच्छया भाड़ में भोंक रहा है, और एक आशा थी कि इस प्रकार
उठाया हुआ खतरा भूल का भो मार्जन करता है और इसलिए जीवन को सार्थकता देता
है। दाँव खेलना बुरा है, किन्तु जब यह जानते हुए खेला जाए कि पाँसे आग के हैं और
उन्हें छूने से ही हाथ जलते हैं, तब क्या उसके समर्थन में कुछ भी नहीं है? शेखर
जानता था कि यह भावना-मूलक क्रान्तिकारिता बड़ी खतरनाक हो सकती है, क्योंकि
इसका बल आकाश-जलता का बल है, जिसकी जड़ें कहीं नहीं होतीं और जो इसलिए अपने
प्राधार को ही खा जाती है; किन्तु वह यह भी आशा करता था कि जब वह इस मौलिक
दुर्बलता को पहचानता है, तब उसका शिकार नहीं होगा; यथासमय बुद्धि उसकी सहाय
करेगी और सूने मोर्चे को रक्षा करने आ डटेगी....
और इस अ-यथार्थता के माया-प्रांगण में यथार्थ एक था, जिसे वह निष्कम्प क

धामे था.... शशि का प्यार, जिसकी दृढ़ धनिकी के मोचे या शेखर का द्रिग विरवास कि वह प्यार जान से परे है, अनुभूति में दड़ा... यह विरवास और यह बोध ही इतना बड़ा मयार्थ हो गया था कि पकड़ में न आए—शेखर कभी इस विषय में सोचने लगता तो एकाएक उसे जान पड़ता कि यही वह सचमे बड़ा म-मयार्थ है, जो और सब पार्थिव को भी अपार्थिव बनाए दे रहा है....

प्यार प्लवन-शीला नदी की तरह है—उनमें स्वयं की ध्वसा नहीं होती। जिस प्रकार नदी या तो अपने अन्तर्वेग से अपने पाट को काटती और गहरा करती हुई बसती है, या फिर अपने प्रवाह को तलछट में नए कगार बनाती और पाट पूरती जाती है, उती प्रकार प्यार भी या घटता है या बढ़ता जाता है—या बदलने लगता है—नदी की धारा की ही भाँति !

और अ-पार्थिव महद्गुणों के उम प्लवन में भी शेखर को धीरे-धीरे बोध होने लगा कि कहीं कुछ अवरोध या अटकाव है; उम अगाध और अपारिमेय में वहाँ कुछ ऊना है.... नमने अपने को नए काम में दुबा लिया था; और वह देखता था कि शशि उसके काम में हाथ बटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था, उसे अपने यदाती हुई निरन्तर पढ़ती और संवतन करती रहनी है। इससे वह गमभ्रता था कि दोनों अपने-अपने काम में पूर्णतया निरत हैं और अपने अस्तित्व को सार्थक कर रहे हैं, और उम मार्पकता को पुष्ट करनेवाला निर्गम है उनका परस्पर समीपत्व, उनका सह-योग और मरप, उनका यह चितना बड़ा प्यार—शेखर के जीवन का सबसे बड़ा सत्य.... किन्तु कभी अघानक उनकी दृष्टि मिलने पर शेखर की आँखें एक अस्पष्ट असन्तोष और क्रिक्त में भरकर परे हट जाती और जैसे उसका दृश्यबोध बिखर जाता; और फिर एका-एक वह अपने-आपने लीक उठता कि क्यों वह इस पूर्णता में एक-रिक्त का और एक मंकोच का सूजन कर रहा है... तब वह इस मंकोच को धो डालने के लिए शशि के और निरत होने का यत्न करता, अत्यन्त आत्मीयता के कुछ एक क्षणों में शशि के स्वास्थ्य की चिन्ता में भर उठता और जान नेता कि भीतर कहीं शशि रुग्ण है और अपनी पीडा को अनेका कर रही है, क्योंकि शेखर के अतिरिक्त कुछ नहीं देखना चाहती, कि उस एकाग्रता में एक क्षातुर धागंका है कि वह और कुछ भी देखेगा तो मव छिन्न-भिन्न हो जाएगा—उस शास्त्रप्रस्ता बन्दिनी के दुर्ग को तरह, जिसका बल्पाप निरन्तर बुनाई (उपेह-बुन !) करते रहने में था, और जिसके दर्पण में बाहर की दुनिया का प्रतिबिम्ब देखते ही सब कुछ गहन-तिमिरासन्न होकर ध्वस्त हो जाएगा.... और इसका बोध होते ही उसके अपने भीतर अगणित धागंकाएँ जाग उठतीं; उनकी कोड़े की-सी मार से उसका उद्भिन्न प्यार और भी तिसमिता उठता, उसे लगता कि वह शशि के और भी इतना निरत माना चाहता है जिसना कि हो नहीं सकता, हो नहीं सकता, सोचा नहीं जा सकता, क्योंकि वह उसमे भी निकट है जिसना कि वेदना से टोस.... प्यार की वेदना, कि वेदना का प्यार—‘दिय, तुम्हारे प्यार की वेदना मुझसे सही नहीं जाती....’

०

पचें श्रीर पैम्फलेट लिखने का काम बहुत अधिक नहीं था; शेखर के पास समय काफी रहता था। क्रमशः वह जानने लगा कि दल का कार्यक्रम केवल प्रचार तक सीमित नहीं है, उसकी बहुमुखी कार्य—प्रगति थी, अस्त्र-संग्रह, विस्फोटक पदार्थों की तय्यारी और अनेक प्रकार के रासायनिक अन्वेषण, गुप्त संग्रहालयों का संगठन आदि कई श्रीर भी दिशाएँ हैं....दल के विषय में उसकी जानकारी का वृत्त क्रमशः बढ़ा होता जा रहा था, या होने दिया जा रहा था; प्रकाशन के कामों में वह केवल सहायक से बढ़कर सहकारी संचालक-सा हो चला था और इस नाते कार्य की अन्य दिशाओं का ज्ञान उसके लिए स्वाभाविक-सा मान लिया गया था....श्रीर प्रचार के अन्तर्गत स्त्रियों और विद्यार्थी-समाज में जागृति और राजनैतिक असन्तोष फैलाने का जो कार्य था, उसमें शशि का सहयोग माँगना इतना अधिक स्वाभाविक था कि शेखर ने कभी संकल्प-पूर्वक वैसा सोचा भी नहीं, यों ही कर डाला...शशि भी थोड़ा-थोड़ा लिखने लगी, श्रीर मुद्रण के काम में भी सहायता देने लगी; दो एक बार घूमकर छिपे-छिपे पच्चों का वितरण भी कर आई....फिर (न जाने किसकी सम्मति से) सोचा गया कि ऐसे लुका-छिपी के काम दूसरे भी कर सकते हैं, अतः शशि जहाँ तक हो सके, प्रकाश्य ही काम करे, और इसके लिए विद्यार्थियों की सभाओं में जावे....

वैसा भी होने लगा। शेखर कभी विद्यार्थी की सभाओं में चला जाता, क्योंकि प्रचार की योग्यता के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिनमें प्रचार किया जाए, उनकी मनोधारा किधर बहती है, किन्तु वह कार्रवाई में कोई भाग न लेता, वह काम दूसरे ही किया करते। शशि विद्यार्थिनियों या कभी स्त्रियों की मीटिंगों में जाती, और वहाँ से लौटकर शेखर को सुनाती कि क्या-क्या हुआ, किसने क्या कहा और किसने क्या उत्तर दिया....कभी-कभी उसकी आँखें एकाएक उत्साह से भर उठतीं और वह मीटिंग में बरती हुई किसी उक्ति का विशदीकरण करने लगती; उसमें इतनी तन्मय हो जाती कि शेखर प्रसन्न होकर सोचता, शशि सुखी है और तुष्ट है, जीवन में अर्थ की कमी उसे नहीं खल रही....और कभी एकाएक चमत्कृत भाव से वह पाता कि पढ़कर और तर्क और ऊहापोह द्वारा वह जहाँ नहीं पहुँचा था, वहाँ शशि अपने सहज सूक्ष्म बोध द्वारा पहुँच गई है। तब वह मुग्न दृष्टि से शशि को आर देखता रह जाता, और शशि को पुक्तियाँ और उक्तियाँ उसके आलोकित मनोगुम्फ में गुँजा करतीं....

“हम लोगों की नैतिकता भौगोलिक नैतिकता है—विन्ध्याचल के इस पार उत्तर भारत है, उस पार दक्षिणी प्रायद्वीप है—उसी प्रकार यह नीति की रेखा है, इसके इस पार सत् है, उस पार असत्....इसीलिए हमारी नैतिकता निष्प्राण है; उसका अन्तिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नहीं है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक....

"इस नीतिवृत्ता के मूल में निरोध है, इससे यह स्वयं नकारात्मक है। संसार के सभी स्मृति-शास्त्रों की पड़ताल की जाए; उनमें जो वैविध्य या विभिन्नता है, उसे गौरवान्तर एक घोर रस दिया जाए, तो सरने शतरंज नेत्र के नाम पर नित्ये तीन प्रस्ताव मूल—कि स्तोत्र कर, सत्य बोल, और मनस्त्वन्मन न कर। यहरे बाकर देखें तो ये क्या है? तीन बड़े निरोध—यहका मानव की स्वाभाविक तोम-वृत्ति का निरोध, दूसरा उसके सहज मन का निरोध, और तीसरा उसकी सहज इन्द्र-वृत्ति का वर्जन! कभी निरोध नीति का पुर हो—एक न नीति इसकी बड़ी हो कि सहज-वृत्ति का बहिष्कार करने का बरान उसे व्यापृत कर ले, अपने में सौल ले, तीन बार?"

दूरे होते-होते शब्द हो बाहर, फिर अनुपूर्व में हृत् एक खोखला-सा स्वर भा प्रभा, घोर रोकर के दूर को सहना नीचजों हुई एक गाँठ कहती कि एक बुनियादी सत्य की प्रवर्धन पर महा हुमा यह सब विवेक व्यर्थ है, व्यर्थ, और विनिरिगम है यह बोध, जिसमें रस की चरमति नहीं है!

रंगार से शोलाहन पाकर शक्ति क्रमशः अधिकधिक बढ़ी समाधियों में जाने लगी, विद्याविधियों की सुविधियों का स्थान कानून के विद्यापियों और विद्यापिणियों की समाधियों ने विना, फिर विद्यापियों के अतिरिक्त अन्य जनता को समाएँ भी शामिल हो गई। रंगार स्वयं न जाता; उत्कम्हा-पूर्वक शक्ति के सोटने को प्रतीक्षा करता, और उसके सोटने पर उनके दीप्त चेहरे को देखकर ऐसा प्रसन्न होता, मानो उसी ने कोई जय-शाम रिमा हो.... इस उस्ताह में वह यह कोन्ह न पाता कि शक्ति के चेहरे की वह ताल और रस शक्ति विजय की या उल्लास की ही दीप्ति है या घोर किसी भ्रान्तरिक उद्वेग की, घोर घाने उस्ताह में वह यह न देखता कि शक्ति के स्वर में जो खनाव है, वह मॉटिंग के या विषय के महत्व के साथ कोई अनुपात नहीं रखता... सन्ध्या घाटी घोर रात पती हो जाती, उनके दो कमरों का धलपान जाड़े के चपुल में जकड़ा जाता, और रंगार शक्ति के कमरे के प्रतापारण मीन के कारण उठकर झककर देखता कि शक्ति निनिरोध घन की घोर देखता पड़ी है.... कभी वह इतने से भी नहीं समझता; फिर कभी यह बर से नर जाता कि शक्ति स्वयं नहीं है घोर कभी प्रचानक उसका साथ छोड़कर जाती बाएँ—किन्तु इससे घाने उसकी बुद्धि न जाती—काम के घोर कुछ अपने इस पार के सम्मोहन ने मानो एक विशेष सोमा से पार देखने को उसकी शक्ति को सुना दिया था....

इसी मंत्र-बद्ध मन-बोध से रंगार ने शक्ति को एक सार्वजनिक समा के लिए तय्यार किया, जिसमें बहुत-से अन्य शोननेवाले थे। प्रमुहयोग भान्दोलन की तात्कालिक लहर अपने उत्थान पर थी, घोर बाढ़े जहाँ, जैसी भी समा हो, उसमें राजनैतिक प्ररनों का उगम होना अनिवार्य हो गया था; इसलिए शुभ हलों के लोग भी सब तरह की

सभाओं में भाग लेने लगे थे कि उनके सहारे अपने प्रभाव का वृत्त और अपने सहायकों की संख्या बढ़ा सकें। इस विशेष सभा में मुख्य विषय 'स्त्रियों के समानाधिकार' पर बोलने के लिए शशि को तैयार करके शेखर ने स्वयं भी साध जाने का निश्चय किया था, क्योंकि सभाओं के सहारे ही नए सम्बन्ध-सूत्र जोड़े जा सकते हैं और नए सम्भाव्य सहायकों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है....

सभा में मंच के पास ही एक ओर की घगली पंक्तियों में बैठे हुए शेखर का व्यक्तित्व मानो दो असमान खण्डों में विभक्त हो गया था—एक वक्ताओं की बात सुन रहा था और दूसरा जैसे समूची सभा के आन्तरिक स्पन्दन को भाँप रहा था—उसके पुंज-रूप को भी; और पुंज के अन्दर अलग-अलग इकाइयों के अलग-अलग स्पन्दन को भी, उसकी अनुकूलता प्रतिकूलता का व्यास नापता हुआ....

शशि बोलने को उठी—धीरे-धीरे आगे बढ़कर, एक हाथ की उँगलियाँ हल्के स्पर्श से मेज पर टेककर खड़ी हो गई, एक उछलती दृष्टि उपस्थित जन-समूह को जैसे चीन्हा गई, फिर शशि ने बोलना आरम्भ किया।

उस दुहरी सजगता से देखते हुए शेखर ने जाना कि शशि के सामने आते ही जनता में कौतूहल और आत्सुक्य की एक लहर दौड़ गई है, उसका सामूहिक मन जैसे आगे को झुक आया है, और उसके साथ ही शशि जैसे उसी अनुपात में सिमट गई है, पीछे हट गई है, और एक आवश्यक बात कहने की लाचारी का-सा अनिच्छुक भाव उसके चेहरे पर घना हो आया है ...हल्का-सा अभिमान का भाव उसके मन में उठा, शशि इतनी धिरी होकर भी इन सबसे कितनी दूर है, कितनी तटस्थ ! जिनका भीतरी जीवन सम्पन्न है, विशाल है, वही बाहरी जीवन से इतने असंलग्न अनासक्त रह सकते हैं....और क्या इस भीतरी सम्पन्नता का ही अनुमान उस सभा को नहीं ललकार रहा, क्या उसी के आकर्षण से वह आगे नहीं खिंची हुई, क्या....

शेखर सभा के एक-एक चेहरे का भाव पढ़ने में इतना तन्मय हो गया कि कुछ भी सुनना भूल गया ; यों शशि के घने, शान्त, पर किसी आन्तरिक स्पन्दन से गुंजते हुए स्वर की लहरें अनसुनी भी उसके भीतर पैठ रही थीं; जब तक स्वर वैसा था तब तक शेखर आश्वस्त था और अर्थ की उपलब्धि आवश्यक नहीं थी—

पर स्वर की गूँज में एक हल्की-सी कम्पन क्या है, उसका घनापन क्यों बिखरने-सा लगा है, उस शान्ति के नीचे यह विद्रोही तीखापन क्या जगा आ रहा है—

....“आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श—किन्तु अभिमान की काँई के नीचे आदर्श का पानी क्या कभी बहता है, कि बँधकर सड़ गया है ? गृहस्थ-धर्म उभयमुखी होता है ; किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देव कुछ भी नहीं है ; सत्य तो दूर, कण्ठा भी देव नहीं रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है ; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे ! और इसकी कहीं शरील

नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'घोर शादी की किस लिए जाती है ?' यह धादन नहीं, धादनों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सुखी स्वप्ना में निर्जीव हृदयों का ढोपा है—"

शेखर जैसे सोचता-सा है कि शनि सभा से दूर है, किन्तु अपनी बात से विलकुल भी दूर नहीं है—धन्य लोग जैसे विषय के बाहर में, ऊपर से बोलते हैं, पर शनि में वह धाग-सा गुलम रहा है—क्या इतनी मोक्षता के साथ सोचना चाहिए ? किन्तु, नहीं तो सोचना ही क्यों चाहिए, अगर देने की आशा नहीं है तो घेंपेरा—

उसकी सोचना प्रचकचाई-सी फिर सभी की घोर सौटती है—लोग तो गुन नहीं, मुन्हा रहे हैं—घोर शनि की आँखों की स्थिरता जैसे विचलित सभा में बही—कही-भी, कुछ-भी खोज रही है, जिस पर टिक जाएँ—एकाएक सभा में बही से बह-कहा उठता है घोर फिर गारी सभा भट्टहास में गूँज उठती है, जिसकी गड़गड़ाहट की भेदती है या तो दो-चार सीटियों या शनि का खोपता-सा स्वर, "ठाक है, यही है आपके पास देने का, मानका धादन, यह हृदयहीन बुद्धिहीन रेंवता हुआ तिरस्कार—"

सभा की क्या हो गया है ? घोर क्या यह शनि हो है ? नहीं, शनि, नहीं, सभा से नरने का कोई साम नहीं है, सभा का भविष्यक समूह का पुज्यत भविष्यक है, उससे—

शनि का समतमामा हुआ चेहरा देखकर शेखर लपककर मंच पर पहुँचा घोर चारों घोर घाई हुई उठाती हुई अभ्यवस्था के बीच से उसे हटाने के लिए उसे लोचने लगा, पर शनि जैसे उसे जानती ही नहीं थी, केवल सभा को जानती थी, घोर अपने घाहू समतमामा गारीय को....कितों तरह पीछे लोचकर शेखर उसे मंच से हटाकर पीछे के कमरे तक ले गया, वहाँ एक कुर्ची पर उसे बसाते बिठाकर उसने मंच की घोर का द्वार पड़ाके के साथ बन्द कर दिया; ऊपर से आता हुआ बहुरूप कोलाहल घोमा पड़ा भी शनि फिर उठी, पर शेखर उसे बाहर की घोर से गया; जाता ताँगा गेबनर शनि की उसमें बिठाकर स्वयं बैठ गया, "पत्नी—" कहकर "किपर बाबूजी ?" का उत्तर देते-देते उसने अनुभव लिया कि शनि की देह सभी तक घरी रही है, जैसे तौर को प्रेरित करने के बाद प्रत्यक्षा जानती रहती है... यह स्टम्प बैठा रहा, केवल टिकाने पहुँचकर, ठीकेशाने को पीठ देकर जब वह बाँह या महारा देने के लिए शनि की घोर बढ़ा, तब उसने बटो कोमल चिन्ता के स्वर में कहा, "शनि—"

जैसे शनि को भीतर कुछ टूट गया हो, वह सहसा गई घोर शेखर की सम्माननी हुई बाँह में जाना कि वह बेहोश हो गई है....

कमरे में उसे निताता हुआ शेखर यह नहीं सोच सका कि सुषर्मा देवताओं की देन होती है, कि अमर-मृत्यु से अपनी देन की रक्षा के लिए ही वे विरमुक्ति के फूल बरसाते हैं, कि उन मन्त्र-मन्त्र की दे प्रान्ती की मूढम देह विधायन पावन स्मृतों हो उठती शनि के मुँह पर छोटे देवा घोर एक बारी में पंता करना हुआ बड़-बड़ा भी सोच

सका, भीतरी धवराहट की लहर सहसा बढ़कर एक उन्मत्त आवेश बन चली.... उँगलियों की सूनी पकड़ मानो न-कुछ की हड्डियों को मसलने लगी....

एकाएक शशि ने खोई-सी आँखें खोलीं; उसे खोजकर पहचाना और फिर तनकर कहा, "जानते हो, वे क्यों हैंसे थे, शेखर?" और चेतना फिर बुझ गई।

वह भीतरी लहर उमड़कर उसे लील गई। उसके हाथ जैसे तोड़ने-फोड़ने का फड़क उठे, उँगलियों की सूनी पकड़ न-कुछ की हड्डियाँ मरोड़ने लगी... शेखर ने पान का एक गिलास शशि के पास रख दिया, शरीर के कपड़े कुछ ढीले कर दिए, एक चादर उढ़ा दी; फिर एक बार चारों ओर देखकर बाहर चल पड़ा—मीटिंग की ओर.... उनका इतनी मजाल, बरबर पशुओं की—शशि को हैंसते हैं, शशि को, शशि के जीवन को और उसकी यातना को.... मेरे सामने हैंसे कौन-सा मुँह—

किन्तु जब वह सभा-स्थान पर पहुँचा तो वह खाली हो चुका था, सभा बिखर गई थी.... कुछ देर वहीं खड़े रहकर वह लौटा; बाहर सड़क पर आया तो अचानक एक ओर उसे हैंसने का स्वर सुनाई दिया। उधर मुड़कर उसने देखा, दो सूट-धारी नवयुवक बावू चलते हुए हैंस रहे थे। क्यों, किस बात पर, यह पता नहीं था, पर उनका हैंसना ही जैसे शेखर को डस गया; वह उनकी ओर बढ़ा और जानबूझकर दोनों को धक्का देता हुआ बीच से निकल गया।

"ए—देखो जी—"

इसी की शेखर को जरूरत थी! उत्तर में उसने कड़ककर कहा, "क्या है?" और एक घूँसा बावू को दे मारा। क्षण भर में दोनों गुत्थमगुत्था हो गए; बावू का साथी हक्का-बक्का देखता रह गया। किन्तु यह देखकर कि अकेले साथी की जीत नहीं होगी, वह भी चलमने की तय्यार हुआ, पर तब तक भीड़ जुटने लगी थी; लड़ाई आगे नहीं चली, लोगों ने खींच-खाँचकर अलग कर दिया और जब तक बावू लोग उन्हें सब मामला समझाने लगे, तब तक शेखर अलग होकर सबको घूरता हुआ चल पड़ा.... धीरे-धीरे बोध उसके भीतर जागने लगा कि वह अभी एक मूर्खता कर चुका है; पर साथ ही एक विश्रान्ति का, तनाव के मिट जाने का भी अनुभव उसे हुआ.... वह जल्दी-जल्दी घर की ओर चला, क्योंकि तनाव का ज्वार उतरते ही शशि के लिए चिन्ता ने उसे आ घेरा।

शशि की मूर्च्छा टूट चुकी थी, पर शेखर ने उसे छूकर देखा, उसकी देह तीव्र ज्वर से जल रही थी। वह शशि के माथे पर हाथ रखकर मिरहाने भूमि पर बैठ गया।

"क्षमा करो, शेखर—"

"....."

"पता नहीं, मुझे क्या हो गया था—हिस्टीरिया इसी को कहते हैं?"

"नहीं, हिस्टीरिया उसे कहते हैं जो मुझे हुआ था।" शेखर फोकी हैंसी हैंस दिया।

"दो बावूओं से मार-पीट कर आया।"

"क्यों?"

“भभी, जब तुम—मोई धो ।”

“क्यों ?”

“क्यों जानता, तो हिस्टोरिया कैसे होना ? क्यों न जानने को ही ठां हिस्टोरिया कहते हैं । पर गणि, गणि, गणि—” शेखर से कुछ कहते नहीं बना, वह धीरे-धीरे गणि के केश सहनाने लगा; और जब गणि ने धपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया, तब बिनकुल निरचल हो गया....

यह मून धब फिर नहीं होगी, गणि ; झूठे झंझकार को लेकर मैं धपना सोभाग्य दूसरों को दिगाना चाहता था ; बिना जाने कि सोभाग्य सभी होता है, जब दिगाने को पाम कुछ न होने पर भी व्यक्ति सम्पन्न होता है....गणि, तुम्हारे दिन पुनीत हों, राग-राग पुनीत हों ; गणि....

●

दिल्ली....

पुर्ण की ययमिका में से कभी दायीं और जमुना का पुल भिन्नमिला जाता है, कभी और भी दायीं हटकर किले की एक बुर्जी और दीवार; और कभी धुंध के और भी बट जाने पर सामने जमुना की दुबली श्यामल देह भी रेत के सम्ये परिधान में लिपटी दीख जाती है, और पार भाऊ की भाड़िनी, और धधुरे छोड़ दिए गए एक कुर्से का स्तूपान्तर होता.... गणि को तबियों के सहारे कुछ उठाकर, ताकि वह सिङ्की के बाहर का दुरथ देव सके, शेखर स्वयं उसके पीछे लगा है, और और का पहला उद्घाटन जो देखा, उसकी प्रतीक्षा कर रहा है । धुंध और पुर्ण के बीच से जो कुछ दीखता है, वह सब नया और अपरिचित है; किन्तु उसके नयन के प्रति ही एक बग्युभाव उसमें जागता है, क्योंकि यह सब साहोर नहीं है ; वे दोनों एक विपरीत वृत्त से बाहर निकल आए हैं और यहाँ की धुंध के पीछे प्रथम एक नया व्यक्तित्व है, जो मित्र का है, बग्यु का है—चाहे उसे पहचानने में कुछ दिन लग जाएं....

यहाँ माने के पीछे एक इतिहास था । पद्मवन्त-कारियों के जीवन का जो कुछ नया ज्ञान शेखर ने पाया था, उसके आधार पर उसने एक छोटा-सा उन्मेष निरा डाला था, जिसमें बना गीत था ; उस जीवन को व्यस्त रूप से जनता के धाने उपस्थित करना, और उसकी निमित्त बनाकर उस असन्तोषकारी विद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करना ही मुख्य उद्देश्य था । उन्मेष इतना 'गुरु' था कि प्रकारय रूप से उसका मुद्रण हो ही नहीं सकता था, अतः प्रकाशक गोखले का सवाल नहीं था , पर रामवन्त ने हस्त-लिखित उससे लेकर दो-चार व्यक्तियों को दिखाई की और फिर शेखर को बताया था कि गैर-नानुनी तौर पर उसे छानने और बेचने का प्रबन्ध हो सकेगा, और एक 'ग्रिमिदा-द्वार' ने इस काम के लिए बहुत-सा धन भी दिया है , फिर यह भी कि पुस्तक साहोर ही में छपेगी, अतः शेखर का यहाँ ने बने जाना ही उचित है, जैसा कि वह स्वयं जान

है ; और यह सम्भव बनाने के लिए दल ने निश्चय किया है कि सिम्पेथाइजर से पाए हुए रूप में से ढाई सौ शेखर को दे दिया जाए, जिससे वह अन्यत्र जाकर अपने योग्य व्यवस्था कर सके । शेखर ने दिल्ली जाने का निश्चय कर लिया, क्योंकि बड़े शहर में शान्ति से रह सकना अधिक सम्भव है, और बिना अपनी और अधिक ध्यान आकर्षित किए कुछ जीविका कमाने की भी व्यवस्था हो सकती है, और फिर दल के लिए भी वह बहुत-कुछ कर सकेगा....रात के सफ़र से शशि को कष्ट न हो, इसलिए प्रातःकाल चलकर वे रात को दिल्ली पहुँचे थे ; दल के एक सदस्य ने जमुना के पास सस्ते किराए पर ढाई कमरे का एक मकान ढूँढ़ रखा था, जहाँ ये रात को पहुँच गए थे । और भोर की पहली किरणों दो परदेशियों को जगाकर दिल्ली के धुंधले दृश्य दिखाकर परिचित बनाने का प्रयास कर रही थीं....

०

दिल्ली में यमुना का तीर, ढाई कमरे का सर्वतः सम्पूर्ण मकान, पास में ढाई सौ रूपए, अपरिचित इसलिए स्वच्छन्द वातावरण, और समर्पण की छाँह—अगर देवता हैं तो उन्हें धन्यवाद कि यह सम्भव हुआ है, कि शशि की वात्सल्य छाँह में वह खड़ा हो सका है और अपने को उस वात्सल्य के प्रति उत्सर्ग कर सका है....कि उस वात्सल्य को कुचलने के लिए बड़ा आता कलुष पीछे रह गया है, कि आसपास एक नया वायुमण्डल है जिसमें परिचय नहीं है, इसलिए करुणा अवश्य है, कि अपने को होम कर देने में शशि ने अपने जीवन का जो अंश पंगु कर लिया है, उसे पुनर्जीवित करने का नहीं, तो कम से कम उसका दर्द भुला देने का निर्वाण अवसर शेखर को मिला है....शशि से उन्नत होने की स्पर्धा वह नहीं करता, पर जो पाना ही पाना रहा है, उसकी विनत स्वीकृति की भी आजादी उसने अब तक नहीं पाई थी, अब वह उसे मिलेगी, और वह शशि की सेवा कर सकेगा....

शेखर दिल्ली कोई निश्चित कार्यक्रम लेकर नहीं आया था । तत्काल ही कुछ आम-दानी करने की बाध्यता भी अभी नहीं थी । तथापि उसने अस्पष्ट निर्णय कर लिया था कि कुछ कमाई का काम अवश्य करता रहेगा, और वह काम भी यथासम्भव ऐसा होगा कि उसे अपने ही वर्ग के सम्पर्क (अर्थात् संघर्ष !) में न लाए, बुद्धिजीवी वे हों जिन्हें बुद्धि से जीविका कमाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है ! वह केवल अपने शरीर का श्रम बँचकर ही काम चलाएगा, ताकि अपनी बुद्धि के घोड़े को पराई उपयोगिता की गाड़ी में न जोतना पड़े—उसका सर्वनाश न करना पड़े ।

किन्तु क्या काम वह कर सकता है ? कालेज की पढ़ाई ने उसे शारीरिक उद्यम के लायक नहीं बनाया ! उसकी कुछ सामर्थ्य बच गई है तो कालेज के कारण नहीं, इसलिए कि वह सम्पूर्णतया कालेज का नहीं हो सका ! बहुत सोचकर और दल के दो-एक व्यक्तियों से मिलकर उसने निश्चय किया कि वह साइनुबोर्ड पेंटर का काम करेगा

—रामें घाडादी भी बनी रहेगी, पूँजी भी विशेष नहीं सगेगी, थोड़े बहुत कलाकारता भी दर्माई जा मयेगी, और—काम चल गया तो घामदनी भी हो ही जाएगी। दल का स्वार्थ यह था कि इस प्रकार और भी दो-तीन व्यक्तियों को धाग्र्य दिया जा सकेगा—ये रात बहीं रहेंगे, और दिन भर शेखर की 'दुकान' में काटा करेंगे, ताकि रात के धामय की जगह कोई सन्देह न हो, वहाँ यही समझा जाए कि दिन में नौकरी पर जाने हैं, और दिन मो बट ही जाएगा। बाहर का काम न धावेगा तो अपना ही कुछ न कुछ काम किया जा सकता है; दुकान के लिए स्थान दल के खर्च पर लिया जाएगा और बाकी धामयो का प्रबन्ध शेखर स्वयं करेगा।

फलतः घटारह एष्य सामिक पर नई सहक के उपर की मंजिल में एक कामगु लिया गया, सामने के छप्पे ये बाहर शेखर ने एक सड़ा-सा रंगीन बोर्ड तम्पार करके सटका दिया; और तीन सहकारियों को लेकर दुकान प्रारम्भ कर दो। काम कुछ नहीं था, सिन्धु काम का दिग्गवा करने के लिए दा-पार योई छपरेंगे करके इपर-उपर फैलाए गए, पाने धोरिये का एक सड़ा-सा पर्दा रंगा गया, और छोटे-बड़े तीन और बनस्टर इपर-उपर फैला दिए गए। जाइों के दिन थे, बहुत सबेरे आना धावरमक नहीं था; शेखर लगभग स्याह बजे वहाँ पहुँचता और बड़े काम-काजी के ढंग में रंग-बंग फैलाकर बुद्धन कुछ बनाने बैठ जाता; उसके 'सहकारी' प्रायः कुछ पहले आते और धाकर कुछ गढ़ने-लिखते रहते, पहुँते अपना रूप पेंटर्गें जैसा बनाकर और सामने पेंटरी का उपक्रम करके। कभी जीने पर पैरों की धाहट होती, तो सब किताबें-कापियाँ छोड़कर 'काम' की ओर दलचित होते या कोई एक सिगरेट भी पीने लगता—जब धाहट के पीछे जमादार या कोई भूना-भटका मोचो या लेस-फोले वाला निरन्तरता, तो सब एक दूसरे को बनगियों से देतकर मुस्कगते कि अष्टे बेवकूफ बने।

और धार-नीस बजे शेखर बड़े उत्साह से पर लौटता, देगता कि बहुत मना करने पर भी शक्ति उठकर कुछ काम में लगी है और तरकास प्रत्येक काम में टाँग धड़ाकर शक्ति की बाध्य कर देना कि वह हाँकर छोड़ दे। यह समझोता हो चुका था कि शक्ति निरन्तर एक धाक और रोटी बना दिया करेगी, और झड़-बुहारी, बोला-बर्तान शेखर करेगा, पर निरन्तर ही दम पर झगड़ा होता, क्योंकि शक्ति कटनी, बोला-बुहारी उधका काम है, और शेखर निरन्धय जानता कि रमोई उमे करनी चाहिए। फिर सहमा धूप फिर धानी, और उनका छोटा-भा पर एकाएक सारे संसार ग मिष्टकर प्रसंग, बहुत दूर, वही प्रसंग होकर स्तब्ध हो जाता; स्तब्ध और शान्त और स्निग्ध....पर उग स्निग्धता में एक गहरी उदासी स्पन्दिन होती, और उस उदासी में एक ध्रुव स्निग्धता; जिसने दोनों एक-दूसरे के बहुत समीर अनुभव करते और माय ही न जाने किन संकोष में गिथे हुए....शेखर सोचता, मापनी की छाँह में जो पात्रसत्रा है, ध्रुवताओं का जो निराकरण है, उसके बाद और कुछ चाहने की गुजाइश नहीं है; सिन्धु यह सोचने में ही एक ध्रुवता उसके भीतर रहक उठता और वह जानता कि वह क्या चाहता है।

प्रकार नहीं दे सकता, शब्दों में नहीं बाँध सकता....कभी एकाएक बीच में शशि उठती, 'शेखर, ऐसे आराम से नहीं चलेगा,—अब कुछ लिखना शुरू करो न ?' वह उत्तर देने की वजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या कि इस काम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है ? क्योंकि खोखल ही अवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नहीं सकता, पहचान नहीं सकता, माप नहीं करता—और इसलिए भर नहीं सकता....

०

दिन आए कि लटकते हुए पत्तों ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड़ गए हैं, और बोझ के चक्के से लड़खड़ाकर गिर पड़े....भूले-से झकोले डालों को कँपाकर बाकी पत्तों को भी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नहीं हुई, किन्तु उसके भीतर मानो बड़ी दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा ; घुंघ फीकी पड़ गई, दिन के वेग के साथ पंजे मिलाने में अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिलाई करने लगा....और शेखर की दूकान में ग्राहक आने लगे ! एक दिन एक साथ ही तीन बोर्ड तय्यार करने का आर्डर पाकर सहकारियों समेत वह काम में लगा रहा, शाम को लौटते समय अपनी निवटती हुई पूंजी में एक टिकिया मक्खन और थोड़े से टमाटर खरीदता लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने भी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, शशि को टमाटर और फल और ताजे हरे शाक खाने चाहिए, और सर्दी लगने से या नमी से बचना चाहिए....अगले दिन वह आमदनी के पाँच-सात रुपए लेकर लौटेगा, इस उत्साह ने उसे शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार न सुना दे....किन्तु जब वह शशि को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमशः अधिकाधिक अनुगत होती जाती थी और जो वह कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहाँ तक कि कभी वह स्वयं इस अतिशय आशाकारिता से विस्मित हो उठता था !—तो न जाने क्यों उसे लगा, शशि उदास है....नई बात कोई नहीं थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही जानत थी शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचड़ी साँझ के रंगों का ही असर था....पर शेखर को सहसा जान पड़ा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे में सोच रही है....तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बघाई दो, आज दूकान में काम मिला है। शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बड़ी खुशी की बात है। क्या मिला है ?"

"तीन बड़े-बड़े बोर्ड—कोई नई कम्पनी खुल रही है, उन्हीं के तेल-साबुन और एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"अच्छा पेंटर साहब ! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रंग-फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"तुम शशि, क्या है ?"

“अब तुम लिखोगे नहीं, शेखर?”

शेखर अचकचा-सा गया....सचमुच, साइनबोर्ड के रंग क्रांति के रंग नहीं हैं....और वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्द्रा में डाल दिया है—वह कुछ कर नहीं रहा है, निरा साइनबोर्ड-वैटर हो गया है, और वह भी असफल....

उसने लज्जित-से स्वर में कहा, “क्यों नहीं लिखूंगा? मैं भूला नहीं हूँ, शशि; मैं लिखूंगा—”

“नही, शेखर, तुम कुछ नहीं कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रंगना, इसमें तुम कैसे रह सके हो अब तक भी?”

तब शेखर ने जैसे झंटी खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, “शशि, मुझे सूझता नहीं क्या लिखूं। पहले आसपास का दबाव लिखने नहीं देता था, पर उसी में से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी; अब आसपास शान्ति है पर—लिखूं क्या, तुम बताओ? आसपास कहीं कुछ हो ही नहीं रहा—”

“शेखर, तुम यह कहो कि लिखने को कुछ नहीं है? और क्या आसपास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नहीं है?”

“अनुभव का क्या सच? अनुभव में तो झूठ ही झूठ धाया है—और अनुभव भी मेरा कितना—”

शशि ने आग्रह से कहा, “मैं यह नहीं मान सकती, शेखर, कि तुम्हारे पास लिखने की सामग्री की कमी है। तुम भूले नहीं, धनदेवी कर रहे हो। क्या बाबा मदनसिंह की बात में लिखने को कुछ नहीं है? क्या मोहसिन से तुम्हें कुछ नहीं मिला, जो भागे औरों को दिया जा सकता है? क्या रामजी अपात्र था? तुमने भी बड़ा अनुभव हो सकता है जरूर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका धपनं रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात तो अवश्य लेखनीय होगी। बात यकी नहीं चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, आदमी को पकड़ बड़ी चाहिए—बात की वजह में झरने की लगन और साहस। ताप लकड़ी में नहीं होता, भाग में होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखोगे तो उसमें जरूर भाग होंगे—ऐसी भाग जिसके भागे कुछ नहीं टिकेगा और—जिसमें मेरे संमर्ग का पाप भी धुल जाएगा।”

अन्तिम वाक्य से चौंकर शेखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की प्रार्थनों में एक दीप्ति जाग उठी थी, जिसे देखकर वह चुप रह गया।

“देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नहीं मानती, जिस दिन देखूंगी कि यह अनिवार्य है, उस दिन—उस दिन—” एकाएक रुककर, “नहीं, शेखर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—”

अनुभव करके कि शशि जिस ढंग से बात कर रही है, उसका विषय निराले लिखने से अधिक गहरा चला गया है, शेखर ने कुछ हँसी-सी में कहा, “तब तो तुम्हारी कहानी लिखूँ—निर्जा सत्य—”

जिसे आकार नहीं दे सकता, शब्दों में नहीं बाँध सकता....कभी एकाएक बीच-बीच में चिल्लाती, 'शेखर, ऐसे आराम से नहीं चलेगा,—श्रव कुछ लिखना शुरू कर और यह उत्तर देने की बजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या आराम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है ? क्योंकि वहाँ श्रवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नहीं सकता, पहचान नहीं सकता, मार सकता—और इसलिए भर नहीं सकता....

○

दिन आए कि लटकते हुए पत्तों ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड़ गए। चोकर के घबके से लड़खड़ाकर गिर पड़े....भूले-से झकोले डालों को कँपाकर बाँधों को भी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नहीं हुई, किन्तु उसके भीतर मानस दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा ; धुंध फीकी गई, दिन के वेग के साथ पंजे मिलाने में अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिला लगा....और शेखर की दुकान में ग्राहक आने लगे ! एक दिन एक साथ ही तीनों तय्यार करने का आर्डर पाकर सहकारियों समेत वह काम में लगा रहा, शाम को समय अपनी निवटती हुई पूंजी में एक टिकिया मक्खन और थोड़े से टमाटर लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने भी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, शरीर टमाटर और फल और ताजे हरे शाक खाने चाहिए, और सर्दी लगने से या नमी से चाहिए....अगले दिन वह आमदनी के पाँच-सात रुपए लेकर लौटगा, इस उत्साह में शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार न सुना दे....किन्तु जब वह को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमशः अधिकाधिक अनुगत होती जाती थी और कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहाँ तक कि कभी वह स्वयं इस आशाकारिता से विस्मित हो उठता था !—तो न जाने क्यों उसे लगा, शशि उदास नहीं बात कोई नहीं थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही शान्त शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचड़ी साँझ के रंगों का ही असर था....पर को सहसा जान पड़ा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे में सोच रही है....तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बधाई दो, आज दुकान में काम मिला। शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बड़ी खुशी की बात है। क्या मिला है ?"

"तीन बड़े-बड़े बोर्ड—कोई नई कम्पनी खुल रही है, उन्हीं के तेल-सावुन के घोर एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"मच्छा पेंटर साहब ! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रंग-बिरंग। फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"क्यों, शशि, क्या है ?"

“अब तुम लिखोगे नहीं, रोखर ?”

रोखर झकझका-सा गया....सचमुच, साइनबोर्ड के रंग क्रांति के रंग नहीं हैं....घोर वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्त्रा में डाल दिया है—वह कुछ कर नहीं रहा है, निरा साइनबोर्ड-पेंटर हो गया है, और वह भी असफल....

उसने सज्जित-से स्वर में कहा, “क्यों नहीं लिखूंगा ? मैं मूला नहीं हूँ, शशि; मैं लिखूंगा—”

“नहीं, रोखर, तुम कुछ नहीं कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रंगना, इसमें तुम कैसे रह सके हो अब तक भी ?”

तब रोखर ने जैसे झंटी खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, “शशि, मुझे सूझता नहीं क्या लिखूँ। पहले आसपास का दबाव लिखने नहीं देता था, पर उसी में से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी; अब आसपास शान्ति है पर—लिखूँ क्या, तुम बताओ ? आसपास कहीं कुछ हो ही नहीं रहा—”

“रोखर, तुम यह कहो कि लिखने की कुछ नहीं है ? और क्या आसपास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नहीं है ?”

“अनुभव का क्या सच ? अनुभव में तो झूठ ही झूठ घाया है—और अनुभव भी मेरा कितना—”

शशि ने आग्रह से कहा, “मैं यह नहीं मान सकती, रोखर, कि तुम्हारे पाम लिखने को सामग्री की कमी है। तुम भूलते नहीं, अनदेखी कर रहे हो। क्या बाया मदनमिह की बात में लिखने की कुछ नहीं है ? क्या मोहसिन से तुम्हें कुछ नहीं मिला, जो भागे औरों को दिया जा सकता है ? क्या रामजी अपाव था ? तुमसे भी बड़ा अनुभव हो सकता है जकर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका अपने रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात तो अवश्य लेखनीय होगी। बात थड़ी नहीं चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, आदमी को पकड़ बड़ी चाहिए—बात को वश में करने की लगन और साहस। ताप तकड़ी में नही होता, भाग में होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखांगे तो उसमें जकर भाग होगी—ऐसी भाग जिसके भागे कुछ नहीं टिकेगा और—जिसमें मेरे संसर्ग का पाप भी धुल जाएगा।”

अन्तिम वाक्य से चौंकर रोखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की आँखों में एक दीप्ति जाग उठी थी, जिसे देखकर वह चुप रह गया।

“देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नहीं मानती, जिस दिन देखूँगी कि यह अनिवार्य है, उस दिन—उस दिन—” एकाएक रुककर, “नहीं, रोखर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—”

अनुभव करके कि शशि जिस ढंग से बात कर रही है, उसका विषय निरे लिखने से अधिक गहरा चला गया है, रोखर ने कुछ हँसी-सी में कहा “तब तो तुम्हारी कहानी लिखूँ—निजी सत्य—”

शशि मुस्कराई भी नहीं, और भी गम्भीर होकर बोली—“हाँ, जब मैं भी ऐसा सत्य हो जाऊँगी, निरा सत्य जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तब मेरी कहानी लिखना—” एकाएक फिर दीप्त होकर, “और कहानी ऐसी बुरी नहीं होगी, शेखर !”

शेखर स्तब्ध रह गया ।

शशि हाथ घोने के लिए उठी । शेखर भी रसोई से उठकर कमरा लाँघकर जमुना की ओर के वरामदे में जा खड़ा हुआ और एकटक नदी की ओर देखने लगा—नदी का जल घुएँ में छिप गया था, पर जहाँ उसे होना चाहिए, वहाँ घुएँ में भी एक खुलेपन का-सा भाव होता था, उसी पर शेखर की दृष्टि टिकी थी ।

शशि भी वरामदे में आकर उससे कुछ दूर पर खड़ी हो गई ।

शशि ठीक कहती है । कब उसकी बात गलत होती है ? क्योंकि उसकी हर बात में अपने को तपाकर पाया हुआ कंचन होता है—जैसे दादा की बातों में होता था....शशि उसी की सम-वयस्क है, किन्तु कितना गहरा विवेक है उसमें, कितनी प्रशस्त संवेदना, कितना विशद ज्ञान—प्रज्ञा ! क्यों शशि स्वयं नेता नहीं है, क्यों वह शेखर के जीवन में एक अप्रधान, अनुगत, अधोन पद लेकर सन्तुष्ट है, क्यों उसे आगे बढ़ाने के लिए अपनी आहुति दे रही है, अपने को निरन्तर मिटा रही है ? क्या इतना बड़ा आत्म-बलिदान वह स्वीकार कर सकता है ? क्या गारंटी है कि इतने बड़े त्याग से जो वनेगा, उसका आत्यन्तिक मूल्य उस देने के बराबर होगा ? और हो भी तो कैसे वह इन दामों उसे ले सकता है....

शेखर ने मुड़कर शशि की ओर देखा । भुटपुटे में उसकी आकृति नहीं दीखती थी, केवल जमुना पर टिकी हुई अपलक आँखें दीखती थीं । बिना निवृत्ति के उसने कहा, “शशि, तुम अपने को बराबर मिटाती जाओगी और मैं निर्लज्ज होकर सब स्वीकार करता जाऊँगा—यह नहीं होगा । तुम जो हो उसका गौरव, मैं जो हूँ उससे पचास गुना—सौगुना ज्यादा है—उसकी बलि मैं नहीं लूँगा, नहीं लूँगा, नहीं लूँगा ।”

शशि ने चौंककर उसकी ओर देखा, फिर पास आकर कहा, “हूँ—क्या कह रहे हो, शेखर ?”

एक गहरी साँस लेकर शेखर फिर बोला, “कहता हूँ, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, शशि ! कितना—यट कह नहीं सकता ; पर इसलिए तुम्हारा यह अपमान नहीं कर सकता । तुम मुझे कुछ बताना चाहती हो, पर तुम्हारा ज्ञान मुझसे अधिक है, बोध मुझसे बड़ा है, संवेदना मुझसे गहरी है ; और तुम उस सबको मिटा रही हो—मेरे लिए ?”

शशि और पास आ गई । “तुम पूछते हो, तो कहती हूँ । लो सुनो । स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है । ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे घरती में चेतना संचित है । पर बीज अंकुरित होता है, घरती को फोड़कर ; घरती अपने-आप नहीं फूलती-फलती । मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष

की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती धरती हो है; पर वह भी समान स्रष्टा है; क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और सम्माद नहीं, बलेश और बेदना है?”

सन्नाटा छा गया। जमुना के ऊपर छाए हुए धुएँ में से जैसे एक नीरव साँव-साँव उमड़ने लगी....

“मैं अपने को मिटा नहीं रही—जिस शेखर को मैं देखती हूँ, उसके बनाने में मेरा बराबर का साम्रा होना, इसलिए देने-लेने का कोई सवाल नहीं है; और तुम्हारा यह किम्पकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।”

और घना सन्नाटा, और फिर और भी नीरव साँव-साँव की और भी उच्छ्वसित उमड़न—और उस उमड़न के बीच में से सहसा आलोक का लहरित पारावार और शशि के झट्टक, अपार्यव्य का पवनकारी बोध—शेखर ने हटाए भाये बहकर कैशों और श्वा के संगम-स्थल पर शशि का माया चूम लिया, और फिर साँस के-ये स्पर्श ने उससे धोठ....

“नहीं, शेखर, नहीं, वह नहीं—” एकाएक टूटने-से स्वर में, “वे जूठे हैं!” दंशित-सी शशि पीछे हट गई, और उसकी तीखी सिसकी सुनकर ही शेखर ने जाना कि क्या घटित हो गया है....और जानकर जैसे वह एकाएक जड़ित, हतसंश हो गया, और सामने शशि की रोती खड़ी देखकर भो न हिल सका, न बोल सका, निनिमेष शशि के धुँयने चेहरे की ओर देखता रह गया।

“शेखर—”

“.....”

“शेखर मुझे क्षमा करो—वह नहीं....तुम नहीं जानते, मेरे जीवन का एक अंग है, जो जूठा हो गया है, और एक ऐसे व्यक्ति के स्पर्श से—जिनकी—बाह से भी तुम्हें—बचाना चाहती हूँ....”

बहुन धीरे से, मानो अपनी ही वाणी से सज्जित, “शशि ..”

मच कहती हैं, तुम नहीं जानते....अगर जीवन से उसे दिनकुल निकालकर फेंक सकूँ, तो फेंक दूँ—पर सकती नहीं....मैंने उसको—अपने विवाह की बहुत निकट, बहुत सच मानकर भेला... इसके लिए तैयार थी कि वह मुझे मिटा दे, मर्द कर दे; पर अपने मर्द नहीं किया, केवल पंगु करके, जूठा करके छोड़ दिया ..और अब ...”

शेखर ने साहस बटोरकर एक हाथ शशि के कंधे पर रखा और मनुमव लिया कि कंधा भी संकुचित हो गया है, फिर भी किसी तरह कहा, “शशि, मत रोओ....”

शशि सिसकती रही। शेखर ने फिर कहा, “तुम यों ही अपने को बचने दे रहो हो—वह पात्र नहीं है, शशि....वह निकल गया है तुम्हारे जीवन में—अनूना मत करो—उसके लिए रोना—”

एकाएक और भी फूटकर, बिखरकर शशि ने कहा, "मैं उसे कब रोती हूँ—मैं अपने प्यार को रोती हूँ, जो मैंने उसे दिया...."

○

रात मूर्तिमती करुणा है, अन्धकार देवताओं का कोई रामबाण मरहम है, जो कुल वेदनाओं की टीस को सोख जाता है....

अँधेरे में घिरे हुए उस दुहरे एकान्त में एक दूसरे को व्यथा के स्पन्दन को देखते हुए, न देखकर स्पष्टतर जानते हुए और इसलिए न देखकर आश्वस्त, शशि और शेखर चुपचाप पड़े रहे। शशि का सिसकना क्रमशः मूक हो गया था, और वह धीरे-धीरे टटोलती-सी भीतर चली गई थी। देर बाद शेखर ने भीतर जाकर रसोईघर की वस्ती बुझा दी थी, और फिर अपने बिस्तर पर जा लेटा था....

अन्धकार में उसे कुछ नहीं दीखता था, किन्तु शशि को वेदना स्पष्ट दीखती थी.... वह तो सदा दीख सकती थी, पर इस अन्धकार में उसे कुछ अधिक भी दीख रहा था, जो पहले नहीं दीखा था....सप्तपर्णी की छाँह पारिजात की छाँह है, उसमें निरी सान्त्वना नहीं है, उसमें उत्साह है, उसमें गन्ध है, रस है, प्रस्फुटन है; निरा अतीत नहीं, उसमें स्पन्दित वर्तमान और, और उनींदा भविष्य भी है—और इसीलिए उसमें इतना बड़ा शून्य है, जो अभी तक नहीं भरा....

शेखर ने देखा, निनिमेष आँखों से, निष्कम्प दृष्टि से देखा .. देखा....देवता चीँक जाँँ मुनकर तो चीँक जाँँ—पर उस प्यार को कहना ही क्यों जरूरी है ?

शेखर, तुमने आरम्भ से ही क्यों नहीं अपनी नियति को देखा ?

○

जाइँँ का एक और प्रभात—वही क्रमशः धूसर, ताम्रलोहित, लाल और फिर सफेद होनेवाली प्रातःकालीन घुन्ध, फिर दिशाहीन आलोक, फिर अलसाई-सी पहली रविकिरण....किन्तु किरण से पहले ही शेखर उठा और शशि के कमरे की खिड़की के पास जा खड़ा हुआ, काँच पर जमी हुई नमी को एक उँगली से नीचे बहाकर, भीतर भाँकने लगा ।

शशि सोई थी—मुद्रा से जान पड़ता था कि रात-भर जागकर अभी सोई है; उसका शरीर छुईमुई-सा सिकुड़ा हुआ था, पर तकिये पर एक ओर झुका हुआ चेहरा जैसे आगे उठा हुआ था, ओठ किंचित खुले थे, और माथे से आगे की लटक आया वालों का एक गुच्छा उसके श्वास-प्रश्वास के साथ झूल रहा था....

शेखर बहुत देर तक निश्चल खड़ा उसके चेहरे को देखता रहा—उसकी दृष्टि एक मत्पन्त स्नेहिल स्पर्श से उसे सहलाती रही, जैसे उस उन्मुक्त लट को शशि का प्रश्वास.... शशि की पलकें पारदर्शी-सी जान पड़ती हैं, यह उसने पहले भी लक्ष्य किया था; पर घब

उसे लगा मानो समूचा चेहरा पारदर्शी हो गया है—मानो इतने दिनों घुपचाप सही हुई यातना ने उस स्वच्छ त्वचा को धीरे भी शोषकर एक आन्तरिक कान्ति दे दी है.... शशि का चेहरा पीड़ित चेहरा नहीं है, और इस प्रशमन के क्षण में तो कदापि नहीं—किन्तु उसे देखकर सहसा किसी व्यापक शुद्ध वेदना का बोध हो जाना अनिवार्य था—ऐसी वेदना, जो चाँदनी की तरह नहला और कंपा जाए....

‘नहीं, नहीं, शेखर, वे जूठे हैं—’ क्या कुछ भी ऐसा है, जो उस चेहरे को जुठला क्या, धू मो गया हो—जिस प्रकार श्वेत दीप्ति की सीमा तक तने हुए घातु को कोई धू नहीं सकता, उसी प्रकार यह वेदना से मँजा हुआ दीप्त चेहरा भी अस्पृश्य है—जब तक कि कोई समान दीप्ति ही उसे धू न ले—

किन्तु शशि की तपस्या क्या उसे सचमुच इतनी दूर से गई है—इतनी अलंघ्य, अपरिमेय दूर—क्या वह शोषक दुःख उसी के भागे स्फटिक की दीवार-सा भा गया है—जिसमें सब-कुछ अतिशय स्पष्ट दीखे, किन्तु ही अस्पृश्य ?

धृग्य का अन्तरालोक बढ़कर किरण बन गया; शेखर ने एक लम्बी साँस ली, जो हठात् शशि के लिए आशीर्वाद बन गई, फिर दबे-भाँव वहाँ से हटकर काम पर जाने की तैयारियों में लगा.... अच्छा हो है कि शशि अभी सोई रहे, विग्राम भी कर ले और—बरा जाने, उसके जागते ही यह धना संकोच भी उमड़ आए जो....



पेंटर-मण्डली फिर दिन के अधिकांश भर काम करती रही; बीड़ तय्यार हो गए। साँझ को अभी सूखे भी नहीं थे कि गाहक लेने आ गया। दो उसी दिन चले गए और सीसरे के अगले दिन जाले की बात ठहरी—दो के दाम भी चुका दिए गए। शेखर ने आमदनी में दो हिस्से किए—एक उसका था, दूसरा दल का—दल अनेक प्रकार के नर्च चलाता है, जिसमें प्रत्येक राहयोगी को भी भरसक कुछ देना होता है.... धाय के पंचमांग से लेकर भांघे तक देने की परम्परा है...

सात घण्टे लेकर शेखर घर की ओर चला। यह अक्षरशः पसोने की कमर्तई है—मजुरी है, और भाज वह दल को भी कुछ दे सका है और धागने उद्योग का फल नेटुर घर की ओर—शशि की ओर—भी जा रहा है.... शशि, जो प्रिय सदा से थी, किन्तु जो—किन्तु जो—शेखर को शब्द नहीं मिलते, वह केवल कल्पना कर सकता है कि प्रिय का कोई विराट्-रूप हो, जिसमें जीवन की हयत्ता समा जाए, तो वही रूप शशि ने धारण कर लिया है....

किन्तु कल जिस उत्साह से वह काम मिनने की बाग लेकर घर लौटा था, धात्र न जाने क्यों काम का फल लेकर लौटने में वह उत्साह नहीं जागता, ज्यों-ज्यों वह घर के समीपतर आता जाता है, त्यों-त्यों एक अज्ञात धाराका, एक निमग्न उसे पकड़ रही है.... निस्सन्देह शशि आनन्दित होगी, किन्तु वह जैसे बरता है, उस आनन्द में भी वह

तद्रसा हताश हो जाएगा, और उस हताश को तुरत पहचानकर शशि भी न जाने किस प्रभेद्य दूरी में सिमट जाएगी....और यह है प्रेम का विराट्-रूप—निस्संशय विराट् और निस्संशय प्रेम .. !

घर के बाहर वह क्षण भर रुका तो ठिठका रह गया । भीतर शशि गा रही थी—
पंजाबी के टप्पे—पहाड़ी सुर में, जो वैसे ही पहाड़ों के सूने अकेलेपन का, अगम्य ऊँचाइयों और अलंघ्य दूरियों का सुर होता है, और जो शशि के गले की गूँजती हुई तरलता के कारण और भी असह्य हो गया था, मानो किसी निर्व्यक्तिक असीम विरह का सुर हो....

दो पत्तर अनारां दे—
दुःख साझा समझने
दो पत्थर पहाड़ों दे !

मेरा चोला लीरां दा—
इक वारी पा फेरा
तक हाल फकीरां दा !

शेखर को एक ग्रीक गाथा याद आई, जिसमें किसी दुःखिनी वनदेवी के आंसू कल-स्वनित जल-प्रपात बन जाते हैं, जिसका प्रवाह हर आते-जाते पथिक के भीतर करुण चीत्कार कर उठता है और एक टीस छोड़ जाता है—फिर उसने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया....

आहट सुनते ही शशि चुप हो गई ; वह मोन एकाएक शेखर को इतना घना लगा कि उसने तत्काल कुछ कहने के लिए कहा, "लो, आज कमाई करके लाया हूँ ।"

"अच्छा ? कितनी—" शशि हँसने का प्रयत्न करती है ।

"तुम लो तो, बहुत है—वे हिसाब । लो, हाथ बढ़ाओ—"

शेखर एक-एक दो-दो करके रुपये निकालकर शशि के हाथ में रखने लगा । जब सातों रुपये निकल आए और उसका हाथ रुक गया, तब शशि ने चिढ़ाते हुए स्वर में कहा, "और ?"

"और क्या ? एक दिन की तो कमाई है ।"

शरारत से हँसकर, "बस, कुल इतनी ही ? इसी के लिए हाथ फैलाने को कहते थे ?"

थोड़ा-सा चिढ़कर पर हँसते-हँसते ही शेखर ने कहा, "और क्या अब—जो तुम था, सब तो दे दिया—" और एकाएक अपनी बात के गूढ़तर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया ।

उस चुप्पी से वह गूढ़तर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चेहरा गम्भीर हो आया, आगे बढ़ा हुआ हाथ नीचे लटक आया, और वह धीरे-धीरे भीतर चली गयी । भीतर शेखर ने रुपये रखे जाने की खनक सुनी, फिर स्वयं वरामदे की ओर चला गया ।

फिर एक सूनापन उसके मन में छा गया—भाँखें मनदेखी हो गईं...उस शून्य में वह धीरे-धीरे शशि से सुने हुए शब्द गुनगुनाने लगा—

दुःख साढ़ा समझनगे

दो पत्थर पहाड़ी दे—

दो पत्थर पहाड़ी दे—

पत्थर क्या समझेंगे दुःख—शायद यही अभिप्राय है कि उस दुःख को कोई नहीं समझ सकता...दो पत्थर पहाड़ी दे.. किन्तु पत्थर पहाड़ों के हैं, जिन्होंने सदियों तक बर्फीली प्राधियों के प्यासे प्यार के नीचे चोटियों को धीजते देखा है, सदियों तक पवन को झन्धी उँगलियों से नंगी चट्टानों पर जीवन को हरियाली को एक छोटी-सी फुगगी को भी छू सकने की निराशा में हाहाकार करते देखा है, जो अभिमान कि ऊँचे-ऊँचे उठे हैं और ग्रहंकार की तरह बह गए हैं—पहाड़ों के पत्थर शायद सचमुच दुःख को समझ सकते हो....दुःख साढ़ा समझनगे दो पत्थर पहाड़ी दे ...

शशि फिर उसके पास आकर चुपचाप खड़ी हो गई। शेखर को उससे पहली साँझ याद आ गई; और एक क्षण के लिए उसे लगा कि उस साँझ की घटना की आवृत्ति दिनों के बाद दिनों और बरसों के बाद बरसों तक होती चली जा सकती है—निष्परिणाम आवृत्ति... और फिर भी वह कुछ नहीं माँग सकता, क्योंकि उन दोनों की धमनी एक है, चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान की...

शशि ने कहा था, वह सृष्टि है, जिसमें वह सहभागी है, समान लक्ष्य है...किन्तु यह निर्माण है, रचना है—जीवन के आरोप विफल-पथ पर यह अन्तहीन अभियान ?

“शेखर, मैं वापस चली चार्क ?”

“कहाँ—”

“वापस—वहाँ जहाँ दे दी गई थी—”

अकिन्त और आहत स्वर में शेखर ने पूछा, “शशि, क्या कह रही हो तुम—वहाँ वापस ! यह क्या अभी हो सकता है ?”

“हाँ। दे—प्यार देना जानते होते तो शायद न हो सकता ; पर अभी शायद—हो सकता है। अधिक-से-अधिक—”

“वह मैं नहीं पूछता शशि, तुमसे पूछता हूँ—क्या यह अभी हो सकता है—तुम्हारी ओर से अभी—”

“मोह मैं....शेखर, मैं देख रही हूँ कि मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा हूँ, तुम्हें नीचे खींच रही हूँ। और वह मैं कभी नहीं होने दूँगी—उससे कहो आसान है लौट जाना—”

“तुम कैसे बातें करती हो, शशि ? मेरी तो बात ही अभी छोड़ो—तुम लौटने की सोच कैसे सकती हो—”

“क्यों ? अगर उसमें तुम्हारी उन्नति है, तुम्हारी सुविधा है, तो—”

“और तुम्हारी अपनी आत्मा कुछ नहीं है ? ऐसा कोई कुछ नहीं हो सकता जिसके लिए आत्मा का हनन—”

“मेरी आत्मा उसमें नहीं मरेगी, शेखर । मैं वहाँ भी जी लूंगी—जी सकूंगी—क्योंकि तुम्हें दचाती रहूंगी—तुम्हें बढ़ाती रहूंगी !....तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर, क्योंकि पंगु हो गई हूँ; इसलिए नहीं कि—प्यार का अर्थ नहीं जानती । कोई स्त्री प्यार नहीं जानती, जो एक साथ ही बहिन, स्त्री और माँ का प्यार नहीं देना जानती—और मैं लौटकर इसलिए जी सकूंगी कि—माँ की तरह तुम्हें पाल सकूंगी—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक !....मैं ज़रूर जी लूंगी । जीवन वह कोड़े का होगा, पर नारो अग्निकोट हो सकती है, जिसके पेट में निरन्तर आग जलती है....”

शेखर ने क्षुब्ध स्वर से कहा, “मैं यह सब नहीं सुनूँगा, शशि ; तुम तो पागल हो गई हो—मनोवैज्ञानिक केस हो गई हो । तुम—” शब्द न पाकर उस कमी को आवेश द्वारा पूरा करते हुए, “तुम निरी हिन्दू हो गई हो—आत्म-पीड़न को तपस्या माननेवाली हिन्दू ! पर तुम्हारा आत्म-हनन मुझे स्वीकार नहीं है—और वैसी मूर्खता दो जन भी कर सकते हैं ।”

शेखर ने देखा कि शशि चुपचाप रो रही है । न जाने क्यों एकाएक कड़े पड़कर उसने कहा, “शशि, तुम्हारे दुःख से मेरा कुछ बने, तो धिक्कार उस बनने को ! तुम्हारे—”

“तुम नहीं समझते, शेखर ; तुम समझते हो, मैं दुःख को तूल दे रही हूँ । क्या मैं चाहती हूँ वहाँ लौटना ? पर मैं प्यार का नाम नहीं लेती, क्योंकि—मुझसे नाम लिया जाता नहीं—उतना प्यार तुम सोच भी नहीं सकते, शेखर !”

और उसे फिर वहीँ आहत और निर्वाक छोड़कर शशि भीतर चली गई ; और थोड़ी देर बाद उसकी सिसकियों का दुर्बल स्वर शेखर तक पहुँचने लगा....

●

क्या शशि ठीक कहती है ? अगर शशि उसे नीचे घसीटती है, तो और क्या है जो उसे उठाएगा, उसे रसातल ही जाने से बचा लेगा ? और पंगु होने की बात—क्या वह शशि के भीतर की ही कठोर निर्ममता नहीं है, जो उसे पंगु बनाती है, जिसने उसके जीवन को एक गाँठ में बाँध दिया है और खुलने नहीं देती—क्या उस गाँठ को चुपचाप स्वीकार करना ही कर्तव्य है, क्या उसमें वैधे हुए जीवन को विद्रोह के लिए उभारना कर्तव्य नहीं है ? अगर जीवन वरदान है—अगर जीवन कुछ भी अर्थवाद है, तो उसकी प्लवनशीलता को बनाए रखना कर्तव्य है ; डूब जाने को निरीह भाग्यवाद से स्वीकार कर लेना जीवन की अवहेलना है और पाप है—हार ही झूठ है, हारा हुआ ही झूठा है; जो परास्त नहीं है, उसमें मलिनता फौन-सी है ? शशि आहत है, किन्तु जो रत्नानि उसे

सुभाती है कि जीवन बूठा हो गया है, क्या वह ग्तानि ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि जीवन की शक्ति परास्त नहीं हुई—और इसलिए जूठी भी नहीं हुई, घनाहूत और घनवनत है ? नहीं, शक्ति को हारने नहीं देना होगा, इस तरह धुत जाने नहीं देना होगा—वह स्वयं नहीं लड़ती तो उसकी ओर से लड़ना होगा—

शेखर ने शक्ति के पास जाकर कहा, “सुनो, शक्ति, तुमसे कुछ बात कहने चाया है।”

शक्ति ने अपना गोला चेहरा उसकी ओर फेरकर एक बार देख दिया, बोली नहीं। शेखर दोनों हाथों से उसका सिर पकड़कर भ्रंचंचल भाँखें उसकी भाँखों पर टिकाकर, धीरे-धीरे, शब्दों पर जोर देता हुआ बोला, “तुम कहीं जाओगी नहीं; और—हारोगी नहीं, और—डरोगी नहीं।” फिर हाथों की जकड़ ढीली किए बिना धागे झुककर एक बार फिर उसने शक्ति के घाँठ अपने घाँठों से छू लिए। शक्ति का सिर पीछे को गँठा हुआ था, सारी देह काँप रही थी, और घाँखें बन्द थी; सिर उठाकर शेखर ने शक्ति की बन्द गोली काँपती हुई पलकों को देखा और एक बार फिर धागे झुककर उनके घाँठ छूम लिए। घाँठ भी काँप रहे थे, और घाँमुओं से छारे थे....

फिर शेखर ने सिर छोड़ दिया और शक्ति के कमरे से बाहर घना भाया, बत्ती जलाई और रघाई में जाकर बर्तन इधर-उधर करने लगा.... थोड़ी देर में पिचड़ी सँवार हो गई, पहले से धाया रखा दूध गर्म हो गया, और तब उसने शक्ति के कमरे के घामने जाकर कहा, “शक्ति, उठो, खाना तय्यार है। मुँह-हाथ धो लो।”

भीतर से स्थिर, सघे हुए स्वर ने कहा, “भाई।”

उस स्वर की शान्ति ने जैसे शेखर को भारवासन दिया। शायद जीवन अभी असम्भव नहीं हो गया है....



कहते हैं कि वासना नश्वर है, प्रेम धमर। दोनों में कोई मौलिक विपर्यय है या नहीं, नहीं मालुम; किन्तु यदि ये दो हैं तो यह बात किन्तनी झूठी है ! प्रेम के एक ही जीवन है; वह एक बार होता है और जब भरता है तो मर जाता है, उसे दूसरा जीवन नहीं मिलता। धमर ही वासना है, जो चाहे गम्पित होकर गिरे, चाहे तृप्त होकर, गिरते-न-गिरते रक्तबीज की तरह नया जीवन पाकर फिर उठ खड़ी होती है....

शिक्षा, सम्पत्ता, संस्कार... हमें धनने से ऊपर उठाते हैं, अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से निकालकर एक बृहत्तर अस्तित्व के, उच्चतर, अमर-मौलिक, बन्धित सार्वभौमिक अनुभूति के क्षेत्र में ले जाते हैं।

किन्तु व्यक्ति-जीवन की किन्तनी बड़ी गाँठ है संस्कार और शिक्षा। क्योंकि जो भी शिक्षित है, जो संस्कारों जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दों की पहचानते हैं (वे स्मन्दन जो निरे शिष्ट लोकवाचर से गहरे कुछ हैं), वे जीवन के महान् क्षणों में—प्रेम के या किसी भी गहरे भाव-विलोडन के क्षण में सहसा पाते हैं कि उसमें पूर्णता नहीं है, सम्पत्ता, चरान

तद्गति नहीं है, है एक अद्भुत असंगत तटस्थता—स्वयं अपने गहरे भावों से एक प्रकार का अलगवाव, जो कर्त्ता को ही कर्म का दर्शक और आलोचक बना देता है—अर्थात् अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से बहिष्कृत कर देता है....हम कल्पना में चित्रित करते हैं एक प्रेयस (अथवा प्रेयसी) जो कि हमारी आत्मा के सूक्ष्मतम कम्पन के साथ स्पन्दित हो सकता है (या हो सकती है) ; जो कि न केवल हमारे शारीरिक और सामाजिक अस्तित्व का सहभागी हो सकता है, बल्कि हमारी कोमलतम और अत्यन्त व्यक्तिगत सूक्ष्म अनुभूतियों में भी साझा कर सकता है—कला की, कविता की, संगीत की, यहाँ तक कि सुख-दुःख की भी अनुभूतियों का साझा....किन्तु वास्तव में प्रेम में हम पाते हैं कि हम भी, कभी भी, अपने अलग व्यक्तित्वों को एक में या दूसरे में या प्रत्येक को दोनों में नहीं लीन कर सकते....सख्य होता है, सम्बन्ध होता है, बड़ी अन्तरंग अभिन्नता का सम्बन्ध, किन्तु सदैव वह सम्बन्ध एक माध्यम का आश्रित होता है, हमारे अस्तित्व से बाह्य कुछ के अधीन होता है—किसी चित्र के, विचार के, कविता के, गीत के, ध्वनि के, सुन्दर स्वप्न के जो कि हमारा ही है, पर हमारा होकर भी अन्ततः हमारा नहीं है, क्योंकि हम स्वयं एकान्त हम नहीं हैं, उस मौलिक और आत्यन्तिक 'हम' को एक शिक्षा-मण्डित, संस्कारी सम्य केंचुल हैं....

दिन सुन्दर थे और ववूल के फूलों के गन्ध को उड़ाते हुए समीर में एक स्निग्धता आ गई थी, जिसमें और अनेक प्रकार का सौरभ अंगड़ाइयाँ लेता....और शशि के उस पहले विक्षोभ का तीखापन दब गया था। वह शान्त थी, और शेखर को लगता था कि इस सख्य के बाहर कुछ नहीं है—यानी मूल्यवान् कुछ नहीं है, और यहाँ सख्य ही सिद्धि है और सुख है....किन्तु चेतना के इस स्तर को आड़े काटता हुआ एक दूसरा स्तर था, जो कहता था कि काम है, कि समष्टि के प्रति व्यक्ति का देय है, कि अपूर्ति है और कुष्ठा है और इसलिए विद्रोह है, कि उलझनें हैं और गाँठें हैं और रस्तियाँ और बन्धन हैं और इसलिए क्रान्ति है; और एक तीसरा स्तर था कि सूम की तरह जो घन बटोर वह बँठे रहता चाहता, वह अपने-आप नष्ट हो रहा है, कि शशि शान्त है, पर घुल रही है, और एक दिन सहसा लुप्त हो जाएगी .. और स्तरों में दँटे हुए इस जीवन का क्षोभ सहसा उसमें फूट पड़ता, सब बन्धन रड़क उठते, और वह चाह उठता कि किसी तरह यह उलझन कट जाए; चाहे फिर इसके साथ उसका कोई अंग ही क्यों न कटकर चला जाए....फिर वह सोचता, यह सब विक्षोभ उस असन्तोष के संस्कार का ही फल है, जिसमें उसका अन्तर रँगा गया है ; तब वह माँगने लगता कि यह विद्रोही आत्मा ही किसी तरह कुचली जाए, छिन्न-भिन्न हो जाए; ताकि वह अपने-आपको बँवने और पालतू बनाया जाने दे सके—न केवल बद्ध और आनत, बल्कि स्वेच्छा से और अनुगत भाव से बद्ध—ताकि वह विद्रोह का अनवरत, आग्नेय, कसमसाता यधौर उत्फोट भूल जाए....भाग की लौ का धर्म है ऊपर उठना, इस ज्ञान में कोई सन्तोष नहीं था जब वह सब कुछ भस्म नहीं कर सकती थी और न मिटा ही सकती थी....

भगर वह मनपड़ गेवार होता, भगर वह पशु होता—कुछ भी होता जो कि वह सम्पूर्णतया हो सकता, कुछ भी जिसमें कि वह निर्द्वन्द्व धामस्तक दूर सकता....



‘रंगसाजी के कारखाने’ में क्रमशः काम भाने लगा, और थोड़ी-बहुत धामदनी होने लगी। जैसा जीवन शेखर बिता रहा था, उसका खर्च इस धामदनी में—धामदनी के उस धाये धंग में जो उसका था—मजे में चल सकता था। लोगों से मिलने-जुलने से उसने दिल्ली भाने का निश्चय करने के पूर्व ही संन्यास ले लिया था, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि शशि को फिर तिरस्कृत होकर शहर छोड़ना पड़े; और इन दिनों राजनैतिक मामलों के हो-हल्ले के कारण वह भी दलगत रहता था—दल के सभी लोगों ने मिलना-जुलना यथासंभव कम कर दिया था और केवल गिने-बुने ‘सहायकों’ से मिलते थे; सम्पत्ति का काम, और कम गोपनीय पत्र-व्यवहार सब इन्हीं की माध्यता होता था, और बन्दा आदि भी इन्हीं को मार्केट लगाया जाता था। इसलिए ‘सामाजिक खर्च’ के नाम पर कोई खर्च शेखर को नहीं करना पड़ना था, ब्यसन कोई विशेष था नहीं, और मनोरंजन की, सिनेमा-समारोह की उसे कभी सूझी ही नहीं,—न शशि को ही।

किन्तु दूसरी ओर शशि की हालत फिर गिरने लगी थी; वह कुछ कहती नहीं थी, लेकिन शेखर उसके चेहरे पर पढ़ लेता था कि वह थोर यातना भुगत रही है। डाक्टर के आदेश यथासम्भव पालने और पालने का वह यत्न करता था, और कोई विशेष ध्यापात भी उसमें नहीं पड़ता था, क्योंकि शशि आश्चर्यजनक रूप से अनुगत और ‘आभाकारिणी’ होती जा रही थी; किन्तु फिर भी उसका शरीर क्रमशः दुर्बल होता जा रहा था और कभी-कभी दर्द में वह सहसा आँखें बन्द करके इतनी निरचल हो जाती थी कि शेखर सोचने लगता, वह कना प्रत्येक बार बेहोश हो जाती है? वह शशि को लेकर एक प्रसिद्ध डाक्टर के पास गया था, उन्होंने देखकर रोग का इतिहास पूछा था, फिर पुरानी सब हिदायतें दुहराकर कहा था कि गुरदे के कारण बड़ी एहतियात की आवश्यक है, और फिर पेट का भी एक्स-रे कराने का परामर्श दिया था। तीन-चार हफ्ते भी बसाई थी....शशि की अनिच्छा रहने पर भी एक्स-रे लिया गया था और डाक्टर के पास पहुँचा दिया गया था, शेखर के शशि को फिर न जाने पर उन्होंने देर तक पचाने के प्लेट को देखकर गम्भीर स्वर से कहा था, “हूँ, मेरे सम्बन्ध का खण्डन नहीं होता.. ४२ देते—” और समझाने लगे थे कि कैसे पीठ को ठण्ड धोर नमी से बचाना बहुत जरूरी है, और पूरा विश्राम, और मानसिक शान्ति, और फल और नरम मांस, और नियमित तरह की भी उत्तेजना का निवारण....

इन सबमें साक्षात् खर्च होता था....शशि पर उसकी चिन्ता का कुछ भ्रसर न हो, इन अभिप्राय से यह बहुत लड़के उठने लगा; उठकर वह आवश्यक व्यवस्थाएँ करके पुनः बसा जाता और धूमते-धूमते अपनी चिन्ताओं को बराह डालने का उद्योग करता,

जब लौटे तो स्वच्छ मन लेकर लौटे....नदी के किनारे-किनारे बेलारोड के आरपार घूमकर कभी वह खेतों में भी मुड़ जाता; एक दिन खेत पार करते हुए उसने उस बड़े से पीढ़े में से दो-चार टमाटर तोड़ लिए और घर ले आया; अगले दिन से वह बिना विशेष कुछ सोचे ही चादर ओढ़कर घूमने जाने लगा .. तरकारी के खेतों के किनारे-किनारे वह घूमता, और प्रतिदिन नये स्थल से कभी टमाटर तोड़ लेता, कभी गोभी का अच्छा-सा फूल काटकर या शलगम के चार छः पीढ़े उखाड़कर अपनी चादर के नीचे कर लेता और घूमता हुआ आगे बढ़ जाता; फिर घर पहुँचकर वह शशि के लिए शाक बनाता और सामने खिलाकर, स्वयं खाकर काम पर चला जाता... यह चोरी है, इस और उसका तब ध्यान ही नहीं गया; तरकारी शशि के लिए आती है और इस प्रकार जो पैसे बचते हैं, उनसे दवाएँ लाने में सुविधा होती है, इतना ही सोचकर वह गया था। केवल एक दिन जब गोभी का फूल तोड़कर उसने चादर में छिपाया, तब आहट-सी पाकर वह चौंका और कुछ घबराया-सा; तब उस घबराहट को लक्ष्य करके उसने सोचा कि वह जानता है कि वह पाप कर रहा है; किन्तु आखिर कितनी हानि वह पहुँचाता है किसी को ? इतना तो चिड़ियाँ चुग जाती हैं या ढोर चर जाते हैं—इतने बड़े खेत में दो-एक गोभी के फूलों से क्या होता है, और टमाटर तो हाट तक जाते-जाते कितने ही पिचक जाते हैं—इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से उसने अपने को शान्त कर लिया....

किन्तु शशि की अवस्था में फिर भी कोई विशेष सुधार नहीं दिखा; डाक्टर ने केवल फलों के रस की व्यवस्था दी, और शशि की पारदर्शी त्वचा और भी स्वच्छ और कान्तिमान हो आई, आँखें और बड़ी दीखने लगीं; और प्रतिदिन शेखर के काम से लौटने पर शशि की स्वागत की आतुरता बढ़ने लगी....घर लौटकर अपनी इतनी उत्कण्ठत प्रतीक्षा और इतना आश्वस्त अभिनन्दन देखकर उसका हृदय सहसा द्रवित हो आता—शशि के वहाँ होने मात्र से दुनिया कितनी भिन्न है....कारखाने में पेंटरी के काम के साथ-साथ और भी काम उस पर आ पड़ा था—राजनैतिक तनाव के इन दिनों में उसके दल ने भी अपना कार्यक्षेत्र प्रसारित करने का निश्चय किया था और उसे प्रतिदिन किसी न किसी विषय पर अपील या पम्फलेट लिखकर देना पड़ता था। यह भी उसे मालूम हुआ था कि उसके सहकारी, जेल पर आक्रमण करके अपने कुछ विशिष्ट सदस्यों को छुड़ाने की योजना बना रहे हैं और इसमें उसके लिए भी कार्य निश्चित कर दिया गया है, शीघ्र ही उसे एक पिस्तौल भी दी जाएगी; इन सब सूचनाओं से उसका मन उद्वेलित रहता और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाएँ और दुश्चिन्ताएँ उसके मन में भरती रहतीं; पर लौटकर शशि का मुँह देखते ही जैसे यह सब अननिवार्य, अमोलिक, अनात्यन्तिक सूखे पत्ते-सा झर जाता और रह जाता शिशिर-वासन्ती आकाश—शशि को आँखों का आकाश....

कभी वह बोल भी न सकता, उठकर बैठी हुई शशि को लिटा देता और सिरहा

बैठकर चुपचाप उसका माथा धपकता रहता; उठकर काम करने की, भाग बनाने और भोजन तय्यार करने की बाध्यता उसे बखर जाती। वह सोचने लगता कि गाना ही क्यों आवश्यक है; शक्ति के लिए फलों का रस और गर्म दूध जरा-सी देर से तय्यार हो जाएगा, वह यों ही रह सेंगा या बासी खा सेंगा—भाग से वह एक ही वक्त अधिक बना लिया करेगा....कभी शक्ति कहती, “शेखर, तुम खुश नहीं दीखते, क्या बात है?” तब जैसे वह भीतर-भीतर उमड़ धाता....शक्ति का माथा धपकते-धपकते जैसे उसके हान पर प्राण एक विपद्ग संगीत से गूँज आते; शेखर का मन उलझे हुए विचारों से भर जाता और कभी ये विचार मुसर भी हो उठते, शेखर धीरे-धीरे अपना मन शक्ति को बसाने लगता और वह चुपचाप सुनती रहती....

एक दिन प्रचानक शेखर को बताया गया कि उसके ‘सहकारियों’ में से एक, जो युक्तप्रान्त के किसी नगर से भागा हुआ एक इनामी पदमन्त्रकारी है, शहर में पुलिस द्वारा पहचाना गया है, भयः सम्भव है कि पुलिस उस ‘कारशाने’ का भी पता पा जाए, और उसे चौकड़ा रहना चाहिए। उस दिन तीनों सहकारियों का सहकार समाप्त होगा—दो उसी दिन कहो चले गए—बाद में शेखर को मासूम हुआ कि कानपुर चले गए थे—और तीसरे का, जो शहर में पहचाना गया था, तत्काल बाहर जाना सम्भव और उचित न समझा जाने के कारण निश्चय हुआ कि वह दो-तीन दिन शेखर के यहाँ रहेगा और मौका लगते ही भग्न चला जाएगा। फलतः दोनहर की ही शेखर पर लौट आया—तब हुआ था कि भपराहू में किसी समय मेहमान उसके यहाँ पहुँच जाएगा, उसके साथ ही शहर पार करके नहीं जाएगा।

जल्दी मौट भागे से शक्ति प्रसन्न होगी—मेहमान के आने से दो-तीन दिन तक उनके सक्ष्य में बाधा पड़ेगी; इन दो बिरोधी विचारों को लेकर शेखर जब पर पहुँचा, तो शक्ति ने प्रचकचाकर अपने भागे पीले हुए पन्ने समेटते हुए पूछा, “भाज अभी कैसे—”

“बरा तिस रही हो—छिप-छिपकर कोई पोया तिस रही हो क्या ? मुझे तो मासूम ही नहीं—”

“कुछ नहीं, चिट्ठी लिख रही थी....”

“इतनी सच्ची चिट्ठी ? किस पर इतनी कृपा—”

शेखर उसे चिढ़ाना चाहता था, पर उसके मुँह पर मंकोज के भाव की ललित करके चुप रह गया। यह भी उसने देखा कि शक्ति का चेहरा असाधारण पीला है, और पतन के चिह्न उस पर स्पष्ट हैं....एक झुठ छाया-सी उसके मन में दोड़ गई कि मायद रामेश्वर को पत्र लिख रही हो—क्योंकि मौला को होता तो खिगाती क्यों; पर क्या मानुस इसलिए खिगाती हो कि शेखर की बात तिलो हो—ओ हो....बोला, “यों ही जन्दी माना हो गया, एक मेहमान आनेवाले है।”

“मेहमान—हमारे यहाँ ? कौन ?”

“हैं एक । और शशि, बड़े संकोची जीव हैं—मेरे साथ नहीं आए, बोले कि पहले जाकर शशिजी को बता दो, नहीं तो मुझे डर लगता है और सामने परिचय कराओगे तो शर्म आएगी !”

“वत् ! आखिर हैं कौन ? इतने संकोची हैं तो सीढ़ियों के ऊपर के आले में टिका देना—मेरे सामने ही नहीं आना पड़ेगा !”

शेखर हँसने लगा । फिर उसने पूरी घटना शशि को बता दी ।

शशि ने कुछ चिन्तित स्वर से पूछा, “वे सन्दिग्ध व्यक्ति हैं—तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?”

“हाँ, अन्देश तो नहीं है, पर सम्भावना तो है ही—क्यों, घबराती हो ?”

शशि ने अनमने भाव से कहा, “नहीं, घबराना क्या—” पर तब स्वयं शेखर के मन में यह सम्भावना दोड़ गई कि यदि सचमुच पुलिस आकर मेहमान के साथ उसे भी ले जाए, तो अकेली शशि.... इस विचार ने आतिथ्य के मामले को एक नया रूप दे दिया, शेखर चुपका-सा हो गया; फिर थोड़ी देर बाद बोला, “शशि, छोड़ो सोच को—जल्दी से कुछ व्यवस्था कर डालूँ—”

“क्या व्यवस्था करोगे ?”

“पहले तुम लेट जाओ; देखती रहो कि मैं सब कामों में कितना दक्ष हो गया हूँ !”

वहस के बाद तब हुआ कि शेखर के कमरे में मेहमान और शेखर दोनों फर्श पर सोएँगे—यदि मेहमान शेखर की चारपाई लेकर उसे अकेले नीचे सोने देना न पसन्द करेंगे । शशि का आग्रह था कि वह नीचे सोएगी और उसकी चारपाई ले ली जाए, पर उसने अधिक हठ नहीं किया । विस्तर मेहमान अपना लावेंगे—न लावेंगे तो उस समय कहीं से माँग लिया जाएगा । भोजन का निश्चय उनके आने के बाद होगा—सम्भव है, वे खाने अन्धधुन चले जाया करें । यहाँ तक फैसला होने के बाद शशि ने हँसकर पूछा, “तो व्यवस्था क्या करनी है ?”

व्यवस्था की बात केवल एक निकली कि अपने कमरे से कापियाँ और पुस्तकें शेखर लाकर शशि के कमरे में डाल देगा, और इधर से एक छोटी चौकी उठाकर उधर रख लेगा, जो मेज, तिपाई और डेस्क का काम देगी....

मेहमान आकर टिक गए । नाम-मात्र विस्तार वे साथ लाए थे, और कुछ सामान नहीं था । मालूम हुआ कि साँझ का भोजन वे घर पर किया करेंगे, किन्तु दिन भर कोई भरोसा न किया जाए; वे दिल्ली से निकलने के प्रबन्ध में घूमते फिरेंगे और जहाँ मौका लगेगा, खा-पी लेंगे....

भोजन करके वे बहुत जल्दी सो गए; अगले दिन सबेरे शेखर की नींद खुली तो उसने देखा कि वे बाहर जाने के लिए तैयार हैं । शाम को लौटने का कहकर वे चले गए । जाने लगे तो शशि ने अचानक कहा, “देखिए, आप दिन भर इसलिए बाहर रहने

की सोचते हों कि मैं यहाँ धकेली हूँ, तो आपकी जता दूँ कि मुझे कोई दिक्कत नहीं होगी; आप दिन भर यहाँ रह सकते हैं। मैं कोई धातिव्य नहीं कर सकूंगी, इसका जरूर मुझे खेद है; शेखर की अनुमति नहीं है—”

शेखर ने भी कहा, “हाँ, वहीं मचमुच इसीलिए तो नहीं—”

मेहमान कुछ भेंपकर बोले, “थोड़ा-सा संकोच तो था, पर—” शशि की धीर देत-कर, “आपका कृतज्ञ है। अगर यहाँ आना ही ठीक जान पड़ा, तो अब संकोच के कारण नहीं सकूँगा।”



कारखाने में शेखर धकेला था, काम हाथ में होने से वह बराबर उसमें जुटा रहा किन्तु मन उसका वहाँ नहीं था; शशि का चिन्तित, पीसा चेहरा बार-बार उसके साम-आ जाना, और बार-बार यह विचार उठना कि शशि की ओर उसकी यह समस्या केवल भ्रातृत्विक नहीं है, बाह्य भी है, भाष्यात्मिक प्यार की ही नहीं, मौक्तिक जीवन की भी है; इतना ही नहीं, वह केवल उन दोनों को नहीं, बल्कि उस सारे जीवनपुंज की समस्या है, जिससे उनकी परिचिति है....और इससे आगे बढ़कर कि यही प्यार नहीं, सभी प्यार—प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और वो इकाइयों तक सीमित नहीं है....कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और घाटे, उस समस्या में उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं.. मूल समस्या सामंजस्य की है; प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिगोमता विचलित हो जाती है, यह विचलन ही समस्या है, क्योंकि यह व्यापक है, मौक्तिक है, जीवन के ‘सरबार की पार पर’—समस्य पारों पर!—सघे हुए समतोल को डगमगा जाती है....तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाए.. समस्या है और साधना है, समस्या है....और समस्या के इस निरूपण तक पहुँचकर उसका मन फिर लौट जाता शशि के पीले चेहरे की ओर, और इतनी बड़ी उत्तमन में गुंथी हुई तात्कालिक छोटी-छोटी उलझनों की ओर....

पाँच बजने से कुछ पहले ही उसने जल्दी-जल्दी दूकान बन्द की ओर पर चला। दिन कुछ सम्बन्ध हो गए थे, अब वह घर ऐसे समय पर पहुँचता था कि बरामदे में शशि के लिए शीतलपाटी और तकिया रखकर उसे वहाँ बिठाकर पाय सड़ा होकर जमुना के पानी से सोदित हो उठने की प्रतीक्षा कर सके....

घर से कुछ दूर पर से ही उसने देखा, शशि द्वार पर नहीं बाट देस रही है। उसे देख और पहचानकर वह तुरन्त चली गई और चारपाई पर बैठ गई। शेखर ने आकर पूछा, “क्यों, शशि?”

“कुछ नहीं—”

“कुछ सबसीद्ध है?”

“नहीं तो, अच्छी भली तो बैठी हैं—”

“अभी तो बाहर खड़ी थीं—मैंने देख लिया था—”

“ओह, यों ही ; सोच रही थी कि तुम कब लौटोगे, कहीं बहुत देर हो जाए—”

“क्यों ?” कहकर शेखर समझ गया कि शशि मेहमान की उपस्थिति के कारण चिन्तित हैं। थोड़ी देर चुप रहकर बोला, “कल से और जल्दी आ जाया करूँगा—”

“नहीं, काम तो करना ही है। हाँ, लौटकर कुछ लिख-पढ़ सको—”

शेखर ने जैसे रहस्योद्घाटन करते हुए कहा, “कुछ तो कारखाने में भी लिखता रहा हूँ—काम तो और था नहीं—”

शशि ने किंचित् खिलकर कहा, “अच्छा—मुझे नहीं बताया।” फिर कुछ एककर

“यहाँ क्यों नहीं ले आते—जल्दी पूरा कर लेते—”

“नहीं शशि, अब यहाँ नहीं लिखता। तुम्हारे पास और कुछ नहीं करना चाहता—लिखना भी नहीं। ध्यान बट जाता है—”

शशि ने धीरे से कहा, “पागल !” और चुप हो गई।

थोड़ी देर बाद मेहमान आ गए। भीतर आकर उन्होंने किवाड़ सतर्कता से बन्द कर लिए और शेखर की ओर देखकर कहा, “तुम आ गए, यह अच्छा हुआ।”

कमरे में जाकर उन्होंने कोट के नीचे से दो-एक बंडल निकालकर बिस्तरे पर रखे और फिर स्वयं बैठ गए। शेखर से कहा, “मेरी राय से किवाड़ उढ़का हो दीजिए—” और शेखर के बैसा कर देने पर धीरे-धीरे बंडल खोलने लगे। साथ-साथ बोले, “मैंने जाने का प्रबन्ध लगभग ठीक कर लिया है। परसों तड़के ही चला जाऊँगा—अगर कोई विशेष बाधा न हुई तो। पर कल कुछ आवश्यक काम करना है—और उसमें आपको मदद करनी होगी। इनको परखना है—”

शेखर ने देखा, एक बंडल में से तीन पिस्तौल, दूसरे में से विभिन्न साइज के दो रियाल्वर और तीसरे में से अनेक छोटी-बड़ी गोलियाँ निकल आई हैं। कुछ भचकचाकर उसने कहा, “मुझे क्या करना होगा—”

एक रियाल्वर को हाथ से दुलराते हुए अतिथि बोले, “यह मेरा विश्वासी साथी है—इसे तो जानता हूँ। बाकी नए हैं। उन्हें टेस्ट करना है। जमुना के पार कहीं जगह देखकर कर लेंगे। उधर मौका ठीक है। फिर भी ‘लुक-आउट’ रखना जरूरी है, इसलिए—”

शेखर समझ गया। “कब चलेना होगा ?”

“तुम दोपहर को आ सकोगे ?”

“अच्छा !”

भोजन करने के बाद मेहमान शेखर से क्षमा माँगकर फिर जल्दी सो गए। शेखर धनमना जागता हुआ खड़ा रहा, फिर सोना असम्भव पाकर देखने उठा कि शशि न सोई हो तो उसके पास जा बैठे। पर शशि के कमरे में प्रकाश था—वह भीतर चला

गया। शशि चुपचाप लेटी छत की ओर देख रही थी, उसको चारपाई के पास नीचे दबात और कलम पड़ी थी और मिरहाने दो-बार कागज—

“क्या कुछ लिखने जा रही हो? मुझे लिखा दो—”

“नहीं, ये तो यों ही रखे हैं कि कुछ काम याद आ जाए तो—भाजकन बहुत मुलबकड़ हो गई है—”

शेखर ने सीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर पूछा, “नींद आ रही है?—मैं थोड़ी देर बैठ जाऊँ—”

शशि ने चारपाई की बाही पर से कम्बल समेटकर जगह कर दी।

“मैं इधर सिरहाने बैठूँगा”, कहकर शेखर तकिये के कोने के पास बैठने लगा।

“नहीं, उपर मुझे दीखता नहीं, सामने बैठो।”

शेखर बाही पर आकर बैठ गया।

आया था वह साहचर्य के लिए, और वह निस्सन्देह उसे मिला, किन्तु कितना गूंगा साहचर्य! वह स्वयं भी कुछ नहीं बोल सका, शशि भी नहीं बोली, बल्कि जब उसने धीरे से आँखें भी बन्द कर ली।

“सोती हो?”

“नहीं, रोगनी चुनती है—” और फिर मौन....

बात चताने के लिए शेखर ने कहा, “मोसी का कोई समाचार नहीं आया—न जाने कैसी है और क्या सोचती है....”

“हमने भी तो नहीं लिखा—उन्हें ठीक पता मालूम है?”

“उन्हें तो डाकघर का ही पता दिया था, यहाँ डाकघरवालों की सूचना दी थी, पर चिट्ठी तो कोई आई नहीं।”

“ठीक ही होगी। लिखेंगी भी क्या—मैंने उन्हें तोड़ दिया है....”

शेखर ने धीरे से एक हाथ उसकी बांह पर रख दिया।

“सोचती है, गौरा को लिखूँ कि मुझे पता देती रहे। वह कर सकती है—मर तो बड़ी है और समझदार तो है ही।” फिर जैसे किसी अचानक विचार का अनुसरण करते हुए, “तुम्हारी तो भक्त है।”

“मेरी—क्यों?”

“जब से जेल गए हो तब से। वह दोस्तनी-बान्दवी कुछ नहीं, पर छोपटी बहुत है।”

फिर सभाटा छा गया। एकाएक शशि ने पूछा, “किवाड़ बन्द करके क्या कर रहे थे?”

“कुछ नहीं—वे परसों आ रहे हैं।”

“इसलिए किवाड़ बन्द किए थे? कमरे से अन्तर्धान होने? और फिर अभी तो दो दिन हैं—”

कुछ रुककर शेखर ने वता दिया । “शशि, तुम्हारे ही बचाव की बात सोची होगी उन्होंने—पिस्तौल बगैरह छिपा रहे थे ।”

“पिस्तौल किस लिए लाए हैं ?”

“पास रखते हैं—जख्मत पड़ सकती है ।”

“थोड़ी देर बाद, परसों कब जाएंगे ?”

“तुम्हारे ।”

“कैसे ?”

“पता नहीं—यहाँ से चले जाएंगे । पूछना उचित भी नहीं है—वे-मतलब बात जितनी कम जानी जाए, उतना ही अच्छा है—”

“हूँ ।”

फिर बातचीत बन्द हो गई ।

“शेखर, तुम पर संकट हो, तो तुम भी पिस्तौल लिए फिरो ?”

“....”

“अपने को खतरा हो सकता है, इसलिए दूसरे को मारने को हर वक्त तैयार रहना मुझे तो ठीक नहीं लगता—”

“युद्ध का तो यही नियम है—”

“युद्ध ही क्या ठीक है ? पर अन्तर भी है—युद्ध असाधारण बात होती है और आदमी जानता है कि समाप्त होते ही वह साधारण शान्तिपूर्ण जीवन में लौट आएगा । पर यह तो रोजमर्रा के नागरिक जीवन की बात है—हर किसी को हर वक्त मारने को तैयार रहना—”

“क्यों—यहाँ भी तो केवल शत्रु को ही खतरा है—हमें-तुम्हें थोड़े ही उठकर मार देंगे ? और असाधारण परिस्थिति तो—”

“यह तो ठीक है, मैं नहीं कहतो कि चाहे जिसके मार देंगे, पर इसका मनोवृत्ति पर तो बुरा असर पड़ता होगा—यह आदमी के लिए अच्छा नहीं है ।”

“वे शायद यह कहेंगे कि अपने उद्योग का दाम हम अपने जीवन से चुकाते हैं । महंगा सौदा है तो दाम तो हमारे हो लगते हैं, हम भुगत लेंगे ।”

“छोड़ो, खैर—कल कब जाएंगे ?”

“कहाँ—कारखाने ? उसी वक्त—”

“फिर मौन हो गया और बहुत देर तक रहा । शेखर बहुत धीरे-धीरे उठने लगा तब शशि ने एकाएक घाँखें खोलीं, उसके कुछ कहने से पहले ही शेखर बोला, “नहीं, अर्भ जाता नहीं—” उठकर उसने वत्ती मन्द कर दी और अब आकर सिरहाने बैठ गया एक हाथ शशि के माथे पर रख दिया । शशि ने फिर घाँखें बन्द कर लीं ।

दूर कहीं से खेतों के किसी रखवाले की पुकार का धीमा-सा स्वर आया, उस कुछ देर बाद गीदड़ों का ‘हुप्पा-हुप्पा’ और उत्तर में कुत्तों का भौकना, फिर दो-तीन ब

किमी जलचारी पक्षी का तीखा चोत्कार, फिर सन्नाटा, जिसमें रात की मान्तरिक नीरवता का स्वर गूँज रहा था....

शशि शायद सो गई थी—सीधी वह भब कभी नहीं लेटती थी, इस या उस करवट ही रहती थी और टाँगें सदा सिकुड़ी रहती थी। भब भी वह ऐसे ही सोई थी, शेखर का हाथ उसके माथे पर नहीं, कनपटी पर था, और उसकी हथेली कनपटी पर शशि के माहो-स्पन्दन का हल्का-सा अनुभव कर सकती थी....

एकाएक शशि ने चौंकर कहा, “शेखर !” और उसका हाथ पकड़ लिया—शेखर ने कोमल स्वर से कहा, “क्यों, जाग गई—” शशि ने उत्तर नहीं दिया, उसका हाथ पकड़कर भागी मुँह पर खींच लिया और उसकी उँगलियों को धीरे-धीरे अपने निरचल झोंठों पर किराती रही.... थोड़ी देर बाद हाथ छोड़कर उसने कहा, “शेखर, भब जाकर सो जाओ, देर हो गई है। मैं यों ही जाग गई, अभी फिर सो जाऊँगी।”

वह फिर पूर्ववत् निरचल हो गई। तब शेखर धीरे-धीरे उठा, एक बार मुँह शशि के सिर के बहुत पास लाकर उसने जैसे शशि के केश सूँघे और फिर दबे-साँव अपने कमरे में चला गया।



सबरे-सबरे ही एक युवक ने आकर पूछा, “दादा कहाँ हैं—”

“कौन दादा ?” शेखर ने स्लाई के साथ कहा। इतने में प्रतिधि आ गए और बोले, “भोह—भ्रष्टा। शेखर, ये मेरे लिए आए हैं।”

‘दादा’ ने अपना रिवाज और गोनियाँ रखकर बाकी शस्त्र और गोतियाँ युवक को दे दी और कुछ आदेश देकर विदा कर दिया। फिर स्वयं भी चले, जाते वक्त शेखर से फिर कह गए, “दोपहर को तैयार रहिएगा—”

शेखर ने पहले सोचा था कि शशि से कुछ नहीं कहेगा, किन्तु दोपहर को जल्दी लौटने और फिर जाने पर वह पूछेगा, और तब बताने से अभी कहना भ्रष्टा है, यह सोचकर उसने शशि को बता दिया कि दोपहर को वह लौट आएगा, क्योंकि ‘दादा’ के साथ कही जाना है।

“कहाँ ? क्या करने ?”

“जमुना के पार कही। क्यों, यह तो मानुष नहीं।”

“यानी न पूछू ?”

“नहीं, शशि; सचमुच मेरा क्या काम है, मुझे नहीं मानुष।”

दोपहर को शेखर आवश्यकता से भी पहले लौट आया, और दादा को प्रतीक्षा करने लगा।

दादा नहीं आए। सगभय सोन बजे सबरेवाला युवक आया और बोला, “दादा आपको वहीं बुला रहे हैं, वे स्वयं अभी नहीं आएंगे।”

शेखर चुपचाप तैयार होकर साथ हो लिया। चलते समय शशि ने पूछा, “कब तक लौटोगे ?”

शेखर ने अनुमान से कहा, “दिन छिपे तक लौट आऊंगा—घबराना मत।” और चला गया।

पुल पार करके दोनों नदी के किनारे हो लिए। एक गाँव पार करके मील भर जाने के बाद सरकांडे के एक झुरमुट की ओट में ‘दादा’ मिले। देखते ही उन्होंने युवक से पूछा, “ऑल क्लियर ?”

“मेरे ह्याल में तो ठीक ही है। पुल पर एक दीखा था, पर यहाँ तो ठीक है।” झुरमुट से आगे रेती का ढाल था जिससे एक सूखी खाई-सी बन गई थी, उससे आगे फिर ऊँची जगह थी। खाई में आदमी किसी ओर से नहीं दीखता था, और चाँद-मारी के लिए दोनों ओर की रेत की दीवार मानो खास बनाई गई थी। एक ओर को जमुना की दुबली धारा थी—कुछ विस्मय से शेखर ने जाना कि वहाँ से लगभग सामने परली पार उसका घर था....

शेखर को एक ओर पहरा देने को नियुक्त किया गया; युवक को दूसरी ओर। दादा खाई में चले गए। थोड़ी देर बाद एक फायर सुनाई दिया; फिर थोड़ी-थोड़ी देर बाद इक्के-दुक्के कई एक फायर, कुछ तीखे और कुछ चिड़चिड़े, कुछ गम्भीर....

थोड़ी देर बाद दादा लौट आए; बोले, “सब ठीक ही हैं। बल्कि कारतूसों में कुछ पुराने हैं—घोखा दे सकते हैं।”

तीनों वापस लौटने लगे। किन्तु जब सड़क के पास पहुँचे तो दादा अचानक ठिठक गए। शेखर ने देखा, पुल की ओर से एक खाकी रंग की लारी आ रही है, जिसमें कई एक पुलिस के सिपाही हैं। लारी रुकी नहीं, धीमी चाल से शाहदरे की ओर बढ़ती रही, किन्तु दादा ने कहा, “मामला कुछ गड़बड़ दीखता है,” और थोड़ा चक्कर-सा काटकर वापस वीरान की ओर लौट चले। शेखर और तीसरा युवक भी पीछे-पीछे मुड़ गए।

वीरान के एक ओर रास्ता था, दादा ने उसी को पकड़ा।

“यह कहाँ जाता है ?”

“कहीं बस्ती की ओर ही जाता होगा—शाम तक यहाँ थोड़े ही बैठा जा सकता है ?”

शेखर ने पूछना चाहा कि शाम तक बैठना क्यों जरूरी है, और उसके बाद क्या होगा, पर सब बात दादा पर छोड़कर चुप रहा। लगभग तीन मील जाकर एक झरना आया; तब सूर्यास्त में अंधेरा नहीं था, इसलिए दादा ने गाँव में जाना व्यर्थ समझा और एक बगल हो लिए।

“शेखर, तैरना जानते हो ?”

“हाँ, थोड़ा-बहुत; क्यों ?”

“यहीं—कहीं से जमुना पार की जाएगी—पुस से खतरा है।”

“अच्छा, भाजकल पानी तो ज्यादा नहीं होगा—शायद तैरने की जरूरत न पड़े—”

“तब तो अच्छा है, पर अगर पड़ जाए तो—भोर इन चीजों को भी तों पानी से बचाना है न—पर वह मैं कर लूंगा, मुझे हाथ उठाकर तैरने का अभ्यास है। नदी कितनी दूर होगी?”

“मील भर तो होगी—रास्ते से दो मील—”

“रास्ते से क्यों; यहाँ से सीधे निकल चले—”

“बीच में नाला-खा दीखता है—कोबड़ होगा—”

प्रभुनात्मक “हूँ—” कहकर दादा मुड़े और एक क्षेत्र की बगल से चलने लगे।

सामने से जेत की मेड़ पर अपने को तोलती हुई एक किसान लड़की चली आ रही थी; सिर पर उसके एक गट्ठर था, जिसको संभालने के लिए एक बांह उठी थी, पर गट्ठर को धूती नहीं थी; उसकी चाल के साथ-साथ झूलती जाती थी। लड़की धीरे-धीरे कुछ गुनगुना भी रही थी।

दादा ने क्षण भर रुककर पूछा, “जमुनाजी कितनी दूर होंगी?”

लड़की ठिठक गई। “ऐं—जमुनाजी? लौटके फिरके सीधे चले जाओ, एक कोई डेढ़ कोस होगी। इधर कहाँ जा रहे हो?”

“इधर से रास्ता नहीं है?”

“ना।”

शेखर ने पूछा, “इधर से काटकर नहीं जा सकते—अगर रास्ता बच जाए—?”

लड़की ने एक बार शेखर की ओर देखा, फिर एक बार धीरे-धीरे दादा की ओर से पीर तक; फिर शेखर की ओर उन्मुख होकर बोली, “कोबड़ है, और बड़े ऊँचे कराड़े हैं। तुम तो चले जाओगे, पर इन फनकसनाथ से कैसे चला जाएगा?”

शेखर स्तब्ध रह गया। दादा शरीर से काँड़ी भारी थे, पर अपनी कामा की इतनी स्पष्ट आलोचना उन्होंने कभी सुनी थी या नहीं, नहीं मालूम। बटादा को मुस्कराकर स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, “बिटिया, बक करा सेता है, देखें—” और बढ़े।

लड़की ने भागे जाने हुए कहा, “कँस जाओगे!” और मानो उनकी उस परिस्थिति को कल्पना करते हुए हँस पड़ी।

तीनों नाले की ओर उतरे, जब रेतों नरम हो चली, तब जूते उतारकर उन्होंने हाथ में पकड़ लिए और धुपचाप बढ़ने लगे। कोबड़ सचमुच दलदल में कम नहीं थी—मूर्ख भ्रष्ट हो गया था; सामनेवाले का ऊँचा करारा थोमा-सा दीख रहा था और सान्निध्य की हवा से भ्रातृ सरसरा उठे थे....

जब करारा बिलकुल सामने आ गया, तब दादा ने सोचते हुए से कहा, “साठ-साठ मील का पेंडा मैंने किया है, छोकरी कहती थी फनकसनाथ!” फिर बोझें गिराईं।

ही गया हूँ कुछ मोटा—” और मानो लड़की द्वारा लगाए लाञ्छन का प्रतिवाद करने के लिए सबसे पहले ऊपर चढ़ने लगे....

ऊपर से जमुनां दीखने लगी ; पार वस्तियाँ जल रही थीं । शेखर का मन एकाएक शशि के लिए अत्यन्त चिन्तित हो उठा....नदी पार करके भी कम से कम दो मील लॉटना होगा....

●

जब दादा ने कहा, “शेखर, मैं जरा एक जगह होता हुआ झाँगा,” और उसे अनुमति दे दी कि वह सीधा घर लौट जाए, तब शेखर प्रसन्न ही नहीं, कुतज्ञ-सा हो आया—क्योंकि अब वह तेजी से चलकर लौट सकेगा और किसी के आने से पहले शशि से क्षमा भी माँग सकेगा....

सिर झुकाए हुए बड़ी तेज गति से वह चलने लगा—बीच-बीच में एकान्त सड़क देखकर थोड़ा दौड़ लेता और फिर चलने लगता....एकाएक अपने घर के चौखटे पर पैर रखते हुए ही उसने सिर ऊपर उठाया, क्योंकि अँधेरे में कोई निश्चल खड़ा था—शशि... धाँचल हाथ से उठाए हुए उसने नाक और मुँह ढँक रखा था, केवल आँखें खुली थीं....

शेखर का हृदय धक् से हो गया । बिना एक शब्द बोले उसने एक बाँह से शशि को घेर लिया और लगभग धकेलता-खींचता हुआ भीतर ले गया—शशि का शरीर शीत से काँप रहा था....जब वह उसे खाट पर बिठाने लगा, तब उसे लगा कि शशि की आँखों से दो बूँदें गिरी हैं—घर में बत्ती नहीं जली थी—उसने लज्जित, चिन्तित और स्नेह-भरे स्वर में कहा, “शशि—”

इतना पर्याप्त था । शशि ने टूटती हुई आवाज में कहा, “आ गए तुम—” और फूट पड़ी....

शेखर लज्जा से गड़ गया, कुछ बोल नहीं सका....फिर सहसा कर्तव्य याद करके शशि को कमबल उठा दिए, और लपककर अँगोठी जलाने चला । कोयलों को जल्दी मड़काने के लिए जोरों से फूँकता हुआ वह शशि के सिसकने का धीमा स्वर सुनता रहा, वह स्वर उसके भीतर बहुत गहरे में कहीं भोंडी छुरी की तरह चुभता रहा....जब आग कुछ सुलग गई, तब वह अँगोठी लेकर शशि के कमरे में पहुँचा, अँगोठी रखकर शशि को धीरे-धीरे लिटाने का प्रयत्न करते हुए बोला, “बच्चे, सर्दी क्यों लगा ली—इतनी फ़िक्र काहे की थी—”

शशि शरीर कड़ा करके बैठी रही, कन्धे से उसका हाथ परे धकेलती हुई बोली, “हटो—”

शेखर अप्रतिभ कुछ देर तक खड़ा रहा । फिर उसने दुबारा कहा, “शशि, बच्चे, लेटकर काब्स सोड़ लो—मेरे अपराध की सजा अपने को क्यों देती हो—”

शशि कुछ बोली नहीं, हिली नहीं । शेखर हताश-सा खड़ा रहा ।

घोड़ी देर बाद शशि एक लम्बी साँस लेकर अपने धार सेट गई—हाथ-पाँव तिकोड़-कर, स्मिर झीलों से भंगोटी के कोयलों की ओर देखती हुई—

“शशि, मैंने जानबूझकर देर नहीं की, बहुत दूर से नदी पार करके यहाँ आना पड़ा, इसलिए देर लग गई—”

वहीं झीलों गड़ाए हुए, “क्यों क्या हुआ था—”

“कुछ नहीं, हम लोग सौटने लगे तो एक पुलिस की लारी देखकर दादा ने कहा, पुल पर से नहीं जाएँगे। तब पाँच-छः मील भटककर नदी पार करके आए।”

“गए क्या करने थे?”

रोलर चुप रहा। घोड़ी देर बाद शशि बोली, “बलो, सौट तो आए—”

“क्यों, शशि, तुम इतना घबरा क्यों गई—”

भाग की ओर देखते-देखते शशि ने फीकी हँसी हँस दी। “हूँ—घबरा क्यों गई। तुम्हें क्या मालूम भयराना क्या होता है.. मैं तो समझी था कि अब—तुम नहीं आओगे—”

“क्यों, शशि, ऐसी क्या बात थी बला—”

शशि ने जैसे अपने भीतर की ओर देखते हुए, सोचते-मे स्वर में कहा, “तुम पार गए थे, यह मुझे मालूम था। पीछे मैं बाहर खड़ी थी तो मुझे लगा, पार वहीं से गोलियाँ चलने की आवाज आ रही है। तुम्हारे बारे में विशेष कभी नहीं करती—मुझे लगता है कि तुम्हारा अनिष्ट कुछ होगा तो अपने आप जान जाऊँगी; पर आज न जाने क्यों मैंने समझा कि अब तुम्हें नहीं देखूँगी—कि तुम गए अब....शायद इसलिए कि अब—मैं ही जा रही हूँ।”

“क्या, शशि—”

“हाँ, रोलर, घबराहट बुरी बीज है; पर कभी-कभी उससे दिव्य-दृष्टि मिलती है। तुम्हारी बात देखते-देखते—तुम्हारी क्या, तुम्हारे कुछ समाचार की प्रतीक्षा करते—मैंने बहुत कुछ देखा है, जो पहले नहीं देखा था—इतना स्पष्ट नहीं।”

“क्या, शशि?”

“बहुत कुछ... किसी विदेशी उपन्यास में पढ़ा था कि प्यार एक कला है, धीरे कला संयम का दूसरा नाम है। धीरे इसकी व्याख्या की गई थी, किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्देश्य की गुरादग न रह जाए—कि जीवन एक स्वतन्त्र इकाई है और यदि वह बिलगुन परायण हो जाए तो यह कला नहीं है, क्योंकि कला के आदर्श से उत्तरकर है। तब नहीं समझेंगे कि यह सब क्या है....”

रोलर भी चुपचाप भाग की ओर देखने लगा।

“स्वीकार तो अब भी नहीं किया—पर समझ आब गई....मैं—कला से भागे।”

गई है....और—और मैंने देखा, यह ठीक है—मेरे लिए ठीक है। जीवन में दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश मुझे नहीं चाहिए—क्योंकि—अब जीवन भी और नहीं है।”

शेखर ने आहत होकर कहा, “शशि, तुम्हें बहुत क्लेश पहुँचा है, इसलिए ऐसी बातें कर रही हो—”

“नहीं, शेखर, नहीं। तुम्हारे बारे में जो कुछ मैंने आज देखा, उसमें चाहे भूल की हो, पर इस बारे में—नहीं। मेरा काम पूरा हो गया ...”

शशि के स्वर में इतनी निश्चयात्मकता थी कि प्रतिवाद में शेखर कुछ बोल नहीं सका। अब तक खड़ा था, अब सहसा शशि की चारपाई पर बैठ गया। उसका स्तब्ध मन शशि की बात का पूरा अभिप्राय समझने का प्रयास करने लगा—पर इससे आगे नहीं बढ़ सका कि शशि कहती है, वह अधिक नहीं जिएगी....

शशि ने धीरे-धीरे आँखें बन्द कर लीं। शेखर आग की ओर देखता रहा। बहुत-सा समय बीत गया—कोयलों पर राख की परत पड़ गई....शेखर अंगीठी को हिलाने के लिए उठनेवाला था कि उसे लगा, शशि की साँस काफ़ी तेज़ चल रही है। उसने धीमे से पुकारा, “शशि—” और उसके माथे पर हाथ रखा और तत्काल खींच लिया। शशि को ज्वर हो आया था....

शशि ने कहा, “अभी चढ़ रहा मालूम होता है।”

शेखर ने एक कम्वल अपने विस्तर से लाकर और उढ़ा दिया, अंगीठी में आग भड़का दी और फिर कमरे में टहलने लगा....

एक बार सूचनात्मक खड़का करके उढ़काए हुए किवाड़ खोलकर दादा घर में आ गए; शेखर शशि के कमरे से निकलकर स्वागत करने बढ़ा, और एक साथ ही आतिथ्य के अनेक दायित्व उसे याद आ गए—

पर दादा ने कहा, “यह लो, तुम दोनों के लिए खाना बाज़ार से लेता आया हूँ—बहुत देर हो गई थी—”

शेखर कृतज्ञ-भाव से चुप रह गया।

“शशिजी की तबीयत ठीक है?”

“ऊँ—नहीं—उन्हें कुछ ज्वर है।”

दादा शेखर के कमरे में जाकर सामान आदि रखने लगे, शेखर तश्तरियाँ लेने बढ़ा।

●

दादा ने बताया कि बड़े तड़के वहाँ से चले जाएँगे—दिन निकलने से पहले दिल्ली से बाहर चले जाएँगे और किसी छोटे से स्टेशन से गाड़ी पर सवार हो जाएँगे। उनके जाने समय शेखर के जागने की जरूरत नहीं है, वे चुपचाप चले जाएँगे, फिर कभी मिलना होगा तो अच्छा, नहीं तो—‘नहीं तो फिर बैसा हो!’

जब सोने का उपक्रम करके वे नियमित साँसें लेने लगे तब शेखर चुपके से बाहर धाया धीरे शशि के कमरे में गया। शशि का माया छूकर देखा, चर या। शशि सोई नहीं थी, गिरित पड़ी थी.... थोड़ी देर उसका माया सहताकर वह फिर बाहर धाया, झेंगीठी में कुछ धीरे कोयले डालकर आँच भड़काकर शशि के कमरे में रख दी, सिरहाने के पास चौकी पर पानी रखा; शशि से धीरे से कहा, "शशि, कुछ जरूरत हो तो मुझे बुला लेना—यों ही उठना मत...." धीरे क्षण भर अनिश्चित खड़ा रहकर अपने कमरे में जाकर लेट गया।

उसे लगा कि उसे रात भर नींद नहीं आएगी, वह सोचता रहेगा—पर न जाने कब दिन की भटकन की प्रतिक्रिया ने उसे घर दबाया और वह सो गया। जब जागा तो हड़बड़ाकर दादा के सिरहाने पड़ी रेडियम पड़ो देखी, चार बज रहे थे.... वह रात का सबसे ठण्डा समय होता है, यह सोचकर वह झेंगीठी में फिर से धाया जलाकर शशि के कमरे में रखने के विचार से उठा तो देखा, वहाँ सैम्प का ताँसा प्रकाश है, यद्यपि वह बत्ती धीमी कर धाया था.... लपककर वहाँ पहुँचा तो देखा, शशि एक कोहनी पर शरीर साथे लेटी-लेटी लिख रही है—लिख नहीं, लिखती रही है, और अब मानो धककर सिर झुकाकर विषम कर रही है, कसम अभी उसके हाथ में है। पहली प्रवृत्ति हुई कि पढ़े, क्या लिख रही है, किन्तु उसे दबाकर वह शशि की भाराम से लिटाने के लिए धागे बढ़ा तो वह उठ गई, बैठी होकर उसने पकी हुई बाँह की सीपा किया और कागज उठाने लगी।

शेखर ने गहरे उपात्म के स्वर में कहा, "शशि...."

शशि सहज भाव से बोली, "बस, अब तो लिख चुकी—" पर शेखर के मुँह का पीड़ित भाव देखकर कुछ सज्जित-सी हो गई "यह लिखना जरूरी हो गया था—अब और कुछ शैतानी नहीं करूँगी—शेखर, मैं बड़ी भागाकारिणी हो गई हूँ, अब तो—"

निरस्व-भाव से शेखर ने झेंगीठी उठाई और जलाने से चला।

खड़के से दादा जाग गए। उठकर बाहर आए और बोले, "मैं तो धुपचार गिरकने वाला था, आप मुझसे पहले जाग गए।"

शेखर अभी झेंगीठी मुसगा ही रहा था कि वे मुँह-हाथ धोकर पैरार हो गए। "अच्छा शेखर, मैं तो अब चला। फिर कहीं मिलना अवश्य होगा—हमें तुम्हें अभी बहुत कुछ करना है।" तनिक हँसकर, "शशिजी से मेरा प्रणाम कह देना। उनका मैं बहुत हूँ—हालाँकि कृतज्ञता से मैंने कष्ट ही कष्ट दिया है.... अच्छा—"

जल्दी से काले हाथ धोकर शेखर उन्हें द्वार तक पहुँचाने धाया, पर बिना लेने के अम्नस्त दादा रुके नहीं, एक मागती मुस्कान उसे देकर चले गए।

शेखर ने धीरे-धीरे द्वार बन्द कर दिया, लौटकर झेंगीठी उठाई और पृच्छा हूँ शशि के कमरे की ओर चला।

शेखर
अंगीठी रखकर कमरे का द्वार भी उसने उड़का दिया, केवल खिड़की किंचित खुली

गई; फिर मानो वह सोचने-सा लगा कि अब क्या करे—
शशि हिली, अपने शरीर को ढीला छोड़कर और फैलाकर उसने एक लम्बी सांस
ली, कमल ठोड़ी तक खींच लिया और शेखर की ओर देखने लगी।
शेखर ने पूछा, “शशि, तुम आराम से हो ? इस वक्त ठण्ड बढ़ जाती है, अंगीठी—”
और रुक गया। शशि सुन नहीं रही थी; उसकी खोई-सी मुद्रा एक हल्की मुस्कान में घुल
गई थी और उसने आँखें मूंद ली थीं। शेखर चुपचाप उसका मुँह देखने लगा। एकाएक
शशि ने आँखें खोलीं, स्थिर दृष्टि से शेखर पर टिकाई और देखती रही। उसकी दीर्घ
भेदकता के आगे शेखर का अन्तर उद्वेलित हो उठा; उसने देखा—कुछ परम सत्य,
सीमातीत, परिव्याप्त....

“शेखर, यहाँ आओ।”

शेखर बढ़कर चारपाई के पास आ गया।
“मेरे पास बैठ जाओ।”

किसी अज्ञात भावना से प्रेरित शेखर बढ़कर शशि के पैताने बैठ गया—शशि
इतनी दूर, लोकातीत-स्वप्नमय, अशरीरी लग रही थी, मानो छूने से वायु में घुल
जाएगी—

“नहीं,”—कौन-सा रहस्य उसके स्वर में बोलता है!—“वहाँ नहीं, पास आओ।”

मन्त्रचालित शेखर आगे सरक आता है।
तब बिना एक शब्द और कहे शशि अपनी ठोड़ी उठाती है; उसकी आँखें अर्ध-

निमीलित हैं और मोठ अर्धखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नहीं—
क्षण भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक वाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है,

और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी
आप्लावनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है,
कि वेले के अर्धखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निक
पहुँचते-पहुँचते वह गोवा कुछ मोड़कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता है
ओठ तप्त हैं—ज्वर से; उस रोमिन स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निक
है, तब चेतना की एक नई लहर से वाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्नि
स्तब्ध, किन्तु वे-भ्रमक ओठ चूम लेता है—निर्वन्ध, वरद, दीर्घ चुम्बन....

शशि ने एक गहरी सांस ली और आँखें बन्द कर लीं; शेखर विमूढ़ और निश्
नीरव सांस लेता हुआ बैठा रहा। नीरवता में वह अपना नाडी-स्पन्दन सुनने लगा
उसे भ्रम हुआ कि यह उसका नहीं, शशि का हृत्स्पन्दन है—फिर लगा कि वह उन
का नहीं, प्रत्यूप की आन्तरिक परिव्याप्त नीरवता का स्पन्दन है....
रात की घूसर आच्छन्नता में मोर की अरुणाली घुल आई....
“शेखर?”

"हूँ—"

"तुम मुझसे गाना सुना करते हो ; अब मैं कहूँ तो कुछ सुनाओगे—"

"कौन ?...."

"हाँ, गाकर नहीं, पढ़कर," शीख के इतारे से घबरायी जवाबते हुए शशि ने कहा,
"यहाँ से एक काली-सी कापी निकालो—निचले खाने में—"

शेखर ने कापी निकाली ।

"मुझे दो—"

शशि ने कापी खोली, एक हाथ और ठोड़ी के सहारे कुछ पन्ने उलटकर एक स्वत
घुना और कहा, "तो—यहाँ से—"

शेखर ने विस्मय से कापी से ली—उसमें शशि के भस्तरों में कविताएँ नक़्त की हुई
थीं—हिन्दी, अंग्रेज़ी, बंगला—

"और मय देखो—पढ़ो—"

शेखर पढ़ने को हुमा, कापी पंक्ति पढ़कर रुक गया ; फिर एक बार शशि के चेहरे
की ओर देखकर धीरे-धीरे पढ़ने लगा—

"I want to die while you love me
While yet you hold me fair,
While laughter lies upon my lips
And lights are in my hair.
I want to die while you love me.
Oh who would care to live
Till love has nothing more to ask
And nothing more....to give ?
I want to die—"*

*"तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—

जब कि मेरा रूप तुम्हारी आँखों में सुन्दर है,

और मेरे ओठों पर हँसी है,

मेरे केशों में कान्ति...

तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—

तब तक कौन जीना चाहेगा

जब कि प्यार के पास रोय रह जाए—

न कुछ माँगने को, न कुछ देने को ?

मैं मर जाना चाहती हूँ—"

एकाएक रुककर उसने कहा, “नहीं, शशि, मैं नहीं पढ़ूँगा यह—” और कविता की टेक का, और शशि के उस समय उसे पढ़वाने का गूढ़तर गुरुतर अभिप्राय उसकी आत्मा में पैठ गया.... *I want to die while you love me...* “नहीं, बिल्कुल नहीं !”

“डरते क्यों हो, शेखर, यह तो पुरानी कविता है—मेरी हँसी तो पहले ही जा चुकी !—नहीं शेखर, तुम्हें दुःख नहीं पहुँचाना चाहती, ऐसे मत देखो मेरी ओर—हमने जाना ही बहुत देर से—मैंने तो कल रात में—कल शाम को, जब तुम जमुना पार गए थे—”

शेखर ने कापी बन्द कर दी, उसे एक ओर रखकर हाथ बढ़ाकर शशि के दोनों हाथ कसकर पकड़ लिए....

देर बाद शशि ने कहा, “छोड़ो, मैं अभी थोड़े ही मर चली हूँ—” और मुस्करा दी। फिर स्वर बदलकर, “शेखर, तुम अब काम-धाम करना चाहो तो करो, जाओ ; मैं सो जाऊँगी।”

शेखर ने आँख उठाकर दिन की ओर देखा, कहना चाहता कि मुझे अब कोई काम नहीं है, सोचा कि सो सके तो शशि के लिए हितकर है, और चुपचाप उठकर बाहर आ गया, यद्यपि उसका निश्चय था कि वह आज कारखाने नहीं जाएगा....

नित्यकर्म के बाद चूल्हा जलाकर उसने दूध में थोड़ा-सा दलिया बनाया, तीन सन्तरोँ का रस निकाला फिर शशि के कमरे की ओर दबे-पाँव देखने गया। खिड़की से झाँककर देखा, शशि स्निग्ध नोंद में सोई थी....

शशि ने वह कविता क्यों उस समय उससे पढ़वाई ? *I want to die while you love me...* शशि निरी भावुकता की बातें तो नहीं किया करती—तब क्या वह—सन्देश है ? कि केवल सम्भावना है ?....कि भावना है—प्यार के प्रति कृतज्ञता की....कि—पूर्व-सूचना है.

उसने अपने कमरे में जाकर मोसी को एक छोटा-सा पत्र लिखा कि बहुत दिन से समाचार न मिलने से वे दोनों चिन्तित हैं, कि और सब ठीक चल रहा है, कि शशि अस्वस्थ है, और हो सके तो वे थोड़ा-सा रुपया भेज दें। एक बार उसका हाथ अटका कि वह पहले का अभिमान क्या हुआ, किन्तु उस अभिमान की यथार्थता उस समय किसी तरह उसके मन के आगे स्पष्ट न हो सकी....उसने लिफाफे पर पता लिखा, एक बार फिर शशि की ओर झाँककर देखा, फिर धीरे से बाहर निकलकर कुछ दूर पर लैंटर-बक्स में डालने चला।

शशि अभी जागी नहीं थी, उसके माथे पर प्रस्वेद की बूँदें थीं....ज्वर उतर रहा है....शेखर धीरे से कमरे के भीतर गया और शशि के सिरहाने जमीन पर बैठ गया। बाहर कई-एक काम करने को थे, कमरे में कोई काम नहीं था जब तक शशि सो रही थी ; किन्तु शेखर को उस सोए हुए चेहरे से तत्काल ही बहुत कुछ कहना था....

यह क्यों है कि जीवन के तीव्रतम इन दिनों की स्मृति में मैं बार-बार दुविधा में पड़ जाता हूँ कि क्या सचमुच हुआ; और क्या हुआ नहीं, केवल सोचा गया? बाहरी और भीतरी जीवन ऐसे उलझ गए हैं कि उनको अलग-अलग नहीं कर पाता—शारीरिक जीवन का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि वह बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़-तोड़कर फूटा पड़ता था—न होकर भी तीव्रतर सत्य था, यथार्थ था—यथार्थ है....

"सुनो, शशि, मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। तुम जानो नहीं, सोई रहो, तुम सोई-सोई भी सुन लोगी जो मैं कहना चाहता हूँ—क्योंकि मुझे वह तुम्हारे कानों से नहीं कहना, तुम्हारे मोठों से कहना है—जो आज मेरी घोर बे-क्रियाकृति से उठे हैं, जिन्हें कुछ भी कहने में-क्रियाकृति मुझे नहीं है—जब वे सोते हैं, तब और भी नहीं....

"शशि, तुमने मुझे प्यार दिया है—तुमने मुझे बर दिया है....बर देने से पहले परीक्षा क्यों नहीं ली? लो परीक्षा मेरी—देखो कि मैं क्षयकारी भी हूँ कि नहीं....

"शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं, धात्रीजी मैं विद्रोही रहा हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ....एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिलाया—बताया कि सड़ना स्वयंसाध्य नहीं है, सड़ने के लिए सड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोह किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता-पिता, प्रपन्ना-भ्रातृ, प्यार, कुछ भी हो, जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके....तब मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ....मैं प्रतिद्वन्द्वी हुआ ...

"किन्तु वह भाषा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी भाषा था....फिर—फिर तुम्हो ने सिखाया कि विरुद्ध सड़ना ही पर्याप्त नहीं है...मैंने देखा, सर्वत्र क्लृप्त है, हास है, पतन है—कि एक मकेला समाज ही नहीं, जीवन धामूल दूषित है—ईश्वर, मानव, सब कुछ....धामूल दूषित—दूषित और सड़ा हुआ, विरुद्ध सड़ने के लिए कुछ भी नहीं है। या सब कुछ है, जो कि एक ही बात है—मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नहीं—उसमें घँसना ही घँसना है....किसी के विरुद्ध सड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए सड़ना भी जरूरी है....

"किसी के लिए सड़ना....किन्तु किसके? जब सभी कुछ सड़ा है, तो क्या है जिसके लिए सड़ा जाए...."

"तब तुमने क्या निश्चय किया, शेखर?"

"मुझे आवश्यकता नहीं पड़ी—तुम फिर आ गई—तुम मेरे जीवन में बनी धार.... मैं नहीं जानता था कि किसके लिए सड़ूँ, पर तुम मेरे पास थीं, तुम्हारे लिए मैं सड़ने लगा—या उद्योग करने लगा सड़ने का। शशि, मैं निरन्तर संपर्क करता आया हूँ—तुमसे भी सड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ, कि मैंने तुम्हें प्यार दिया है। सड़ने में प्रपन्ना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे लिए दिया है। बीच में शंका हुई थी कि यह आदर्श पटिया है, फिर दूर हो गई, क्योंकि तुम किसी बोरे आदर्श

से कम नहीं थीं....किन्तु फिर मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सन्देश....शशि, क्या मैंने पाप किया है ?”

“शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।”

....दो शसम्बद्ध चाक्य....इसका अभिप्राय धीरे-धीरे ही शेखर के प्राणों में उतरा.... किन्तु जब पूर्ण-रूपेण उतर गया, तब—

“और शशि—अब जब मैंने लड़ने के लिए साध्य पाया तो—शशि, शशि, तुम क्या सचमुच चली जाओगी, शशि—”

हठात् शेखर ने शशि का माथा जोर से पकड़ लिया....शशि जाग गई, उसकी उँगलियाँ शशि के हाथों को टटोलती हुई आई—

“शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी—क्या मेरे जीवन में कभी कुछ सार नहीं होगा—”

शशि ने उसके हाथ को थपकते हुए कहा, “होगा, शेखर, है। मेरे वाद भी होगा। तुम नहीं हारोगे—कभी नहीं हारोगे—मेरे लिए, शेखर, मेरे लिए....”

“मैं जानता हूँ, शशि....रकना मेरे लिए नहीं है—तुमने मुझे दिया नहीं। पर चलूँगा कैसे, मैं नहीं जानता—मुझे नहीं दीखता—किसके लिए....या कि तुम्हारे ही लिए होता—मेरे बिना देखे, बिना जाने किसी तरह तुम्हारे लिए, तुम्हारे ही लिए, शशि....

शशि का माथा शीतल, चेहरा स्निग्ध और प्रशान्त, इतना शान्त, इतना स्तब्ध कि शेखर आतंकित....भर्राए स्वर में, “शशि, तुम—चली गई ?” फिर अपने प्रश्न की मूर्खता पर लज्जित, चकित....पर शशि नहीं चौंकती, उसकी उँगलियाँ शेखर के हाथ पर फिर आती हैं—

क्या वातावरण बदल गया है ? क्या घूप-छाँह के कारण भ्रम होता है ? क्यों शशि के माथे पर हल्की-हल्की छायाएँ थिरककर दौड़ जाती हैं जब कि उसकी अनभिन्न आँखें बिलकुल स्वच्छ हैं और उसके ओठ निरन्तर स्निग्ध ? क्यों उसके वाएँ हाथ की उँगलियाँ कभी-कभी छाती पर पड़ी-पड़ी हो सिंगुड़-सी जाती हैं जब कि वक्ष की गति नियमित है ?

“शशि, दर्द होता है ?”

आँखों की भाँक, कि नहीं।

किन्तु क्यों उसके हाथ के नीचे शशि के शीतल माथे पर बल आते-आते रह जाते हैं, क्यों उसे लगता है कि शशि काँप-सी रहो है ?

“बनाओ, शशि, क्यों, क्या होता है....”

तब शशि हाथ उठाकर उसके बाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर खींच लेती है और कहती है, “सुख, शेखर, सुख....”

दिन, दोपहर, साँझ, रात, सबेरा, दिन, दोपहर, साँझ; रात, प्रत्युप....ज्वर, प्रस्वेद, क्लान्ति, स्निग्ध ताप, कंपकंपी, ज्वर; स्नेह-रसय हाथ; ज्वर, प्रस्वेद, दीपित्य....हीनियों की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल; घनवरत पतम्भर; छिटपुट दर्द के गाले-से सफेद घादन, भावारे, निचिन्त, निर्मोही; धूल-धूसर चक्रवात....डाक्टर; राख-भरी बिलमची, चाटें घोर गोल्लें, फलों का रस....मौसी की घोर से गौरा के हाथ की निगी हुई चिट्ठी,— 'माँ की भाँसों में घोर कष्ट है, इसलिए वे स्वयं नहीं लिख रही, तुम दोनों को बहुत-बहुत आशीर्वाद दे रही हैं और कहती हैं कि शशि का हाल जल्दी-जल्दी निगना, इतनी-इतनी देर से पत्र लिखना अच्छी बात नहीं है। परमात्मा करे, वह जल्दी अच्छी हो जाए....सौ दया भेजा है...' फिर गौरा का अपना घोर से, 'मौसी कहती थी कि दया मनीषार्डर से भेज दूँ, पर मैं चिट्ठी में नोट डालकर रजिस्ट्रार से भेज रही हूँ, क्योंकि यहाँ से मनीषार्डर शायद तुम न चाहो। शशि के स्वास्थ्य की मुझे बहुत चिन्ता है, चिन्ता की बात न होखी तो तुम भला लिखते? मैं शय्या के लिए आ जाऊँ? माँ से नहीं पूछा, पर तुम कहोगे तो जरूर आ जाऊँगी, चाहे जो हो—सब हाल जल्दी लिखना....' गौरा बड़ी समझदार हो गई है—इतनी-सी सड़की....हल्ला-गुल्ला, मोटरों की दौड़ घोर धरपछट, नारे, सफेद टोपियाँ, साल कमीजें, 'काला कानून', 'भगतसिंह को फाँसी हो गई।' 'दांदाजी की भिना मस्वीकार!'....

दोपहर, साँझ, रात; और सब मसत, मिथ्या, भ्रान्ति—बड़ी दूर की मरोचिका.... निकट केवल दो बड़ी-बड़ी स्वाति-सी भाँसें, तारे-सी सरल झिनझिनाहट, वो व्यथा को छिपा लेती है, व्यथा, चिन्ता, डर....

मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के धर्म के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी घाती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और घाज का बुनकर दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्तः उसके जीवन का धर्म मेरे ही जीवन का आ धर्म है, और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।

इसमें इतिहासकार की पराजय है तो हो। इतिहास मेरे लिए कुछ नहीं है; घटनाओं का अनुक्रम भी कुछ नहीं है। जीवन का अन्तिम मान है जीव—हमारे जीवन का अर्थ है यह धर्मसुत सृष्टि, मानव प्राणी—और प्राणी का प्राणवत्ता का मान है उनका—उसकी अपने आपसे बाहर प्रसांगित होने की, निष्ठावर होने की कति... महत्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्व है बात है कि मैं स्वयं जाने से पहने उसका स्वीकार कर जाऊँ, आगे दे दूँ...

नहीं रहूँगा, तो यही एक स्मारक मैं उसके नाम पर खड़ा कर सकता हूँ ! अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होतीं, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अविष्टाश्री होती और उन सबके जीवन में प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार, जो एक विशाल आत्मा की देन होता है....पर वह नहीं हुआ; उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैंने देखा, मैंने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ....

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के घोने के लिए नहीं है, प्रायश्चित्त के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे, इतना विशाल था वह....मैं शेखर का अपराध छोटा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की न्यमता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ....

चिन्ता, चिन्ता, डर....निश्चय....शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया .. अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अनदेखी करना क्षम्य नहीं है—कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड़ दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड़ दिया। उसी कमरे में अपना बिस्तर ले आया, दो घण्टे रात में और एक-डेढ़ घण्टा दिन में कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नहीं तो निरन्तर शशि के सिरहाने निश्चल बैठा रहता। वह जागती तो उसका माथा या छाती पर पड़ा हुआ हाथ सहलाता रहता; सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो; अनिश्चित तन्द्रा में होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमशः बढ़ते जाते थे....या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर झोंका लेटकर कोहनियाँ टेककर और हथेलियों पर ठोड़ी जमाकर उसे देखा करता....

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमें भावना के लिए स्थान नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते हैं, जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नहीं ले जाती, छाती से चिपटाकर रात भर मुन्न बैठी रहती है .. निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्बुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नहीं हैं; पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औपघ है, जो एकमात्र औपघ नहीं है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य....और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है, वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति ही एक शक्ति है, जो लाचार नहीं है—मृत्यु के भागे भी नहीं; क्योंकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नहीं पाता....

डाक्टर दिन में दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक शरीर-शरी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन में बैठकर भी न बैठते, क्योंकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता....

शेखर बहुत कम बोलता, शशि सगमय बिलकुल नहीं बोलती, केवल जब-तब भाँलों से एक धारवासन का संदेशा शेखर को दे देती....रोग के प्रत्येक नए आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और सिधिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पड़े-पड़े काँप-से बाँते, रँगसियाँ सङ्कुच-कर खुल जाती और बन्द भाँलों पर पसकें सिकुड़कर फिर पूर्ववत् हो जाती, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीड़ा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरंजक बातचीत करना आवश्यक है। वह यत्न करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरंजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड़ लेता और धीरे से कहता, “शशि, बबरा मत, मैं तेरे पास हूँ—” शशि भाँलें खोलकर एक बार उसकी ओर देख लेती; उस दृष्टि में बड़ी हल्की-सी हँसती करुणा होती—“मैं बबराती हूँ ? तू मत डर, मैं तेरे पास हूँ....”

और इस प्रकार दीप की बातें चुकती जाती, पर शेखर बीजा, आनोक को देखता जाता....

रात लम्बी थी, पर बीत चली थी; घोंगोली बुझ गई थी, शेखर आगता था....

शशि ने धीरे से पुकारा, “शेखर—”

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि को बात अच्छी तरह सुन ले, कुछ उसे बोलवाना न पड़े।

“शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।”

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचले खाने में मोड़कर रखे हुए कई एक पन्ने निकाले और पूछा, “यह पत्र कहीं भेजना या किसी को देना चाहती हो ?”

भाँल की झपकी, कि हाँ।

“कित्से—मैं भेज दूँगा—”

भाँलें शेखर पर स्थिर, थोठ धीरे से झुमते हैं, “पड़ो।”

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है ? दुविधा में वह पन्ने खोलता है, घटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे लिख सकती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका....शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को !

इस ज्ञान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ काँपने लगा, धागे न पड़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

“नहीं, पीछे नहीं, धमी—”

एक साँस में शेखर पड़ गया—इतनी जल्दी पड़ने से उसका अमिनाय कम समझ में आया हो, सो नहीं, उसके शब्द—वाक्य के वाक्य लगी हुई धातु की तरह उसकी खेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे....साप-साप घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह मूँड भी साप-साप

नहीं रहूँगा, तो यही एक स्मारक मैं उसके नाम पर खड़ा कर सकता हूँ ! अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होतीं, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अधिष्ठात्री होती और उन सबके जीवन में प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार, जो एक विशाल आत्मा की देन होता है....पर वह नहीं हुआ; उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैंने देखा, मैंने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ....

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के घेरे के लिए नहीं है, प्रायश्चित्त के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे, इतना विशाल था वह....मैं शेखर का अपराध छोड़ा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की न्ययता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ....

चिन्ता, चिन्ता, डर....निश्चय....शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया .. अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अनदेखी करना क्षम्य नहीं है—कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड़ दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड़ दिया। उसी कमरे में अपना विस्तर ले आया, दो घण्टे रात में और एक-डेढ़ घण्टा दिन में कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नहीं तो निरन्तर शशि के सिरहाने निश्चल बैठा रहता। वह जागती तो उसका माया या छाती पर पड़ा हुआ हाथ सहलाता रहता; सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो; अनिश्चित तन्द्रा में होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमशः बढ़ते जाते थे....या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर आँचा लेटकर कोहनियाँ टेककर और हथेलियों पर ठोढ़ी जमाकर उसे देखा करता....

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमें भावना के लिए स्थान नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते हैं, जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नहीं ले जाती, छाती से चिपटाकर रात भर सुन्न बैठी रहती है .. निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्वुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नहीं हैं; पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औपघ है, जो एकमात्र औपघ नहीं है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य....और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है, वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति ही एक शक्ति है, जो लाचार नहीं है—मृत्यु के आगे भी नहीं; क्योंकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नहीं पाता....

डाक्टर दिन में दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक शरीर-चारी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन में बैठकर भी न बैठते, क्योंकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता....

शेखर बहुत कम बोलता, शशि सगमग बिलकुल नहीं बोलती, केवल जब-तब भाँखों से एक भारवासन का संदेशा शेखर को दे देती....रोग के प्रत्येक नए आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और शिथिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पड़े-पड़े काँप-से जाते, उँगलियाँ सकुचकर खुल जातीं और बन्द भाँखों पर पलकें सिकुड़कर फिर पूर्ववत् हो भाती, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीड़ा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरंजक बातचीत करना आवश्यक है। वह मल करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरंजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड़ लेता और धीरे से कहता, “शशि, धबरा मत, मैं तेरे पास हूँ—” शशि भाँखें खोलकर एक बार उसकी ओर देख लेती; उस दृष्टि में बड़ी हल्की-सी हँसती कदना होती—“मैं धबराती हूँ ? तू मत डर, मैं तेरे पास हूँ....”

और इस प्रकार दीप की बातें चुकती जाती, पर शेखर बैठा, आसोक को देखता जाता....

रात लम्बी थी, पर नींद चली थी; झंगीठी बुझ गई थी, शेखर जागता था....

शशि ने धीरे से पुकारा, “शेखर—”

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि की बात अच्छी तरह सुन सके, कुछ उसे बोहराना न पड़े।

“शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।”

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचने खाने में मोड़कर रखे हुए कई एक पन्ने निकाले और पूछा, “यह पत्र कही भेजना या किसी को देना चाहती हो ?”

भाँख की झपकी, कि हाँ।

“किसे—मैं भेज दूँगा—”

भाँखें शेखर पर स्थिर, ओठ धीरे से खुलते हैं, “पढो।”

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है ? दुविधा में वह पन्ने खोलता है, मटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे लिख सकती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका....शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को !

इस ज्ञान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ काँपने लगा, आगे न पढ़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

“नहीं, पीछे नहीं, अभी—”

एक साँस में शेखर पढ़ गया—इतनी जल्दी पढ़ने से उसका अग्निप्राय कम समझ में आया हो, सो नहीं, उसके शब्द—वाक्य के वाक्य तपो हुई धातु की तरह उसकी चेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे....साय-साय घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह गूँज भी साय-साय

थी, मानो दो जीवन साथ-साथ जिए जा रहे हों, एक तीव्र क्योंकि वह तत्काल का जीवन है, दूसरा तीव्रतर, क्योंकि वह तत्क्षण से पिछड़ा हुआ था और उस क्षण को पकड़ लेना चाहता है....

'...तुम कुछ ही घण्टों के लिए गए थे, लौट आए; पर इतनी देर में मैंने कितनी बार तुम्हें खोया और पाया, विसर्जन किया और फिर अपने हाथों बना खड़ा किया.... तुम्हारे स्नेह को मैं क्षण भर भी नहीं भूली, शेखर, पर जब क्षण का उद्वेग चला गया तब मैंने तुम्हारे स्नेह से भी बड़ा कुछ देखा, शेखर, तुम्हारा भवितव्य । स्नेह से बड़ा इसलिए कहती हूँ कि वह स्नेह उसका एक अंग है....उस क्षण को मैं कृतज्ञ हूँ....

'शेखर, यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ कि तुम मेरे बाद पढ़ो—वाद में जब तुम पढ़ोगे तब शायद पूछोगे कि शशि ने यह सब मुझे पहले क्यों न बताया, जब यह इतना तीखा अभिशाप न होता—पर यही ठीक है शेखर....यदि मुझे बहुत जीना होता, तब और बात थी, पर उस स्पष्ट दृष्टि में यह भी देखा कि कुछ दिन ही और बाकी हैं....इसी-लिए अब भी इस पत्र में अपने प्यार की बात नहीं कहूँगी—जो चला गया है, उसका प्यार केवल वेदना है, और वेदना को चुप रहना चाहिए....केवल तुम्हारे प्यार की बात कहूँगी....

'प्यार कला भी हो सकता है, शेखर; वह आदर्श बुरा नहीं है, कल्याणकर है, मैं मानूँगी; पर मेरे लिए वह कला से भी अधिक अन्तरंग और जरूरी हो गया था—इसे अहंकार से नहीं कहती, अपनी लाचारी मानती हूँ....कला का आनन्द संयत आनन्द है, मैंने अपना समूचा व्यक्तित्व, समूचा इह एक ही बार झुका में भरकर उड़ेल दिया—वह संयत नहीं था, इसीलिए शायद—आनन्द भी नहीं हुआ—यद्यपि इतनी बड़ी वेदना हुई कि उसे ट्रेजेडी भी नहीं कह सकती ।....

'एक बार मैंने मान से कहा था, "क्या मेरे लिए लिख सकते हो?" तुमने कहा था कि आदर्श पर्याप्त नहीं है, आदर्शों का एक स्थूल प्रतीक चाहिए; और तब मैं प्रतीक बनने को आ खड़ी हुई थी....शेखर, उसमें अहंकार नहीं था—यह दावा नहीं था कि मैं तुम्हारे जीवन का अग्र और इति हूँ—अपने को अन्त मानने का दुस्साहस मैंने नहीं किया.... केवल इतना था कि अपना जीवन नष्ट करके—होम कर देकर, राख कर देकर—मैंने माँगा था, चाहा था, कि वह तुममें फलित हो, तुममें अपनी सिद्धि पाए । तुम हो गए थे प्रतीक, मेरे लिए मेरे अपने जीवन के प्रतीक—हमारे आस-पास हहराते हुए वैफल्य और कुण्ठा और निराशा और खण्डन के सागर में मेरे अवस्थान के, मेरे संतरण के प्रतीक.... इसीलिए मैंने कहा था कि मेरे लिए लिखो—तुम्हारे जीवन में आशा देने के लिए नहीं, तुमसे आशा माँगने के लिए....

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया—वर मानकर, अधिकार मानकर नहीं, यह कल्पना मैंने नहीं की कि मैं उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी । तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग

पाठा है—तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मैं जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा; किन्तु मैं जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नहीं हो, और इसलिए मेरा निरवय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नहीं होगा, जो तुम्हें बन्दी बनाने का यत्न करेगा.... शेखर, मेरा तुम पर घमास स्नेह है, पर मैं चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हें बांधा नहीं, बाँधती नहीं—न अब, जब मैं हूँ, और न—पीछे....

‘तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर; मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उस अपने भविष्य की खोज में यदि—’

शेखर शशि की ओर देखता है कि यह सब अभी तुम्हारे सामने पढ़ना अनिवार्य है या—पर देखता है, उस पत्र से भी कुछ अधिक, तात्कालिक शशि की भाँखें कह रही हैं, वह उसके बहुत पास चला जाता है; शशि के मोठ कुछ कहना चाहते हैं, पर निश्चय है, शायद निश्चय ही कुछ कहना चाहते हैं—शेखर उन पर अपने मोठ रख देता है और उनका कम्पन स्थिर हो जाता है, शेखर शशि की भाँखों से भाँखें मिलाता है और धीरे-धीरे उठता है—जानता है कि शशि की बात उसने सुन ली, चूमे जाने भर की क्षमता उन मोठों में शेष थी—उसके बाद और शब्द नहीं, केवल स्नायविक कम्पन, जिन्हें मानो वश करने का उद्योग संकल्पना धीरे-धीरे व्यर्थ मानकर छोड़ देती है—सब तनाव और खिचाव और कर्पणों के एक परम शमन में—

‘उस अपने भविष्य की खोज में यदि तुम्हें मेरी याद आए तो अपने को इसलिए अपराधी मत ठहराना कि मेरे बिना तुम अकेले भागे चल सके; तुम चल सके, यह मेरी पराजय नहीं, मेरी अन्तिम विजय होगी....’

शशि का सारा शरीर निःस्पन्द जड़ हो गया था, सिवाय भाँखों के—

‘कभी, एक दिन, एक क्षण भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है; पर चिरन्तन आदर्श कोई नहीं है, न हो सकता है। इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति ‘चिरन्तन’ सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है, और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान् है, वह अवश्य, कभी न कभी प्रिय को झर जाने देगा....साधारण मानव और कलाकार—विद्रोही में यही अन्तर है....मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममें उसकी क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति—स्वाधीनता मैं तुम्हें सहर्ष देती हूँ....’

भाँखें शशि की मरी नहीं; उनके भीतर का उदार निर्मय आलोक, समिधा चुक गई देखकर अपने भीतर तिरोभूत हो गया....

‘हम दोनों वर्षों से एक भवन बनाते रहे हैं, तुम और मैं, जिसमें न तुम रहोगे, न मैं....किन्तु हम उसमें नहीं रहेंगे, इसी मात्र से वह कम सुन्दर नहीं होगा....’

इस प्रशान्ति में, सिमटे हुए आलोक में भी क्या क्रन्दन है; पीत्कार है ? रतम्प-प्राण शेखर का देह-यन्त्र खिड़की की ओर बढ़ा, खिड़की खुल गई, दिन का प्रकाश भीतर भर

आया....शेखर ने मुड़कर देखा, लाल किरणों से घुलकर शशि का चेहरा जीवन के रंग से चमक उठा था....

शेखर ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अतिमानवी भौतिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लावित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमाण....

सहसा ज्ञान आया....



किन्तु इससे आगे कहानी नहीं है, अनुक्रम नहीं है। जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब-कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु-पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। मैं एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य....भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार—हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में झुलसता हुआ, जल उठता हुआ, निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ न, बुझता हुआ, न मरता हुआ....

मृत्यु, तू भी तो छाया है—अस ले इस छाया को यदि सकत है तुझमें—यदि साहस है....मशाल को तोड़ दे, कुचल दे, मटियामेट कर दे—देह मशाल है और उसे एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है,—वह, और वह, और वह—तेरे चंगुल से परे, तुझे चुनौती देती हुई, अक्षय, मुक्त....

अस उसे, छू उसे, यदि सकत है तुझमें, यदि साहस है....



एक युवक आया।

लाहौर से दादा ने दस्ती चिट्ठी भेजकर शेखर से अपील की थी कि अगर हो सके तो वह लाहौर आ जाए—दल के कुछ सदस्य जो बन्दी थे, कुछ दिनों बाद काले पानी भेजे जानेवाले हैं; यदि स्वाधीनता के आन्दोलन को जीवित रखना है, तो इस जीवित समाधि के उन्हें बचाना आवश्यक है, और इस कार्य में शेखर का सहयोग अनिवार्य है.... शशि की तवीयत कैसी है, वे नहीं जानते, पर वे उसकी देखरेख और चिकित्सा का पूरा प्रवन्ध करने को तैयार हैं—

युवक ने समवेदना के स्वर में कहा, “दादा ने चिट्ठी दी तब वे नहीं जानते थे.... आपको गहरा आघात पहुँचा है....पर आप चलिए, काम में आपको सान्त्वना मिलेगी, और काम बड़ी तपस्या का है...यदि शशि बहिन होतीं तो वे जरूर यही कहतीं—और मेरा विश्वास है कि अब भी इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी—”

शेखर ने पहले सुना नहीं था, अन्तिम वाक्य सुना; चाहा कि एक थप्पड़ मार दे इस युवक के मुँह पर, जो इतनी आसानी से बात कर सकता है; फिर कहा केवल इतना कि ‘यह सब सँभालना होगा—और कारखाना—’

प्रणाम, यमुना ; प्रणाम, पूर्वदिशा ; प्रणाम, वैशाख के फूले हुए पसाश और बबूल ; प्रणाम, झरक के उदास मर्मर और धूल के बगूले ; प्रणाम, दो पैरों से लाख बार रोंदे हुए रेतीले नदी तट ; प्रणाम, वही हुई भुट्टी भर राख.... मैं सोचता था, कि यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो.... पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज सगमग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो ; छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक-दूसरे की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट, साधारण अभिधा में और, पर वास्तव में अलखंड विश्वास में बंधे, धमनी के एक....

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे ; कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्त और—मोक्षदा....

शेखर
 । लेकिन ये अभियोग लगाए जा रहे हैं, और हमारे पास साबन नहीं है कि हम करें। इन साधनों को पाना अधिकार है, और वह अधिकार हमें नहीं मिल रहा....”
 बाबा जैंगले के पास आ गए। भिची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर उन्होंने कहा, सता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, सत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को, जिसमें हम सत्य और सत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं; दासता है वह वन्धन, वह मनाही, जो हमारा मन मॉगने का अधिकार छोन लेती है....”
 एकाएक वे रुक गए। “यह बात शायद मैं पहले कह चुका हूँ—इसका अनुभव किए मुझे एक वर्ष हो गया।” वे एक खोखली हँसी हँसे। “एक साल पहले जानी हुई बात आज सत्य बनकर चुभती है, और मैं बँधा हुआ हूँ!” बाबा की साँस फूल गई थी। दो-तीन लम्बी साँसें खींच उन्होंने फिर कहा, “शेखर, चटगाँव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलंक है। यही मेरी समझ में क्रांति का प्रमाण है—उसके लिए चारित्र्य की आवश्यकता है, वह चारित्र्य बनाती है—और उससे बड़ी चीज क्या है? हमें चारित्र्य चाहिए, तो हमें क्रांति चाहिए! क्रांति! और मैं बँधा हुआ हूँ...”
 बाबा खड़्की पर लोट गए। फीके स्वर में बोले, “शेखर, तुम जाओ। मेरा मन ठीक नहीं है। मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं, जो अभिमान से भी बड़े हों। यही मैं आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला! जाओ।”
 शेखर चुपचाप, सहमा हुआ और रोमांचित अपनी कोठरी में लोट आया। तीसरे दिन शाम को बाबा की हालत बहुत खराब हो गई। डाक्टर ने अस्पताल में ले जाना चाहा, पर बाबा ने कहा, “एक दिन के लिए वहाँ नहीं जाऊँगा। मैंने अपने जीवन का उत्तम अंश कोठरी में बिताया है, अब सबसे महत्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा।” कोई और होता तो जबरदस्ती ले जाते, बाबा से जबरदस्ती करने का साहस किसी में नहीं था। डाक्टर एक वार्डर की ड्यूटी वहाँ लगवाकर चले गए, एक बार रात में भी आकर देख गए।
 शेखर को समाचार कोठरी में बन्द होने के बाद मिला था। जेल में बाबा का कितना आदर था, यह उसने तभी जाना। उस रात जैसा सन्नाटा उसने जेल में नहीं देखा था—बाबा की बीमारी की खबर कानों-कान फैल गई थी, और नम्रदार लोग ‘स अच्छा!’ भी घीमे, सहमे-से स्वर में पुकार रहे थे....
 ‘एक दिन के लिए’.... ‘सबसे महत्व का दिन’.... सचमुच? शेखर के भीतर प्राण का भाव उमड़ आया....

●
 सवेरे कोठरी खाली हो गई।

जब कोठरियाँ लुप्त, सब बाबा का शरीर हटाया जा चुका था। कोठरियाँ लुप्त होने में देर होती देगकर शेखर ने बाहर से पूछा था, 'क्या आज कोई घरीबी है?' क्योंकि ऐसे ही दिनों लुप्त होने में देर होती थी।

"नहीं।" बाहर हिपकिचाकर दक गया था।

"तब?" और फिर गूँगाएक भय से प्रकाश पाकर, "क्या बाबा—"

बाहर बोला नहीं था....

शेखर दोड़ा हुआ बाबा की कोठरी की ओर गया, जैसे कोई भक्त गुरुद्वारा से स्वस्त मन्दिर की ओर जाता है....

कोई बह रहा था,...."रात में उठ बैठे, पछा भर रोते रहे। फिर दीवार से सटकर पड़े रहे, और फिर घाबर सेट गए और बोले, 'सब बस।' बस—"

यह रात की दमटोवाला बाहर था। शेखर लड़ककर कोठरी के भीतर घुसा....हाँ, उसका अनुमान ठीक था, दीवार पर काँपते पदार्थों में एक मया सेस था....

"अन्तिम मूत्र—अन्तिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक निरवाह है...."

बाबा के पैर धूने में शेखर ने अन्तिमान समझा था, उसके लिए अपने को कोसते हुए उठने उड़ अन्तिम मूत्र पर माथा टेक दिया, फिर घाँसों में घाए हुए दो बड़े-बड़े घाँसुओं का निलंबन-भाव बाहरों को दिलाता हुआ कोठरी में चला गया—

दर्द से भी बड़ा एक निरवाह है....



बेहूदे दिन....

मुकदमा समाप्त हो गया था। सफ़ाई की काफ़ी-सी तय्यारी करने के बाद एकाएक यह परिणाम निकला कि सफ़ाई देना व्यर्थ है। बादो पक्ष कम्बजोर हो, तो प्रतिनाद से साम नहीं होगा, हानि हो सकती है। केवल विधायक के लिए कुछ गवाहियाँ देना की गई थी; और उन सबके बयान एक ही दिन में हो गए थे क्योंकि जिरह नहीं की गई थी....बकीर्तों की लू-लू में-में भी हो गई थी जिसे बहुत कहते हैं।

"घर में फैसला हो गुनाहगा....उसकी तारीख़ फिर तय की जाएगी, अभी धारवी ठौर पर तारीख़ बाल देना है।" और हाकिम ने मुकदमे की अवधि तेरह दिन और बढ़ा दी....

ये दिन बीतते नहीं थे। यह नहीं कि फैसले के बारे में बहुत अधिक चिन्ता या उत्कण्ठा थी, पर इस प्रकार आकाश में सटके रहना....मुकदमा समाप्त हो चुका है, फैसले के लिए जो कुछ आधार होजा, वह सामने आ चुका है, नायब हाकिम ने मन-ही-मन पंजता कर भी लिया है। अब केवल पानने की देर है, और इसके लिए तेरह दिन

ठ रहना होगा ! नहीं तेरह दिन बाद तो यही विदित होगा कि फैसला किस दिन सुनाया जाएगा....

अन्त में तेरहवाँ दिन आया....पर दुपहर हो गई, अदालत जाने के लिए बुलाहट नहीं आयी। शेखर ने समझ लिया, हाकिम ने उन्हें बुलाए बिना तारीख डाल दी होगी, अपने-आप पता चल जाएगा। वह लेटकर सोचने लगा, सोचते-सोचते सो गया।

“बाबूजी, बाबूजी ? आपको दफ्तर में बुलाया है।”

शेखर हड़बड़ाकर उठा। “किसने बुलाया है ?”

“दारोगा साहब ने।”

“मुलाकात है ?”

“नहीं, दफ्तर में बुलाया है। पेशी है।”

“कैसी पेशी ?” कहकर शेखर वार्डर के साथ चल पड़ा। दफ्तर पहुँचकर मालूम हुआ कि मुकदमे का फैसला सुना दिया गया है। शेखर के बारे में मजिस्ट्रेट की राय है कि उसके विरुद्ध गवाही इतनी दृढ़ नहीं है कि सजा दी जा सके, यद्यपि सन्देह बहुत अधिक होता है। किन्तु अगर प्रमाण अकाट्य भी होता, तो भी शायद जितनी कैद वह भुगत चुका है, वह पर्याप्त होती, इसीलिए उसे छोड़ा जाता है।

बेजान-से स्वर में दारोगा ने कहा, “बधाई है। आप अब आजाद हैं। दफ्तर से अपना सामान वगैरह ले लीजिए।”

“और बाकी लोग ? पूरा फैसला तो सुनाइए—”

“विद्याभूषण को एक वर्ष ; सन्तराम और केवलराम को छः-छः महीने, हंसराज रिहा हो गया है।”

“मैं उनसे मिल नहीं सकता ?”

दारोगा जोर से हँसे। “आपने सुना नहीं, जेल की यारी क्या होती है ? क़ैदियों में कोई मिलता है ?”

“तो आप नहीं मिलने देंगे ?”

“वे अब क़ैदी हैं। तीन महीने में एक मुलाकात कर सकते हैं। आप दरखास्त सकते हैं; पर आप मिलेंगे तो तीन महीने तक वे दूसरी मुलाकात नहीं कर सकेंगे। इसके लिए वे आपके शुक्रमन्द नहीं होंगे।”

“और हंसराज ?”

“उसे एक घण्टा पहले रिहा कर दिया गया है।”

शेखर चुपचाप दफ्तर में चला गया।

उदास भाव से रोशनी दस्तूर की कार्रवाई समाप्त करने के बाद ज्योड़ी का फाटक खुलने की प्रतीक्षा में गड़ा था। उसे मेने कोई नहीं धाया था—बिग्री की शबर नहीं थी। यही तो रही होगी, पर वे सभी काम में व्यस्त होंगे....धरेसा हो वह बाहर निकलेगा, धरेसा धीरे उदास—जीवन के बड़े-बड़े दस गहने गल्ट करके....

गल्ट ? बाबा मदनसिंह ने इसकीच बर्ष गहरी बिगाए थे, और उसके बाद भी निगल गए थे कि दर्द से भी बड़ा एक विरवाह है....इस एक बात को जानने में दस गहने खरग हो जाने—और उसने बाबा मदनसिंह को जाना था, मोहसिन को जाना था, रामजी को जाना था, स्वयं मरने को जाना था—गल्ट ? बहुत रोशनी—

दस दीर्घ जीवनावस्य महीने....बन्धनों का अन्त—जिज्ञासाओं का अन्त—जीवन, केवल जीवन, विलुप्त और अबाध जीवन....

बिगुल पर फाटक शङ्खझाकर खुलने लगा, बाहर का दूरत उसके सामने आ गया, ठीक उगी के सामने, बिना शीश्यों की छोट सिने, सब एकाएक उसे अपनी बात पर सम्बद्ध हो गया। बन्धनों का अन्त ? जिज्ञासा का अन्त ? रोशनी को बहुत पहले पड़ी हुई कविता की दो पंक्तियाँ याद आई—

Peace, peace, such a small lamp

illuminates, on this highway.

So dimly, so few steps in front of my feet*

सभी कुछ जानने को है सभी, सभी कुछ बाट गिराने को है....

और शान्ति ?

गहारे के लिए केवल एक छोटी-सी बात—पर बाबा ने सिखा था, अन्तिम मूल...
उन्ही के लिए अन्तिम, या मानव-मात्र के लिए अन्तिम ?....

फाटक उसके पीछे बन्द हो गए थे। वह मुक्त था।

“अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विरवाह है....”

* शांति, शांति ! हम राजमार्ग पर केवल एक छोटी-सा रोशनी

आलोकित करता है—

इसके पीछे प्रकाश से हमने छोड़े-ले करम देते बरनों के आने...

तृतीय खंड
शशि और शेखर

क्या बाबा मदनसिंह का स्वर है यह, जिसकी गूँज मेरे कानों में है ? क्या यह चतुर्भुज गरिष्ठ स्वर उसी वीर का है, जिसकी निबन्तता भी उसके स्वर से गौरव-युक्त हो जाती थी ?

“घनने विचारों को इस पारदीवासी से बाहर मत मटाने दो। घनने सगों का विचार करके तुम उनकी यादना नहीं घटा सकते, न उन्हें कोई मुन पटुँवा सकते हो। उनसे हर समय उनके जेग की याद से तुम अपनी दुइता की नीँव मोद रहे हो।”

क्या यह मथ है ? नहीं, यह बाबा का स्वर नहीं हो सकता—बाबा का ज्ञान इससे बड़ा था ! तब क्या है यह ? मेरा झुंकार है ?

अतीत से मेरी दुइता घटती नहीं, बड़ती है, क्योंकि जिउता ही मैं उसे देखता हूँ, उतना ही मैं उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ—जानता हूँ कि धात्र वह ‘मू’ इनतिर है कि एक दिन वह मरिष्य—अवरयं मरिष्य—या.... मैं जानता हूँ कि मुझे मड़ना होगा, हूँ मड़ते जाना होगा, कि सड़ाई से होनेवाले कर्म के कारण एक जाना उस जेग और अन्याय और महापातना को स्थायी बनाना है, जो पढ़ने से मोबूद है....

मेकिन वह गम्भीर स्वर मुझसे सहमत भी होता है,—यूम-यूमकर उनक उछटा है, “बन्दी, एक दिन धात्रा जब तुम धात्र की इस मातृता के गौरव के लिए अपनी दाहिनी मुखा देने को तय्यार होगे—इतना बड़ा है यह गौरव—”

क्यों ? क्या मैं धात्र भी तय्यार नहीं हूँ ? क्या मैं धात्र भी केवल एक मुखा नहीं, धात्रा गिर भी देने को तय्यार नहीं हूँ ?

यह स्वर हँसता है। “गिर ? गिर तो तुम्हारा दे दिया गया !”

जिन्नु क्या यह स्वर कुछ है ? क्या यह धात्रगता का एक साधन नहीं है ? क्या यह मातृता मधमध गौरव है, क्या यह सबमध गौरव नहीं होता, जिसकी याद का मन्त्र ही मुझे ऐसा बड़ा देता है कि मैं कहने शोइता हूँ ? यदि मैं ‘साधारण’ मानव ही होता, धात्रियों का और हस्तधार मीननेवालों का और जिवाहियों का और साम्राज्य-मता का गितीना न होता, केवल जीने और रहने और मरने की स्पष्टता अकिञ्चन परमप में प्यार या और दे सेनेजाना एक ‘कोई,’ तो क्या सबमध उसका गौरव बहुत कम होता ?

तुम्हारा जाना भी मरिष्य था या नहीं, जगि, मैं नहीं जानता, पर तुम क्यों तो मरि हो; और मुझे यह मानने में कर्म नहीं कि तुम न मरि होतों तो—तो ...

पर नहीं, परिहार कैसे हो सकता ? तुम्हें होती, तो परिहार की उम्मत जिउ बाउ के निर होती !

● फाटक के बाहर खड़ा होकर शेखर कुछ क्षणों के लिए सो गया ।
 क्षण भर तो उसे ऐसा लगा, मानो वह फिर जेल लौट जाना चाहता है, बाहर आने में
 उसकी अनिच्छा है । फिर उसने अपने पैरों को बाध्य किया कि वे आगे बढ़ें । एक-एक
 मंजिल नाँघता हुआ वह मानो अपने को चलता रखने के लिए अपने को याद दिलाता
 जाता, 'यह तुम क्वार्टरों से आगे निकल आए ।' 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया ।' 'यह
 लुहार-हाता भी निकल गया ।' 'यह बाहर का जंगला है और यह फाटक, और अब तुम
 सड़क पर हो ।' 'वह सड़क का मोड़ है ।'
 मोड़ पर वह फिर क्षण भर रुका; फिर अनिश्चय की, अनिच्छा की एक रगड़ उसने
 हृदय को छीलती चली गई । साथ ही उसने जान लिया कि वह अनिच्छा लौटने की इच्छा
 नहीं है, वह उधर बढ़ने का डर है, जिधर वह जा रहा है ।

वह कहाँ जाए ? कालेज ? स्वप्नवत् एक दृश्य उसके आगे दौड़ गया—लड़कों की
 भीड़ शेखर को घेरे है, कुछ उसे कन्धों पर उठाना चाहते हैं, और हल्ला हो रहा है—
 जिन्दावाद ! शेखर ! इन्कलाब ! और उसके तत्काल बाद एक दूसरा चित्र—टिकटी पर
 मोहसिन नंगा बँधा हुआ है, और उसके चूतड़ों की चिरियों से खून वह रहा है । नहीं,
 कालेज में उसके लिए स्थान नहीं है—और दस मास बाद क्या उसका नाम खाते पर
 होगा ?

डरते-डरते उसका मन फिर उधर को बढ़ने लगा, जिधर से अनिच्छा का सोता फूटा
 था—शशि के घर ? "उस शशि को आशीर्वाद, जो आज तक तुम्हारी बहिन थी....उस
 पद से तुम्हें अन्तिम बार प्रणाम करती है...." क्या मैं उसे जानता हूँ ? क्या वह बदल
 नहीं गई है, क्या वह चली नहीं गई है—क्या 'शदी' के बाद रमा अपने घर चली गई,
 वाली बात उसके लिए भी वैसी ही दुर्निवार सच नहीं हो गई, जैसी एक दिन पहले भी
 शेखर के जीवन में हुई थी ?

● नहीं, नहीं, नहीं ! यह मेरी नीचता है !
 और अपने को दिलासा देने के लिए शेखर ने हठात् बाबा का वाक्य याद किया
 'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'—क्या मुझमें विश्वास की कमी है ?
 वह आगे चल पड़ा । लेकिन कदम उठाने की प्रेरणा के साथ ही उसने जान
 कि वह शशि के घर की ओर नहीं उठ रहा है ।

● वह नहीं समझ सका कि क्यों उसके पैर उसे इस प्रोफ़ेसर के घर ले
 प्रोफ़ेसर हीथ से उसकी कभी विशेष घनिष्ठता नहीं हुई थी, और इस समय को
 नहीं था कि वह उधर धार्कपित हो—प्रोफ़ेसर हीथ अँगरेज थे और शेखर ने

से ब्रिटिश मध्यवर्ग के आदमी का जो शाका खाया था, वह उन पर बहुत ठीक उतरता था। सामाजिक धनगाव, रुढ़ि-बद्धता, रीति-रिवाज के बड़े बन्धनों के नीचे घिरी हुई शर्मिन्दा-सी भावुकता—शेखर ने समझ रखा था कि ये सब बातें प्रोटेमर होश में पपाति मात्रा में मौजूद हैं। इस समय उनसे मिलने में उसके बिगरे हुए मन को एकाग्र होने के लिए काफ़ी जोर लगाना पड़ेगा—चायद वह उसके लिए असमर्थ होकर बुद्ध बने.... पर क्या वहाँ इस विषय एकाग्रता के लिए हो तो नहीं वह ऊपर जा रहा था? एकाग्र होने को बाध्य होना एक सामाजिक सड़ाई के लिए बाध्य होना है, और उसकी दरी हुई आत्मा सड़ाई में ही तो भागना चाहती है....

प्रोटेमर साहब उसे सीढ़ियों पर से मिले। उनके चेहरे का पहला विस्मय-भाव प्रौरन ही प्रमत्तता में परिणत हो गया—“हेलो शेखर! तुम आ गए?” और उसके कुछ कहने से पहले, “बिलकुल बरी हो न—कोई भ्रमट बाकी तो नहीं है?”

हाथ मिलाकर शेखर ने हाथ सौंच लिया, पर उसके चेहरे की मुस्कराहट बनी रही।

“जी हाँ, कोई भ्रमट बाकी नहीं है। सब कुछ—पूर्ववत् हो गया है।” एक घाघा उसके धन्तर्पट पर दोड़ गई—क्या सचमुच? और शक्ति....

“अच्छा, तो तुम भीतर बैठोगे न? मैं एक क्लास लेने जा रहा हूँ—मुफ्त की भ्रमट छिर आ पड़ी थी—चाय तो यहीं पियोगे न—जल्द मेरे साथ पीना—भीतर पुस्तकें बहुत हैं—और बिज—”

“धन्यवाद; मैं केवल मिलने आया था; फिर मिलूँगा—”

“नहीं, चाय तो तुम्हें पीनी होगी—” शेखर के चेहरे पर विवसता का भाव देन-कर, “क्या दूसरा काम है? तो फिर चाय के समय ठक लौट आना—हाँ, तुम्हारी रिहाई कब हुई थी?”

शेखर ने धीरे-धीरे कहा, “रिहा होकर सीधा यहाँ आ रहा हूँ।”

“ऐ—तब? तब तो तुम्हें अपने बन्धुओं से मिलना होगा, मैं धन्याय कर रहा हूँ। तुम मिल आओ। चाय पर अवश्य आना—”

प्रोटेमर के साथ उतरता हुआ शेखर एक गोलती मुस्मान लेकर रह गया। नीचे उतरने के बाद वे जब चाय का ग्योता दुहराकर बने गए, तब वह मुस्मान हमी में घूट निबन्धी—“बन्धुओं से मिलना।” शेखर ने ऐसा मूँह बनाया, जैसे कोई बड़बो धन्यु गा गया हो।

●

शेखर के बधा तिमजने पर रहते थे। सीढ़ियाँ चढ़ने में शेखर की कम आत्मनानि नहीं हुई थी, और उन तंग सीढ़ियों पर समय इतना लगता था कि आत्मनानि की चरम सीमा तक पहुँचा जा सकता था.... शेखर का साहस—जहाँ, साहस की बनी में पैदा हुई बाधना—ऊपर पहुँचते-पहुँचते सुरमा गई थी। बन्द किबाब की माँचन पर हाथ रखकर वह दम भर रहा था।

मुझमें और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा में क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है ? शेखर को याद आया, एक बार गर्मियों के दिनों में कालेज में वह बीमार हुआ था तो चचा से समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्वत करके पिए....शेखर यदि मनुष्य न होकर एक वॉरिंग चिट्ठी होता, तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती—वर्ना शेखर उनकी दुनिया के बाहर की वस्तु था....उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दबे पाँव नीचे उतर गया ।

शशि का घर वहाँ से बहुत दूर नहीं होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नहीं है—और—

क्यों शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थीं ? इस समय उनकी कितनी जरूरत थी उसे—उनकी घनिष्ठता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है' ! उफ़ यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खींच ला सकता उस बीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्थान ले सकते हैं ।

मूर्ख कहीं का !



शेखर समय से पहले नहीं पहुँचा था । किवाड़ खटखटाते ही खुल गया और प्रोफ़ेसर हीथ ने उसके कन्वे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सरप्राइज रखा है ।"

शेखर ने आँख उठाई । परिचय की जरूरत नहीं थी, सामने शेखर का मुकदमा सुननेवाले मजिस्ट्रेट साहब बैठे थे ।

मिस्टर वर्नेस ने कहा, "रिहाई पर बधाइयाँ ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फैसले पर आपको भी बधाई—कम-से-कम फैसले के इस अंश पर !" वातावरण कुछ हल्का हो गया । शेखर बैठ गया, इधर-उधर की बातें होने लगीं । प्रोफ़ेसर हीथ ने बताया कि उन्होंने वर्नेस को भी चाय के लिए नियन्त्रित कर लिया था ताकि बातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सकें ।

चाय शुरू हुई । बातचीत के सिलसिले में प्रोफ़ेसर ने वर्नेस को बताया कि शेखर लेखक है । "क्या लिखते हैं आप—" वर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफ़ेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्रायः गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैंने पहले ही यही सोचा था ।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि अदालत में आपको सफ़ाई का वयान गल्प-कला का बढ़िया नमूना था !" कहकर वर्नेस अपने मजाक पर खिलखिलाकर हँस पड़े ।

मोहसिन के नंगे चुनह घोर बाबा के अन्तिम दिन की घाँसे शेखर के प्रागे भाव गई ; अपना धरमान उसे दुगुना सीध होकर चुभ गया, पर उसने झोठ होकर हँसते हुए कहा, "आपकी साहित्यिक परम्परा का मैं कायल नहीं हो सकता ।" मन ही मन निरपेक्ष किया कि वह बदला लेगा ।

प्रोफ़ेसर हीथ ने शायद बाठ टानने के लिए कहा, "शेखर, मैंने सोचा कि तुम दोनों यहाँ होगे, तो एक दूसरे को जानने का अच्छा मौका मिलेगा । प्रायः भारत में भारतीयों और अँगरेजों का सम्बन्ध ऐसा रहता है कि हम लोग तकस्तुक्त में ही रह जाते हैं । मिस्टर बर्नेस को साहित्य में बहुत रुचि है । गवर्नर के भी मिताही है । बर्नेस, कभी शेखर को अपने यहाँ बुलाना—" उन्होंने बर्नेस की ओर देखा, वे बोले, "धवरय ही—"; प्रोफ़ेसर फिर कहने लगे, "और शेखर, तुम धवरय इनके यहाँ जाना । श्रीमती बर्नेस बड़ी सज्जन हैं और कई दृष्टियों से प्रसाधारण महिला हैं—"

शेखर को रास्ता दोड़ा । उसने कुछ खिलकर कहा, "मैंने पहले ही यही सोचा था ।" बर्नेस कुछ चाँके, लेकिन उनके मन का प्रश्न व्यक्त हुआ प्रोफ़ेसर के मुँह से— "क्यों ?"

"क्योंकि अदालत में मिस्टर बर्नेस को देखाकर मुझे स्थान धाया करता था कि यह व्यक्ति किसी प्रसाधारण स्त्री का ही पति होगा ।" सन्तुष्ट होकर शेखर कुछ पीछे झुककर धाराम से बैठ गया । वातावरण में धाये हुए हल्के-से तनाव को दूर करने की इच्छा से प्रोफ़ेसर ने पैतरा बदला, "शेखर, तुम अँगरेजी में क्यों नहीं लिखते ?"

शेखर ने कुछ सोचते-ले स्वर में कहा, "अँगरेजी में....?" "हाँ, इधर कुछ समय से ऊपर लोग भारत में बाकी दिग्गजों से ले लगे हैं । यदि भारतीय जीवन के कुछ चित्र कहानी के रूप में अँगरेजी पाठक के प्रागे रखे जाएँ, तो शायद काफी पसन्द किए जाएँ ।" कहते-कहते प्रोफ़ेसर ने सम्मति के लिए बर्नेस की ओर देखा ।

"हूँ—ऐसी चीजों के लिए अमरीका में तो काफी माँग है, पर मेरे स्थान में हम लोग तो बहुत आकर्षित नहीं हैं । निजी तौर पर मुझे तो बहुत अच्छी लगती है, पर हम अँगरेज कोई ग्राम पसन्द नहीं करते ।"

प्रोफ़ेसर हीथ ने सहमति जताने हुए कहा, "हाँ, हमारे लिए ये कोई महत्त्व नहीं रखती—"

शेखर ने प्रोफ़ेसर की ओर उन्मुग होकर पूछा, "बैंगे धारका क्या स्थान है—कानी निजी तौर पर धारका ? क्या आपको ये पसन्द आती है ?"

"हाँ, धवरय ; मैं तो बहुत पसन्द करता हूँ—"

शेखर उठ बैठा । तो यों ही बात ! ये दोनों ही व्यक्ति किसी वस्तु को चाहते हैं, किन्तु फिर भी नहीं हैं, हमें उसमें दिग्गज नहीं हैं, हमारे लिए उसका कोई महत्त्व

भगर संगठन है तो अनुशासन है। मैं अपने फैसले को शक नहीं मानना, आप उसे रद्द करें, वह आपकी मर्जी है।”

सेनापति इस आवेश के लिए तैयार नहीं थे। बोले, “आप बहुत गुस्से में भालूम होते हैं—”

“नहीं। मैं क्या कर रहा हूँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन मैं चाहता हूँ, वैसा होता तो मेरे लिए वही व्यवस्था होती, जो इन जुमारियों के लिए मैंने की है। लेकिन भगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पेन होने की जरूरत न होती। आप जैसा गुजारा करना चाहते हों, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाजत दें—”

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बैठे हुए शुद्ध शहरपारी महाशय बोले, “और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है—”

शेखर ने घूमकर तीव्र स्वर में कहा, “क्या?”

“दो आदमियों को ऐसे बेइज्जत करना और पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालंटियर सेना अहिंसक है।”

शेखर क्षण भर निर्वाण रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठठाकर हँस दे और चला जाए। फिर अपने को वश में करता हुआ वह बोला, “आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।” और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे सम्बे काद के कारण भयभर दिया गया था कि वह सेनापति के भंगरदशः दल में आ जाए—उम दल के सदस्य को काम कुछ नहीं करना पड़ता, गिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ वही निकलें, तब उनके आगे-पीछे बंधे पर सुइमगन के नमूने पर बने हुए बरसे लेकर चला करें—तब उगने भयभर का साम उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?....

परिणाम कुछ नहीं हुआ। निकाले गए व्यक्ति वापस नहीं बुलाए गए, यद्यपि उन्हें उनकी बर्शियाँ दे दी गईं, क्योंकि उसकी कीमत उन्होंने दी थी। दो-चार बड़े भ्रष्टारों को छोड़कर, जो केवल भ्रष्टगरी करते थे, हाज़िरी नहीं देते थे, बाकी सभी शेखर का पैगना उसटने के विरुद्ध थे।

और जो विद्यार्थी-विद्रोह होनेवाला था, नहीं हुआ। साहम-साह भगड़ा करके वगान पानना और पचने में मुयत समाता देगने का व्यवहार भी गाना—यह उनका मार्ग नहीं था।

●

रात के नौ बजे होते थे। गाम ही की जो घना कुहरा छा गया था, वह अब मिटने लगा था, क्योंकि बरस हानी आरम्भ हो गई थी। शेखर बन्धे पर छोड़कर टाँके, वगैरह

के द्वार पर खड़ा नौ बजे अपने-अपने काम पर जानेवालों की तैयारी देख रहा था और सोच रहा था, अभी थोड़ी देर बाद जिकायतें आनी शुरू होंगी कि हमारी ह्यूटी बदलनेवाला कोई नहीं आया....न जाने नियुक्ति के अधिकारी क्यों नहीं उचित प्रवन्ध कर पाते ?....

घाई और जहाँ नगर की नाम देनेवाली स्वर्गस्व नेता की प्रतिमा पड़ी थी, कुछ कोलाहल हुआ। शेखर ने कान देकर सुना, कोनाहल बढ़ रहा है और उधर ही आ रहा है। वह लम्बे-लम्बे ढंग भरता हुआ उस ओर चल पड़ा।

चीन-वार दिन पहले कैम्प में पुलिस ने छापा मारा था—कैम्प की तलाशी लेकर खाली हाथ लौट गई थी। तब से कांग्रेस नगर का वातावरण कुछ तना-सा था—प्रत्येक माधारण दीगनेवाने, काले कौटवाने, लम्बी मुँछवाने, तुर्रदार पगड़ीवाने, पटेदार जालीवाने, या बेट हाथ में लेनेवाले व्यक्ति पर खुफिया पुलिस के नजर होने का सन्देह स्वयंसेवकों को रहता था। खुफिया के वहाँ होने में हानि कोई न थी, न कोई मनाही थी; किन्तु एक तो स्वयंसेवकों को यह अनुचित दस्तक्षेप मालूम होता था, दूसरे मानव प्रकृति की स्वाभाविक वृत्ति है खुफिया जाहिर बनाना; अतएव प्रायः ऐसे व्यक्तियों से बाल्टियरों की नोक-भाँक हो जाती थी और कभी उन्हें कैम्प के दफ्तर में भी ले आया जाता था।

उस समय भी एक ऐसे ही व्यक्ति को पकड़े हुए पाँच-सात स्वयंसेवक घसीटते ला रहे थे। वह गानियाँ देता जा रहा था, छुड़ाने की कोशिश भी करता जा रहा था और पिसवता भी आ रहा।

शेखर ने निकट पहुँचकर सपटकर कहा, "कीन है—छोड़ दो इसको! क्या मामला है ?"

"सी० घाई० टी० है, सी० घाई० टी०।"

"गोर है गोर! भागा जा रहा था।"

"दरु, कांग्रेस का राज कोई मजबूत नहीं है।"

एकदम इनमें सब जनरों की उममा करते हुए शेखर ने फिर कहा, "छोड़ दो!" सन्तुष्ट होकर सब चले ही गए। "तुम्हारे पकड़ा था? क्या बात थी?"

"यह प्रतिमा के पास धोरे में तुम गला था। मैंने पूछा कि वहाँ क्या काम है, तो बोला कि पदमा काम देती। मैंने कहा कि प्रतिमा का पदमा ही मेरा काम है, और उसे कोई काम न हो तो वहाँ से चला जाए। तो बोला कि बहुत डरे हैं तुम जैसे पहरेदार। मैंने फिर उनके ऊपर जरा और ताकत-पूछा तब हमने मारो दी। फिर हम इन पापकण्डे केस में लाते पड़े, जाले में धोरे भी फँस गया था, दो पुरुष ने हमें बचाव भी करा है।"

तब आकरे हुए उस घाबरी में शेखर ने पूछा, "मेरी टीका कतने है?"

"मेरी सी० घाई० टी० का इन्सपेक्टर है। उस लालों ने मेरी देखरेख की है और मेरी बात से जवाब दिया है। मैं पूछ-छापी को सजा चलाऊँगा—"

“आपने पहले ही कह दिया होता कि मैं सी० आई० डी० का आदमी हूँ तो क्यों इतलत उठानी पड़ती ? घोर-उचक्कों की देखभाल इनका काम है । आप खुद मानेंगे कि आपका रबैया तसल्ली देनेवाला नहीं था । खैर आप जाएँ; आपको जो तक्रलीफ हुई, उसके लिए हम माफ़ी माँगते हैं ।” शेखर ने फिर स्वयंसेवकों को कहा, “तुम लोगों ने माहक एक भले आदमी को बेइज्जत किया है । जिन्होंने इसे पीटा है, उन्हें माफ़ी माँगनी चाहिए और कैम्प में भी दण्ड लेना चाहिए । और दो आदमी इन्हें नगर के बाहर तक सम्मानपूर्वक पहुँचा आएँ ।”

“मुझे किसी सत्ते की जरूरत नहीं है”—कहकर वह एक घोर को बढ़ा ।

“ये आपकी हिराजत के लिए है कि दुबारा ऐसी घटना न होने पावे ।”

दो मेवक उसके पीछे हो लिये ।

०

पहरे बदल चुके थे । शेखर ने सोचा कि लगे हाथ नगर का चक्कर भी लगा ले और देख ले कि कहीं-कहीं ड्यूटी बदली नहीं गई, ताकि कुछ प्रबन्ध हो सके ।

यह जानकर उसे कुछ अचम्भा हुआ कि सर्प के कारण कई लोग अपना पहरा चुकाकर बदलीवाले के भाए बिना ही चले गए थे और कैम्प से बदलीवालों को सोज-भोजकर मिश्रवा रहे थे । अधिवेशन का केवल एक दिन और था—कैम्प के तीन दिन—इसलिए उसने इस सम्बन्ध में अधिक पूछताछ अनावश्यक समझी । और फिर जानेवालों की इतना ही ध्यान रखा ही था कि बदलीवाले को भेज दें । सेनापति को ‘गुदारा करने’ वाली यात याद करके वह मुस्करा दिया ।

बारिग जोर की होने लगी थी । शेखर ने अपनी गति बदा दी ।

प्रतिमा के पास पहुँचते-पहुँचते उसने सुना, कोई गा रहा है—

‘किशन बंसीवाले भा जा—’

और फिर कुछ अटक-अटककर मानो नया प्रयोग कर रहा हो,

“मोहन बदलीवाले भा जा—”

उसके कानों की चाप गुनकर गायक चुप हो गया । शेखर ने देखा, प्रतिमा का पहरेदार शतर्प दृष्टि से उसे देर रहा है ।

शेखर ने पूछा “नई ड्यूटी सगी है ?”

“जी नहीं ।”

“कब मे हो ?”

“तीन बजे मे—”

“तीन ? तब बजे भी नहीं बदली ?”

“जी नहीं । तब बजे वाले ने मुझे कहा था कि उसे बाहर जाना है, मैं उसकी ड्यूटी दे लूँ । मैंने मान लिया था ।”

"और नो बजे ?"

"उसका तो पता नहीं। कोई बदली के लिए लगा होता तो आ ही जाता—"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "उसो को ढेर रहे ये क्या ?"

कुछ झेंझकर, "वो ही बकान मिटा रहा था—"

"बहुत बका गण हो ?"

"नहीं, भीग गया है, और बाह में दर्द हो रहा है—"

एकाएक शेखर उस आदमी के प्रति कृतज्ञ हो आया, जो दो आदमियों का काम करके तीसरे का शुरु करते समय गा रहा है—उसे जान पड़ा कि चौदह तो आदमियों ने एक ने उसके अनुमाननवाले आदर्श का समर्थन किया है—समर्थन ही नहीं, पालन किया है। एक तो इतनी से उसका जो एकाएक कुछ हल्का हो गया, दूसरे यह भी जानने की उसे इच्छा हुई कि वर्षा में तीन-चार घण्टे अकेले खड़े रहना कस्ता लगता है...उसने निश्चय करते हुए कहा, "अच्छा, अब तुम जाओ, तुम्हारी बदली भी कहूँगा।"

"आप ?"

"हां—मुझे भी तो देखना चाहिए, रात को ड्यूटी कंती लगती है।"

"पर आपके पास घाता नहीं है—" कुछ अनिश्चित-से स्वर में अपना एक ओर से बढ़ा घाता धवाते हुए स्वयंसेवक ने कहा...

"यह गोबरखोद बहुत काफी है। जाओ, सब धाराम करो तुम।"

स्वयंसेवक चला गया। शेखर चुपचाप नियमित गति से टहलने लगा....

रात लम्बी थी। शेखर का मन बहुत बौढ़ो देर के लिए ही उस स्वयंसेवक पर टिका रह गया, फिर उभरेहुन में पड़ गया।

उस सी० एल० सी० बाने को उन्होंने पीट दिया—बुरी बात हुई। पर उसने अपना नाम-रखा नहीं बताया—कब बिना उसे पकड़े क्या होता ? पहरों का मतलब क्या होता ? यही तोई अमरवी घात का जाए, तो क्या में पृथूंगा नहीं, वह फोन है ?...हो सकता है, वह घाता हो इसलिए हो कि अमरवी हो जाए—यह तो इतना काम ही होता है। मर-पीट हो गई—यह तो उसकी मरतला हुई। पर मार-पीट में बनते जैसे यदि प्रक्रिया में हो-जाए करने लगता तो...जहाँ तक सहा जा सकता ? क्या बात गरम हो गई है, या अभी भी कुछ मन विवेका ? देना जाएगा....

यह स्वयंसेवक तो तीन बजे से पहरे पर था—यह भी उसे पकड़ने में रहा होगा ? वह सब क्यों नहीं गया ? शायद प्रक्रिया के साथ सहा रहता अमरवी सम्भल हो—यह तो ऐसा था, सारी सारी पूरा उद्देश्य रह गया हो जैसे कह...नाम तो ऐसे ही होता है.... क्या में भी किसी बात के लिए ऐसे नाम दिया सार् ? अपने मन का काम होता है वह तो और भी उदाहरित बात है, वह ऐसा नाम जिसके पीछे बसता नहीं—सिर्फ काम ही काम हो... क्या में सारी सारी प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष काम में लग सकता ?

इसके पीछे सारे के साथ ही, जो सारी प्रक्रिया में सहा रहता है, परमप्राप्त दुनिया

मे जो मेरा कर्तव्य है, वह नहीं करता...दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।' यहो तो उसने कहा था....और 'दुःख सब जगह है'—मैं उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दुःख तिये फिरता है....और शक्ति दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं है, दूसरों के लिए दुःखी होने में है....

मैंने जो उसकी बदली कर दी, क्या उसी के लिए? मेरा भी तो मन या कुछ ऊँट-पटौंग काम करने का—अपने सन्तोष के लिए तो मैंने उसे छुट्टी दे दी....पर हम सन्तोष से बचकर कोई कहाँ जाए? यह तो सब जगह है। अपने को नष्ट कर देने में भी तो सन्तोष होता है—तब क्या सन्तोष के लिए ही कोई अपने को नष्ट कर देता है?...

ब्रह्म में मुझे चाहिए था, पहले उस नातायक नियुक्ति अफसर को बुलाकर यहाँ लाता, फिर दो-बार मुनाता और कहता कि इस गरीब की जगह इयूटी तुम दो, जरा इस पीप की वर्षा में चलो किरो, तोड़ हल्की होगी... अन्त्याय की सह लेना उसे बढ़ावा देना है—अनुचित परिस्थिति में अपने को नष्ट देना कोई त्याग है?

दूर घायी रात के घंटे खड़े। उस वर्षा में पानी घण्टे की भाँज भी भीगकर टिटुर गई थी—ऐसी गिरित-सी थी यह...शेखर ने अनुभव किया कि—उसका मोटर-कोट पहने से चौगुना भारी हो गया है, और जो अब तक रक्षक था, वही अब शत्रु ही गया—मोटरकोट के कारण वहीं भी भीग गई है और पानी की बहुत छोटी-छोटी धारें उसकी पीठ गुदगुदा रही हैं। टाँगों में पट्टियाँ भी भीग गई हैं—पानी बूटों में भर रहा है। बूटों के तने 'वाटरप्रूफ' हैं, बाहर का पानी भीतर नहीं पसने देंगे—और भीतर का बाहर नहीं निकलने देंगे....शेखर एक बार काँपा और फिर जल्दी-जल्दी चलने लगा....

टपटप बहती ही जाती थी....बदली वाला अभी तक क्यों नहीं आया? क्या यह पहरा भी ऐसे हो जायगा? ठेठना और घुटनों तक उसका शरीर सुन्न हो गया था। अब उसे बिनकुन अनुभव नहीं होता था कि बूटों में पानी है या नहीं, पैर भी है या नहीं...मानो बसातियों के महारों ही उसका सिर और कंधे टिके हों...उसने सोचा, अगर मैं भी जमकर खाड़ा हो जाऊँ, तो हम प्रतिभा की तरह खड़ा ही रह जाऊँगा।

एक....घंटे का स्वर इतना मन्द था कि अगर शेखर के बान नीरवता को भी सुन लेने के लिए चौकन्ने न होते तो वह सुन भी न पड़ता।

नियुक्ति अफसर....अनुशासन के नाम पर सब चिढ़ गए थे—हिंसा है। यदि यह हिंसा है, तो कर्तव्य की—जीवन की हो—मिति हिंसा पर कायम है। मैं कहूँ, नियुक्ति अफसर को निकालकर रात भर इस वर्षा में खड़ा रखना चाहिए, तो वह हिंसा है, पर वह बिना कहे, बिना मुने अपने-को रात भर यहाँ भीगने और गलने दे, तो वह हिंसा नहीं है....किसी ने ऐसा कह देगा, तो वह बहेगा, तुम्हें किसी से क्या, तुम निष्काम कर्म करते प्यारे। उसकी मृत्यु को तुम मह सो। त्याग इसी में है। त्याग पुण्य है। त्याग धर्म है। त्याग—त्याग—त्याग! हम नहीं कहते त्याग बुरा है, पर हम त्याग मानते-मानते

कीन ? अगर हमें कह सकते हो कि त्याग करें, निष्काम कर्तव्य करें, तो क्यों नहीं उसे कह सकते कि निष्काम या नवकाम किसी तरह तो कर्तव्य करें....

दो....श्रवकी चार शेखर को क्रोध नहीं आया, एक नीरस मुस्कान भर उसके मुँह पर दीढ़ गई....

त्याग....त्याग मानने के लिए हर एक का अपना अपना गज होता है—श्रीर वह गज होता है उस व्यक्ति का अपना त्याग करने की क्षमता....जो खुद कभी त्याग नहीं करता, यही हर जगह, हर समय त्याग की प्रशंसा करता है—'श्रमक ने इतना बड़ा त्याग किया', 'श्रमक ने उतना भारी आत्म-अनिदान कर दिया'... उसका गज उतना छोटा होता है कि गैरकृ ने कम की कोई वस्तु ही उसे नहीं दीखती....श्रीर जो स्वयं त्याग करता है, उसे जान ही नहीं पड़ता कि त्याग है क्या चीज ? अपने को दे देना उसके लिए साधारण श्रमिक चर्मा का एक अंग होता है, जो होता ही है, जिसे देखकर विस्मय, कोवृहल, श्लाघा, किसी में भी रोमांच नहीं होता, मुखर भावुकता नहीं फैलती....

लेकिन क्या बदली रात भर होगी ही नहीं, और रात क्या कभी चुकेगी नहीं ?...

नियुक्ति अकसर....जदि उन्हें स्टेज पर लड़ा कर दिया जाए कि त्याग पर भाषण कटकारें, जो पाण्डव नियुक्ति के मामले में नहीं अधिक सकलता दिखाएँगे....वह तुंदिल मनहस लोग....क्या नाचायक ही अकसर बना करेंगे, और ईमानदार लोग ही नीकर ?.... जदि ऐसे ही नेता होंगे, तो श्रीर नेता पाकर हम क्या करेंगे ? राज सुनने में आता है कि नेता नहीं है, नेता नहीं है....ऐसे नेताओं के बोझ से तो समाज कुनवा ही जाएगा, उठेगा कैसे....जो ऊपर से लाया जाएगा, वह भार ही होगा, भारवाहक कैसे होगा ? भार उठाने की सामर्थ्य ही कमसे होगी, जो नीचे से उठेगा, - विघ्नों, घमनों, भारों, पराजयरातों की लपेटा करता हुआ, नींदों में बड़े हुए पुच्छे और संघर्ष से दूढ़ हुआ हमेशा बेधर सभिसाव-भरा और मुक्त....हम मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं, पर हमारे सभी नेता—हमें आगे गीतगोवली, हमारे भारवाहक—ऊपर बादलों से बरसे हुए सुधार की वनतः पर भी जो पदचिह्न मिट्टी से नहीं बड़ा है; नहीं फूटा है कटोर धरती को तोड़कर नए मंदिर की तरह....

मक्ति, समर्थता, सफलता—किसने सुन्दर शब्द ! किन्तु कहाँ है उनके पनपने के लिए परिचित और साध-सक मिट्टी,—श्रमता; कहाँ है वह मिट्टी में ही साक्षात्कारिक क्रियाओं के सभी हत पाद—अन्यथा का पनपना सन्तानिक; और कहाँ है—

नींव....

मक्ति, बदला की बात मोचने का कोई साधन नहीं है—अब क्या होगा ? जैसे नींव, जैसे म, पर चले कोई प्रणम ही का यह किसी को सुझाव—यः नये उम्मत का विचार होता और उसे सुझावे देवी होगी....

तो, सदाचार सदा की बोधने है, किन्तु क्या यह प्रस्ताव का योग है कि वे नेता उनके से उभरते नहीं हुए हैं ?

स्वाधीनता तो प्रवृत्त अधिकार है—उसके चाहनेवाले चाप उत्पन्न होने चाहिए—ये तो जंगली वनस्पति की तरह फूटने चाहिए। क्यों मिट्टी और क्यों राद और क्यों पर-यरिग ? तब क्या यह ठीक है कि जनता हो अपराधिनी है, देश की मिट्टी ही सराब है, और हम स्वाधीनता के अयोग्य हैं ?

पर हमारा वन-प्रदेग काट दिया गया है, हमारे स्वाभाविक सोते और जलागम सूख गए हैं, हमारी मिट्टी बंजर हो गई है। जंगल हो या उद्यान, हमें उसे फिर से खड़ा करना है, इसीलिए यह आवश्यक है... और ये हमारे नेता—ये नहीं हैं आवश्यक—महमूमि के इन कौटोले भौंकाहों में नहीं हैं जीवन-रम, और नहीं हैं जीवनरस को बाँधकर या स्वयं गलकर, भूमि को हरा करने की दमता....

शेखर चौंका—पैरों की चाप क्या बदलो बाखिर होगी ? शायद तो उसकी आवश्यकता नहीं थी, क्यों घम चला यो और मर्दों की अब जितनी लग सकती थी, लग चुकी थी....

लेकिन यह तो कई एक पैरों की चाप है—एकाएक चार-पाँच टाप-बलियों के प्रकाश से शेखर चौंकाया गया—किसी ने कहा, “यही का याक़्बा है—यह आदमी उन वालंटियरों का अग्रसर है, जिन्होंने हम पर हमला किया था”—शेखर ने रानवाले सो० आई० डी० के आदमी का स्वर पहचाना और देखा कि कई-एक पुलिस के सिपाही उसके सामने हैं—उनके अग्रसर ने कहा, “गिरफ्तार कर लो, सबेरे कांग्रेस के दफ्तर को लूट देना”—दो सिपाही शेखर के अगल-बगल हो गये—शेखर ने पूछा, “मैं बन्दी हूँ क्या ? क्यों ?”—उत्तर मिला, “हाँ, याने मैं चलना होगा।”

“ऐसी जल्दी है क्या ? सबेरे गिरफ्तार कर लीजिएगा; अभी तो टण्ड से मेरी टाँगें धकड़ी हैं, चलाने नहीं जाता।”

सिपाहियों ने उसकी दगल में हाथ डाल लिए—पिटे हुए सी० आई० डी० वाले ने कहा, “देता अपने रंग-उग ?”—सिपाही उसे गीच में धले—एकाएक अपने को धप-मानित अनुभव करते हुए शेखर ने भटका देकर अपने को घुसा लिया और कहा, “बलिये जहाँ चलना है—इतना निकम्मा तो मैं नहीं हूँ कि सहारा चाहूँ।”

अग्रसर और मुताबिर ने फिर धौंले मिलाईं। टोली बस पड़ी—और चलते-चलते शेखर ने देखा कि आस-पास के वालंटियरों ने कुछ गोलमाउ देकर राबर कर दी है और साँग जुटने लगे हैं।

पुलिस की मोटर में बैठने हुए सगे फिर शक्ति के ये शब्द बाद पाए—‘दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं, दूसरे के स्थान पर दुःखी होने में है....’

क्या यह पात्र है ? क्या उसकी आत्मा का एक नया परिच्छेद खुलनेवाला है ? क्या वह पुनः पुरप है—विजेता—परिस्मृति का स्वामी ?

द्वितीय खंड
बन्धन और जिज्ञासा

बन्दी होने के ठीक इक्कीस दिन बाद शेखर पहले-पहल ब्रिदास्त में पैग किया गया। उस दिन उसे मालूम हुआ कि पाँच और व्यक्तियों के साथ उस पर भार-नीट, हमला, हिंसा के लिए साजिश, सरकारी भ्रष्टाचारों की हत्या का प्रयत्न, सरकारी भ्रष्टाचार के कार्य में अवरोध, और मुकदमे से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री छिपाने के आरोप लगे हैं। उसी दिन उसे पुलिस की हवालात से जेल में भेज दिया गया।

शेखर को मालूम नहीं था कि पुलिस की हवालात में और जेल में क्या भ्रष्टाचार है—इसके सम्बन्ध में कानून क्या है, यह भी वह नहीं जानता था। उससे अगर पूछा जाता कि 'क्या तुम जेल जाना चाहते हो?' तो वह सहज सचाई के साथ यह देता, 'नहीं।' जब जब उसे जेल भेज दिया गया, तब वह सोचता हुआ जा रहा था, क्या मुकदमा घटम हो गया? न गवाही, न सुनवाई, न फैसला—क्या मैं जेल ही में पड़ा रहूँगा? उसने दूसरे मुकदमों की बातें पढ़ी-सुनी थी, यह बारंबारी उसे विचित्र मालूम हुई....वह अपने साक्षियों से पूछना चाहता था, पर डर रहा था कि वे हँसे नहीं। उस समय वह अपने को बहुत छोटा, बहुत अकिञ्चन, बहुत बेवकूफ अनुभव कर रहा था....उनके साथी सारी में बैठे-बैठे हँस रहे थे और वह विस्मय में सोच रहा था, इन्हें तो कुछ सोच नहीं है....उनमें से दो पहले जेल हो आए थे, ऐसा शेखर ने उनकी बातों से जाना। तब क्या एक बार जेल हो जाने से ही उनका साहस इतना हो गया है?....

"लेकिन सरदार, आप कैसे इनमें भा पड़ते?"

शेखर को विस्मय हुआ कि वह कैसे धनयास अपने पकड़े जाने की बात कह गया है।

प्रश्नकर्ता ने हँसकर कहा, "देखा आपने उसकी सफाई—'यह भादमी उन वार्ष-टिप्पणों का भ्रष्टाचार है, जिन्होंने मुझ पर हमला किया था'—सब? हमले से आपका सम्बन्ध कैसे ज्ञात गया है?" एकाएक उसका चेहरा गम्भीर हो गया। "आपको उन्होंने ऐसे नाटकीय ढंग से गिरफ्तार किया है—हम लोग तो भगने दिन प्रातःकाल पकड़े गए—और आपको भ्रष्टाचार भी बताते हैं, तब क्यों की सारी जिम्मेदारी भी आप ही पर डालेंगे! हाँ, आपने बदली किसकी की थी?"

शेखर ने बता दिया।

"उसी ने तो पकड़ा था उसको। हम लोग पीछे पहुँचे थे। जब हम लोग पकड़े गए कैम्प लाने लगे, तब उसने कहा कि वह तो झूठी पर ही रहेगा; किसी गाले सी० धार्ड० डी० से उसे कोई मतलब नहीं है। हाँ, प्रतिभा से छेड़छाड़ करेगा कोई तो देतो जाएगा।"

"हूँ!"

"आप सफाई देंगे!"

शेखर ने चुपचाप उसकी ओर देख लिया—वह नहीं जानता था कि इसका क्या उत्तर है।

“आप पहली बार आए हैं न ? खैर। जेल में आप हर बात में हम लोगों का साथ माँगते रहिएगा। एक मुकदमे के अभियुक्तों को इकट्ठे रहने का अधिकार है। सफाई के लिए वकील आदि का कुछ न कुछ प्रबन्ध होगा ही—फिर हम लोग इकट्ठे सलाह करेंगे कि क्या किया जाए।”

“अच्छा।”

“और खूब अकड़कर रहिएगा। अकड़ के बिना जेल में काम नहीं चलता; और फिर अभी आप कैदी नहीं हैं, केवल अभियुक्त हैं। आप पर शासन करने का अधिकार किसी क्यों हो ? हैं न ?”

“ठीक।” शेखर मुस्करा दिया। उसे याद आया, कहीं उसने पढ़ा था; न्याय का सिद्धान्त है कि कोई व्यक्ति तब तक निर्दोष है, जब तक कि वह दोषी सिद्ध नहीं हो जाता। और अकड़—वह तो उसकी आदत ही थी।

जब लारी जेल की ड्योढ़ी में जाकर खड़ी हुई, उतरते हुए शेखर ने देखा कि उसके आगे और पीछे लोहे का बड़ा फाटक है और एक हाथ में पड़ी हुई हथकड़ी के दूसरे छोर पर सिपाही, तब एकाएक उसे स्वाधीनता का अर्थ समझ में आ गया, और वह अपने को कोसने लगा कि क्यों अब तक—बीस वर्ष की आयु तक—वह उसके प्रति उदासीन रहा है; क्यों नहीं अब से कहीं पहले स्वाधीनता उसके लिए भूख-प्यास और श्वास-गति की तरह एक अत्यन्त आवश्यक, जीवन-मरण की-सी महत्वपूर्ण वस्तु बनी....



जब शेखर ने अपने को एक कोठरी में बन्द पाया, जिसमें दाईं ओर खड़ी पर उसका बिस्तर पड़ा था, बाईं ओर एक चबूतरे पर चक्की जमी हुई थी, पिछले कोने में निसर्ग के लिए कोलतार से रेंगा हुआ एक पतरा और मिट्टी की एक छोटी-सी टोंटी थी, ऊपर छत में प्रकाश के लिए जँगला-सा था, सामने सींखचे थे, जिनके बीच से एक लोहे का फाटक, फाटक के एक छिद्र से और सींखचे थे, और सर्वत्र, सर्वत्र दुर्गन्ध थी—तब एका-एक अपनी भौगोलिक स्थिति का समाधान उसके लिए आवश्यक हो गया। मैं ठीक कहाँ पर हूँ, मेरे आसपास जेल का और पृथ्वी का प्रसार किस तरह है, यह जाने बिना जैसे वह साँस नहीं ले सकेगा....जेल नगर के किस ओर है, वह जानता था; जेल का फाटक उत्तर की ओर था, वहाँ से वह पहले इधर मुड़ा था, फिर उधर, फिर उधर, फिर....तो उसकी कोठरी का मुख पूर्व की ओर था, पर उससे आगे....

यह समस्या अगले दिन ही हल हो सकी। प्रातःकाल उसे टहलने के लिए निकाला गया, तब उसने देखा कि वह चालीस कोठरियों की एक कतार में बारहवीं कोठरी में है। उस कतार से आगे शायद चालीस कोठरियों की एक और कतार है। सामने की

बीमार में दो फाटक हैं...जो मम्बरदार उसे टहलाने लाया था, उसने बताया था कि एक कारखाने में खुलता है, दूसरा गोरा बारक में...शेखर ने मन ही मन जेत पर पृथ्वी के नबरो का आरोप किया, और तब अपनी स्थिति का छाका उसके प्रागे स्पष्ट हो गया—फाटक उत्तरी ध्रुव, दरोगा का दफ्तर उत्तरी हिमवृत्त, कारखाना जापान, दूर उधर फाँसों की कोठरियाँ घरब; और वह—वह कहाँ है ? वह साइबेरिया के हेमावृत्त मस्सन में...उसे कुछ शान्ति हुई—वह वहीं है तो—यहाँ तो यही डर है कि उसका अस्तित्व ही न हो जाए।

चौड़ी देर बाद अभिमान जागा। वह दूसरी तरफ दक्खिनवानी कतार में होता, तो भारत में होता। वह कतार अच्छी नहीं है; मम्बरदार ने कहा था कि वहाँ बदमाश रखे जाते हैं, पर होता तो वह भारत....उसे एकाएक प्रचण्ना हुआ कि अपने देश की मिट्टी का, उसके नाम का, नबरो में उसको आकृति और स्थिति का मोह उसमें कब से जाग गया है...पहले तो ऐसा नहीं था—मुन्दर प्रदेश थे, घर के लोग थे, पर भारत—मूगों को पुस्तक के बाहर कहाँ था वह ? उसे याद आया, पिता कभी राजपूतों की, क्षत्रियों की, बीरता की गाथाएँ बहुते-बहुते एकाएक वह उठते थे "इस भायों की भूमि से ऐसे ही रत्न उत्पन्न हुआ करते थे"...और शेखर को लगता था, उस समय अपने अभिमान के तीव्र झालोक में ही परख लेना चाहते हैं कि शेखर भी बीसा रत्न है या नहीं; पर वह तो दूर किसी पुराने देश की बात थी—आर्यावर्त की, और उन बीर गाथाओं का आर्यावर्त उसके मन में कभी उसके पैरों तले रौंदे जाते घाज के भारत से एकरूप नहीं हुआ था....

'खूब झकड़कर रहिएगा'....झकड़ तो उसके भीतर साहसराह बढ़ती जा रही है.... उसने कोई प्रपराय नहीं किया है; पर जो उन कोठरियों में है, जो 'भारत' में है और मजा भुगत रहे हैं, वह उन्हीं की तरफ होगा, वह झकड़ेगा और सड़ेगा....

उमका सैर का समय चुक गया।



पूरे तीन दिन बाद उसे दह माँग करने का मोका मिला कि उसे 'आर्यावर्त' के साथ रखा जाए। दरोगा निरीक्षण के लिए आए थे। विरस्कार के स्वर में बोले, "तो वे तुम्हारे मापी हैं, क्यों ?"

शेखर ने ब्याय की उपेक्षा करते हुए कहा, "हमें एक ही मुकदमे का अभियुक्त बनाया गया है, हमें मिलने का अधिकार है।"

"अधिकार ! ऐं है ! यह जेत है जेत, बाबू साहब ! यहाँ का अधिकार है किसी पोसना, समझे ? वह देखो !" दरोगा ने कोठरी के भीतरवाने खबूतरे की ओर इशारा किया। "बदमाशो मत ! सब देखोगे।" उसकी माँग का उत्तर दिए बिना वे बने गये।

किन्तु शाम को जब शेखर को कोठरी से निकाला गया, तब उसने देगा कि दह

नाराह कोठरियों से आगे चलकर एक और कोठरी भी खुली है, जिसमें से उसे अकड़ने का परामर्श देनेवाला विद्याभूषण निकला है, और दूसरी ओर से बाकी तीनों साथी लाए जा रहे हैं।

विद्याभूषण को देखकर वह इतना प्रसन्न होगा, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। वह लपककर उससे गले मिला, और फिर एकाएक अपने उत्साह के लिए कुछ लज्जित-सा होकर कुछ अलग होकर खड़ा हो गया।

क्षण-भर के लिए दोनों एक दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे। विद्याभूषण कद का मध्यम, बलिष्ठ शरीर का और गोरे रंग का कोई बीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए लंबे बाल, चौड़ा माथा, सीधो नाक और पतले ओठ, सीधी और पतली छोड़ी—णकल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखों में अवश्य उसके एक कोमल हास का चंचल प्रकाश था। शेखर ने निश्चय किया कि यह व्यक्ति उसके मन के अनुकूल है। उसने पूछा, "आप पहले भी जेल आए हैं न ? कैसे ?"

"हाँ, असहयोग के जमाने में आया था। तब मैं छोटा ही था। तब कड़ाई भी अब से ज्यादा थी। बन्दीगतरम् का नारा लगाने पर मुझे बेंत लगे थे। अब तो राजनैतिक कैदी को कम ही बेंत लगते हैं।"

शेखर ने एक बार फिर उसे सिर से पैर तक देखा। नहीं, इस गम्भीर युवक का भागे अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने में लज्जा नहीं है। उसने कहा— "राजनैतिक कैदी फलगत होते हैं ? मैं कुछ जानता-बानता नहीं।"

विद्याभूषण मुस्कराया। "कोई बात नहीं—यहाँ बहुत जल्दी सब कुछ जान जाएंगे प्रच्छा कालेज है, जेल। मुझे तो जब बेंत लगे थे, तब टिकरी पर ही कई बातें समझ आ गई थीं। चरित्र की डिग्री तो यहीं मिलती है। पर फेल बहुत होते हैं।" उस चेहरा गम्भीर हो गया।

"हूँ।"

एकाएक कुछ याद करके विद्याभूषण बोला— "हाँ, हम लोगों को साथ नहीं जाएगा, पर दित भर हम मिल सकेंगे। यही फैसला हुआ है। ऐसे भी ठीक है।"

"और मुकदमे का क्या होगा ?"

"आज मेरे भाई मुझसे मिलने आए थे। एक वकील का प्रबन्ध हुआ है हम सबसे मिलेंगे। तभी आगे के बारे में निश्चय होगा।"

शेखर एकाएक इस आकांक्षा से भर गया कि कोई—कोई नहीं, शशि मिलने आएगा.... भाई प्रायद आएँ—पर यदि शशि आती—आ सकती.... बाकी तीनों साथी भी आए थे। परिचय हुआ, शेखर ने उनके नाम सिर से पैर तक जाना और तय किया कि वे विद्याभूषण के पाये के नहीं हैं वे भले ही अच्छे रहे हों, पर ऐसा उनमें अधिक नहीं है जो जेल में आकर और उसने यह बहुत सहल पाया कि बातें करता हुआ भी वह शशि

मम्मावना पर सोचता जाए—“जेल के जीवन के बारे में उसे अधिक चिन्ता नहीं थी— वहाँ के दैनिक जीवन की व्यवस्था उससे कोई विशेष बुरी नहीं थी, जो उसने वयःसन्धि के दिनों अपने को दण्ड देने के लिए अपने लिए तजवीज कर ली थी....दिन बीत ही जायेंगे—शरीर उसका काफ़ी कठोर था; हाँ प्रारम्भ उसके बदन में नहीं था और वे मम्मावने इतने थे कि....

●
प्रभियोग की सुनवाई प्रारम्भ हो गई। वकील ने शेखर को बताया कि उसे विन्यास करने की कोई जरूरत नहीं है, और तो कोई धारा उस पर लगती नहीं—केवल एक लग सकती है, सरकारी अफ़सर के काम में भ्रष्टाचार डालने की; और वह भी शामबानी घटना के कारण नहीं, रात को गिरफ्तारी के समय की घटना से....पुलिसवाले कह सकते हैं कि वे उस समय सरकारी काम पर गए थे, जब उसने दफ़ाबट डाली और भगड़ा किया आदि-आदि....किन्तु उन आश्वासन के बिना भी मुकदमे में शेखर की दिलचस्पी मिट-नी गई थी। जेल ने उसके सामने एक नई दुनिया हो मानो खोल दी और उसके अपने भीतर इतने नए प्रयत्न जाग रहे थे कि बदालत में पूछे गए धर्म के प्रश्नों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता था....उसे जान पड़ता था, वह जेल-संसार को मानो एक Prism के बीच में ले देता रहा है; प्रत्येक दृश्य के कई रंगों के कई रूप कई दिशाओं में उसे दीखते थे, और यह कहना असम्भव हो रहा था कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या.... उसके अग्र तक के बने हुए सब पैमाने निकम्मे हो गए थे, वह एक नई और भीषण वास्तविकता को जान रहा था कि सभी कुछ सत्य है, सभी कुछ मिथ्या है; सभी कुछ अच्छा है और सभी कुछ बुरा है. अब भी वह देख रहा था कि ऐसी दशा में मार्ग का, कार्यक्रम का, निर्णय आदर्शवाद के सहारे ही हो सकता है, लेकिन उस आदर्शवाद के आधार पुराने आदर्शों पर नहीं टिकते थे—उसकी आत्मा के भीतर क्रान्ति की जरूरत थी....विद्याभूषण का साथ उसके लिए आवश्यक हो चला था। किन्तु दिन में तो विद्याभूषण मुकदमे को देखता था—शेखर ने अपना हित उसी के सिपुर्द कर दिया था—अतः शेखर प्रातःकाल उससे उलझता और दिन भर उस उलझन पर विचार किया करता और उसके घागे मुलमला करता....

प्रारम्भ उस दिन हुआ था, जिस दिन विद्याभूषण के यह कहते समय, कि हमें देश के आशाभिमान को रक्षा के लिए एक ऐसा संगठन बनाना चाहिए, जो सरकारी अफ़सरों और शासकों का दिमाग दुस्त रखे, शेखर ने एकाएक पूछा था, “अच्छा, यह तो बताओ, तुमने उस ली० आई० डी० ब्रासे को फेंका था भी कि मेरी तरह ही आए ?”

“फेंका तो था। इतना उद्दव व्यवहार करके वह धधूता सीट जाऊ ठी मैं आसुमार अपने को शमा नहीं कर पाता।”

“क्यों ?”

“राह चलते तुम्हें कोई माँ-बहन की गाली दे जाए, तो तुम क्या करोगे ? तब वह इसीलिए बच जाता कि कमीना होकर वह सरकार का गुमास्ता भी है ?”

“वह सरकार का एक अंग तो था—ऐसे सरकार कैसे चलेगी ? मान लो अपनी सरकार होती, तब—”

“सरकार का अंग—तो सरकार के आतंक से हीन हम उसे पीटने से रह जाते ? अगर तुम हिंसा की बात कहते हो, तो क्या डर के कारण अपने गौरव की रक्षा से चूकना हिंसा नहीं है ? आत्महिंसा सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि वह राष्ट्रीय अभिमान की—राष्ट्र की—रोड़ तोड़ डालती है ।”

“तुम्हारे कहने का मतलब यह हुआ कि जब भी गुस्सा आए, उसे व्यक्त हो करना चाहिए, दवाना नहीं ? ऐसे तो बड़ा अनाचार फैलेगा—”

“नहीं मैं यह नहीं कहता । एक गुस्सा कमजोरी होता है, एक गुस्सा कर्तव्य होता है । अगर अपने राष्ट्र का अपमान होता है, तो उस पर रोष राष्ट्र के और समाज के प्रति कर्तव्य होता है—वह रोष हमें देश को देना ही है । नहीं तो हम में भीतर कहीं प्राणों की जगह कचरा भरा हुआ है ।”

“अगर देश के अपमान पर रोष उचित है तो, प्रान्त के, सम्प्रदाय के, परिवार के और फिर स्वयं अपने अपमान पर भी उचित है । वही क्यों कमजोरी है ?”

“ठीक है । पर सवाल उस स्थूल वस्तु का नहीं है, जो देश या प्रान्त या हम हैं । सवाल भावना का है । हमारे देश की मिट्टी अनुर्वर है, यह सीधी-सच्ची बात भी हो सकती है, पर ‘हमारा राष्ट्र नपुंसक है’ यह अपमान है । आदर्शों के लिए रोष उचित है ।”

“तब धर्मान्विता उचित है ? धर्म आदर्श है न ?”
विद्याभूषण कुछ हिचकिचाया । “न—नहीं ! कहीं पर सीमा बाँधनी ही होगी पर धर्मात्मा और धर्मान्वि हम कहते हैं और उसका अलग-अलग अर्थ भी समझते जिसका अर्थ यही है कि धर्मान्विता में कुछ ऐसे तत्व आते हैं, जो बुरे हैं । वे यह खोजना होगा । जैसे धर्मान्वि रोष में सबसे पहली बात होती है व्यक्ति-असहिष्णुता—मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि मेरा धर्म तुम्हारे धर्म से अच्छा है, मैं तुमसे अच्छा हूँ । यह स्पष्टतया अनुचित है और इस अभिमान की तो उखाड़नी चाहिए ।”

“हूँ ?” शेखर कुछ देर तक सोचता रहा । “तब हम कहाँ पर पहुँचे ?”
पर वह हँस भी पड़ा ।

“जो रोष आदर्श के लिए है, वह धर्म है, यह तो तय है । रोष आदर्श क्या है, सो उसके बारे में साधारण नियम कठिन है, पर कहा जा स

जो भी भावना मानव और मानव के भेद को मिटाने की, उसकी सीमाओं और बन्धनों को अधिकधिक प्रसारित करने की चेष्टा करती है, वह भादस है।”

“तब वहाँ मानव और मानव का सगास घाए, वहाँ राष्ट्रीयता भी विघ्न हो सकती है ?”

“धवरय ! यूरोप में ऐसा समय आ जाता है कि राष्ट्रीयता पाप हो जाए—वहाँ राष्ट्रीय संगठन धम मानव की स्वाधीनता में विघ्न हो गया है।”

“हूँ।” शेखर की ‘हूँ’ विचारों से इतनी सदी हुई थी कि वह धागे जिज्ञासा करना भूल गया। पूर्ण धारवस्त तो वह हुआ था, लेकिन विद्याभूषण ने उसकी बुद्धि को एक गहरा आघात धवरय दिया था—इतने बड़े-बड़े प्रश्नों को सामने पाकर वह उनकी सतकार से मानो तिलमिला उठी थी।



अभिमान या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है, शेखर के लिए यह एक नया दृष्टिकोण था। वैसे तो राजनैतिक मामलों में उसको कभी अधिक दिलचस्पी नहीं रही थी, और प्रायः राजनैतिक क्लगों और हिस्सा-बाँट की बातें घराबारों में पड़कर वह राजनीति की धुइता पर दुःखो हो हुआ करता था। पर ‘राजनीति क्यों है ?’ यह प्रश्न राजनीति का नहीं, जीवन का था, और ऐसे प्रश्नों का धाकर्षण वह कभी भी टाल नहीं सकता था। जब विद्याभूषण के निमित्त से उसकी बुद्धि इस प्रश्न से आ उलझी, तब उस नई दृष्टि के धक्के से वह दो-तीन दिन अचम्भे में पड़ा रहा। वह जानता था कि विद्याभूषण की बातों से वह पूर्ण धारवस्त नहीं हुआ, और यह भी वह जानता था कि दूसरे की सीधी हुई बातों से कभी भी कोई धारवस्त नहीं हो सकता, वे धपने ही अन्तरात्मा से निकलें, तभी सच होती है; दूसरा अधिक से अधिक यह कर सकता है कि अन्तरात्मा की उर्वर भूमि की बाँड़ी-सी निराई कर दे....

तीन-चार दिन तक वह इनी एक बात को लेकर धपने से मुड करता रहा। क्या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य है ? तीन दिन के बाद उसके भीतर जागा हुआ बुद्धा-कार दानव जिज्ञासु मानो एक प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़कर नए मुड के लिए तैयार हुआ, तब उसके ‘मुड’ देहि !’ के उत्तर में कई नए भीमाकार प्रश्न आ लड़े हुए—शासन क्यों है ? क्या वह स्वाधीनता में बाधक नहीं है ? क्या उसके बिना हम रह सकते हैं ? क्या उसे हम मण्ट भी कर सकते हैं ? कैसे कर सकते हैं ?

अगर मुक्ति की ओर बढ़ना ठीक है—और ठीक वह नहीं कैसे हो सकता है ? तब शासन-सत्ता का होना बुरा है—है नहीं, तो हो सकता है। कब ? और उस समय क्या भादस है हमारा जिसके लिए रोय कर मुड करना, अहंकार करना, धर्म हो जाता है ?

और रोय—मुड—हिंसा—क्या हिंसा करना उचित है ? यदि विद्याभूषण का ठर्क

ठीक है, तो हिंसा उचित है और धर्म भी हो सकती है। पर....वह विश्वास करता है, करना चाहता है, कि हिंसा से मानव को घृणा है, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति-जन्य अनिच्छा है हिंसा करने में....और वह समझता है कि कोई भी मौलिक प्रवृत्ति गलत नहीं हो सकती—अगर हमारा आचारशास्त्र उसका समर्थन नहीं करता तो वही गलत है—प्रकृति नहीं; प्रकृति की आधारभूत एक प्राकृतिक नीतिमयता में उसका अखण्ड विश्वास है। क्यों है, क्या प्रमाण है उसके पास, इसका जब वह कोई उत्तर नहीं दे पाएगा, तो यही देगा कि उसमें विश्वास करने की मौलिक इच्छा होना ही उसका प्रमाण है। मनुष्य क्यों चाहे उसमें विश्वास करना? क्योंकि अपने गूढ़ातिगूढ़ अन्तरतम में वह नीतिवादी है। वह सृष्टि को नीति की कसौटी पर खरा मानना चाहता है। और अगर मानव-प्रकृति में नीति मूल तत्व है, तो प्रकृति में भी आधारभूत कैसे नहीं है?

प्रकृति नैतिक है। तब क्या हिंसा भी नैतिक है? सदा नहीं, तो कभी, किसी परिस्थिति-विशेष में वह नैतिक हो सकती है? क्या कभी हत्या उचित हो सकती है?

और फिर व्यावहारिक प्रश्न यह कि क्या उससे कभी लाभ हो सकता है?

आह देवि जिज्ञासा—इतनी दुनिवार कि वह दानवी दीखती है!

सिद्धान्त के प्रश्न से व्यवहार का प्रश्न सदा छोटा होता है, और इसीलिए अधिक तात्कालिक; हिंसा की व्यावहारिकता भी शेखर के लिए वैसी ही थी।

उसने विद्याभूषण से पूछा, “क्या हिंसा कभी उचित हो सकती है? क्या उससे कोई लाभ हो सकता है?”

विद्याभूषण ने मुस्कराकर कहा, “तो तुम सोचते रहे हो?”

शेखर ने खीझकर कहा, “सोचूं न?”

विद्याभूषण हँसा। फिर गम्भीर होकर बोला, “तो सुनो। कई बार हिंसा इतनी नितान्त आवश्यक होती है कि उचित हो जाती है।—या यों कह लो कि इतनी अधिक उचित होती है कि आवश्यक हो जाती है। वास्तव में वह तब हिंसा रहती नहीं। नासूर होता है, तो उसका इलाज यही है कि नश्टर लगा दिया जाए। उससे दर्द होता है तो क्या वह हिंसा है? वह हिंसा इसलिए नहीं है कि रोगी के भले के लिए है, चिकित्सक का स्वार्थ उसमें नहीं है। और लाइलाज रोग का रोगी अगर दर्द से तड़प रहा हो, तो उसे मारक मुक्ति देने में भी हिंसा नहीं है, यद्यपि उसकी जान ले ली गई होगी। यहाँ फिर हिंसा एक सामाजिक कर्तव्य के रूप में आती है। रहा उपयोगिता का प्रश्न—सो मैंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें उसकी उपयोगिता ही उसका प्रमाण है—हाँ, यह ध्यान रखना कि व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, सामाजिक उपयोगिता ही उसका प्रमाण हो सकती है।”

“तुम्हें यह भेद करते देखकर सन्देह होता है। क्या सचमुच सामाजिक होने से हिंसा क्षम्य हो जाती है? एक समाज दूसरे समाज पर अत्याचार कर सकता है—?”

“मेरी बात को गलत मत समझो। सामाजिक से मेरा मतलब किसी एक समाज

का नहीं है। मेरा मतलब उस सारे संगठन से है, जिसका एक अंग हम—मानव मान है। इस दृष्टि से जहाँ हत्या प्रहिंसा हो सकती है, वहाँ रह चलते, गैह्र की एक ढाल तोड़कर फेंक देना हिंसा होगी, क्योंकि वह कर्म उस विश्व-समाज का कोई हिस्सा नहीं करता, उल्टे धोड़े-से हित की सम्भावना को नष्ट कर देता है।”

शेखर ने धीरे भी सन्दिग्ध स्वर से कहा, “अच्छा, उसे जाने दो। जहाँ से बात शुरू हुई थी, वही लौटें। मुझे जो उस सी० आई० डी० जाने को मारा, उससे क्या लाभ हुआ या हो सकता है?”

“एक तो मैंने बताया—अपने आत्मसम्मान की रक्षा जरूरी थी, और उसे पीटें बिना वह असम्भव था। अगर तुम इसे बहुत काल्पनिक लाभ समझते हो, तो दूसरा यह कि इससे और सी० आई० डी० वालों को सबक मिलेगा कि किसी का अपमान करना हँसी-खेल नहीं है।”

शेखर ने मुस्कराकर कहा, “यही सबक तो यह तुम्हें सिखाने जाता है।”

“हाँ, पर ऐसा सबक हर एक सी० आई० डी० वाला हमेशा हर एक को नहीं सिखा सकता। एक मुकदमा करने में सरकार के कई हजार रुपये लगते हैं। अगर सी ऐसी घटनाएँ हो जाएँ, तो सरकार को कुछ दूसरा इलाज सोचना पड़ेगा।”

“दूसरे मामलों में तुम यह चाहते हो कि सरकार के दिल में डर बँटा दिया जाए कि ऐसे लोग सम्मान के पात्र हैं। अगर मैं चलती नहीं करता—मेरा इयर का ज्ञान कम है—तो यह उन लोगों की दलील है, जो आतंकवादी कहनाते हैं।”

“जै—हाँ। और इतना अन्याय किसी के साथ नहीं होता जितना उनके। सबसे पहले तो उन्हें आतंकवादी कहना ही अन्याय है, यद्यपि आतंक वो वे करने कार्यक्रम से बाहर नहीं निकालते। आजकल के जमाने में जिस आदमी का राजनैतिक दर्शन आतंकवाद तक जाकर समाप्त हो जाता है, वह मानसिक विकास की दृष्टि से साठ मान का बच्चा है। चाक बात यह है कि उसमें इतना नैतिक बन ही नहीं हो सकता, जितना कई आतंकवादी कहलानेवालों में सब लोग मानते हैं।”

“तुम तो ऐसे सफ़ाई दे रहे हो, जैसे स्वयं आतंकवादी होओ!” विद्याभूषण की चिर हिंसाता देखाकर शेखर फिर बोला, “पर मुझे यह दीखता है, यह सब चलन है। हिंसा से कमी कुछ नहीं हो सकता। वह नकारात्मक है। वह निरा संहार है, उससे मृत्तन नहीं हो सकता। यह नरतरवासी ही बात तो, रोग का इलाज तो चिकित्सा है, स्पर्श तो बही करती है। नरतर नग्न्य भीड़ है, स्वास्थ्य-साम तो बाद की महानो लम्बी शुद्धता से होता है। इसी तरह परिस्थितियों का गुपार स्वाभाविक विकास द्वारा हो होगा।”

“वो ही सही। नरतर नग्न्य ही सही, अप्रधान ही सही, पर अनिर्धार्य तो है न? समाज के लिए की गई हिंसा के बाद भी सामाजिक चिकित्सा होती है—पाहो तो मुख्य बीज उसी को समझ लो। उसने पहली आवश्यकता नहीं मिला जाती।”

शेखर को एक और बड़ा बोर भिन गया था—इसे काँती बनाने की जरूरत थी।

तसल्ली उसे नहीं हुई थी। उसे लगता था, तर्क में कहीं कुछ त्रुटि अवश्य है। आपदर्श—एक अनिवार्य बुराई—इस तरह की बातें उसने पहले सुनी थीं—विश्वामित्र की कुत्ते का मांस खाने की बात उसने बहुत पहले सुन रखी थी—पर उसे लगता था, यह आदर्श की कोई कमजोरी है, जिसे हम हेतुवाद द्वारा छिपा लेना चाहते हैं। हिंसा-कर्म को तात्क्षणिक भी मानना सब कुछ मान लेना है, हिंसा को स्वीकार कर लेना है। अगर हत्या द्वारा मानवता अपनी रक्षा कर भी लेती है, तो अन्ततः वह एक पाप-कर्म की आड़ में ही जीती है। प्रश्न सीधा है—हिंसा उचित है या नहीं है, या तो वह पूर्णतया अनुमोदित हो सकती है या पूर्णतया वर्जित। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में आगे का मार्ग नहीं दीखता....



शेखर के बड़े भाई ईश्वरदत्त के साथ शशि उससे मिलने आयी।

शेखर ने इच्छा की थी, पर आशा नहीं। वह नहीं जानता था कि आशा करने का कोई कारण हो सकता है। नहीं....शशि वहीं शहर में होती, तब तो आशा होती, पर दूर गाँव से, और अकेली....

पर वह आ गई। शेखर का अन्तर इतना भर उठा कि वह उससे बात भी न कर सका, और भेंट का समय समाप्त हो चला....वह ईश्वरदत्त से बात करते-करते बीच में क्षण भर स्थिर होकर उसकी ओर देख लेता, और फिर भाई से बात करने लगता....

जब विलकुल ही समय आ गया, तब अन्त में शशि ने पूछा, “शेखर, क्या तुम सचमुच शामिल थे?”

शेखर ने भेदक दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह जानना चाहता था कि उसके मन में क्या है—डर, चिन्ता, प्रशंसा—क्या....कुछ नहीं दीखा। उसने सरल गाम्भीर्य से कहा, “नहीं।”

शशि कुछ बोली नहीं। शेखर को लगा, मानो और कोई जिज्ञासा या माँग शशि को नहीं है : उसे विस्मय हुआ इसीलिए अपने भावों के तूफान से कुछ अलग होकर उसने पूछा, “क्यों, शशि ? तुम्हें तसल्ली हुई क्या ?”

“कैसी तसल्ली ?”

“कि मैं निर्दोष हूँ ?”

“ऊँ—हाँ, कुछ तो हुई ही—”

“क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो ?”

“तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने ही से मुझे सन्तोष हो जाता है, डर नहीं होता।”

कितना चाहता था शेखर यह पूछ उठना, “क्यों शशि, इतना विश्वास है तुम्हारा मुझमें....” पर भाई की उपस्थिति ने उसे साहस नहीं दिया। एकान्त में भी वह इतना

निजी प्रेरण उससे उस समय पूछ सकता, वह नहीं जानता, पर शशि ने मानो वह धन्यस्त जिगासा पड़ सो ; सभी तो चलते-चलते उसने शेखर की घोर स्मिर भाँखों से देखकर कहा, “बीर कभी अपराधी नहीं होते....” और बढ़ गई—शेखर ने उसकी भाँखों की वास्तवता से रोमांचित होकर मन-ही-मन उस प्रादिम बहन को प्रणाम किया, जिसने पहले पहल भाई के लिए ‘बीर’ शब्द का आविष्कार किया था....किंतु मनुष्य का जेल में वास्तव्य का !—प्रेम—प्रेम अन्ततः एक वासना है और वासना की तो क्रीडास्पत्ती ही है जेल ; पर वास्तव्य....



मुकदमा अरपन्त नीरस हो गया था । आज के बाद कल, कल के बाद परसों—निरप्य वही कहानी नए-नए गवाहों के मुख से नए-नए रूप में सुनना, एक ही समय को उलटाकर दिमाने के लिए वकीलों के दाँव-वेंच और कलावाजियाँ....एक दिन ऊब-ऊबकर ही अन्त में शेखर ने अपने लिए मनोरंजन की सामग्री पैदा कर ली थी—उसने वकील की दलीलों की विहम्बना लिखकर पहले अपने मित्रों को दिखाई थी और फिर निष्कांक्षे में शब्द करके हाकिम के प्रागे रस दी । उस समय मजिस्ट्रेट साहब वकील की बातें सुन रहे थे, उन्होंने सापरवाहो से पूछा था, “क्या है, दरआस्त ?” और सुनते रहे थे । पर दुपहर की छुट्टी के बाद जब इजलास फिर बैठा, तब उन्होंने एक तीव्र दृष्टि से शेखर की ओर देखा था, जिसमें थोड़ी-सी दया ली थी, थोड़ी-सा शोभ ; और उनके दबाकर प्रभावोत्पादक बनाए गए ओटों पर एक हल्की-सी मुस्कराहट खेन गई थी....शेखर निरवय से नहीं कह सका कि उनके मनोभाव वह ममक गया है, पर अपनी दलीलों याद करके वह भी मुस्करा दिया था. ...“जनाब, गवाह कहता है धमक चीब ऊपर थी, धमक नीचे, धमक दाईं ओर....लेकिन अगर हम मिर के बत सड़े होकर देखें—और स्पष्ट है कि वैसे देखे बिना क्या ही रता नहीं हो सकेगी—तब जो ऊपर बताया गया, वह वास्तव में नीचे होगा, और जो दाएँ बताया गया है, वह निर्विवाद रूप में बाईं ओर....ऐसा विद्वत् और भूठा ध्यान देनेवाला गवाह बिगड़ा हुआ ही हो सकता है ; आपसे निवेदन है कि उसके ध्यान को महारत न दिया जाए और हमें अनुमति दी जाए कि हमें जिद्द कर सकें....”

लेकिन इस तरह की बात निरप्य नहीं हो सकती थी, और अदालत में बैठे-बैठे प्रायः शेखर पाना कि उसका ध्यान शशि की ओर चला गया है । वह उसके कहे हुए एक-एक शब्द को याद किया करता और मानो मन का प्रकाश उन पर केन्द्रित करके उनका चित्र लिपि करता ; फिर विस्मय से सोचा करता कि क्यों यह सड़की उसके भीतर इतना महत्व पाती जा रही है....वह उसकी बहन लगती थी धरम, पर शेखर को बड़ी बहन सरस्वती की तरह यह क्यों नहीं थी ? सरस्वती की भी शेखर पर बड़ा स्नेह रहा था—धर भी था, यद्यपि धर जादो हो जाने के बाद दो-तीन बच्चों को भी थी ।

वाद वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु हो गई थी—और सरस्वती से भी शेखर ने बराबर का सहज विश्वासी बन्धुत्व पाया था, पर....वह नहीं जानता कि वह उस भेद को कैसे कहे, और जब कह नहीं सकता तो कैसे अपने को समझाए....शशि को जैसे वह उस सहज स्वीकृति में नहीं ला सकता था, जिसमें सरस्वती को उसने पाया था—सरस्वती तो 'थी' ही। शेखर ने होश सँभालने के समय से ही उसको अपने आसपास देखा था—पर शशि मानो उसकी अपनी स्नेह का परिणाम थी, असंख्य प्राणियों के उस उलभे संसार में से उसने उस एक को खोज निकाला था, अपने स्नेह के दायरे में बिठाने के लिए; वह बहिन, यानी अपनी होकर भी नहीं, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्धि थी....जैसे उसे अपनाते के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था....नहीं, यह बात नहीं थी—वह नहीं समझ सकता था कि क्या बात थी....

शशि फिर मिलने आयी थी। इस बार शेखर ने अपने में बात करने का साहस पाया था, और उसे जेल की कई एक बातें सुनाई थीं। वह चुपचाप सुनती गई थी, उसकी विस्फारित आँखें शेखर पर टिकी थीं....बहुत देर बाद शेखर ने एकाएक जाना कि आँखें वहीं स्थिर होने पर भी मन उनके पीछे नहीं है; जैसे शशि उसकी अर्थहीन बातें सुनती हुई उसे कुछ कह रही है।

“क्यों—कुछ कहना है?”

शशि चौकी नहीं, मुस्करा दी।

“जिन लोगों ने उस सी० आई० डी० वाले को मारा था, उन्हें तुम जानते हो?”

“हाँ, क्यों?”

“सब पकड़े गए?”

“नहीं, अधिकांश बाहर हैं।”

“अच्छा? और तुम्हारे अलावा बाकी सब थे?”

“हाँ, थे ही, यद्यपि—पर खैर वे कानूनी बातें हैं।”

“तो, तुम पकड़े कैसे गए?”

शेखर ने संक्षेप में बता दिया कि घटनास्थल पर झूटी दे रहे होने के कारण वह फँसा लिया गया है।

“तुम झूटी देते थे—क्यों?”

शेखर ने परिस्थिति समझा दी।

शशि कुछ देर तक चुप रही। फिर बोली, “तुम सन्तुष्ट हो?”

शेखर ने उससे आँख मिलाकर कहा, “मैं खुशी हूँ। कालेज आते समय तुमने जो बात कही थी, वह मैं भुला नहीं सका।”

शशि ने कुछ विस्मय से कहा, “मैंने? क्या कहा था—मुझे तो याद नहीं।”

“अच्छा है। श्रेष्ठ दान दे, तो भूल ही जाना चाहिए। शशि—”

शशि की आँखों में जो प्रश्न था, वह धीरे-धीरे मिट गया। उसकी मुद्रा देखकर

शेखर को भी न जाने कैसा लगा—जैसे दूर के भाई-बहन होकर भी एक ही घमनी का रक्त दोनों ने प्रवाहित हो रहा है, और उस सम्पूर्ण ज्ञानिय में कयोपक्रम को स्थान नहीं है.... क्या ऐसा ही भाव शशि के मन में था ? वह कैसे जाने ?

शशि जाने क्यों तो उसने पूछा, "पर तुमने बताया नहीं—"

"क्या ?"

"तुम कुछ बताया चाह रही थी न—मुझे दोग क्या ।"

शशि की मुस्कुराहट में बेदना थी । उसने रकते-रकते कहा, "हाँ, चाहती थी । पर कह नहीं सकती—यहाँ नहीं । और तिल भी नहीं सबती—मैं यहाँ चाहती कि ऐसी बेहूदा चिट्ठी लिखूँ, जो जेलवालों को पढ़ने दी जा सके ।"

"मैंने भी एक लिखकर फाड़ डाली थी । तब ?"

"देखो—" कहकर वह खती गई । यदि वह जानती कि जेल में किसी का मन उल्लासकर उगे धनुष्ट छोड़ जाना क्या होता है, तो..

७

उस रात शेखर न वह किया, जो जेल के अन्य बंदियों को करते सुनकर वह मर्म-साहट से दाँत पीसकर रह जाता था—बन्द होने के कुछ समय बाद जब गिनती हो चुकी और छाने ठोंके-बजाए जा चुके और "गब—गब्बा—गब-गब" की पुकार उस 'सब-भुराई' के शोरव को विह्वलना कर चुकी और कुछ शान्ति हुई, तब उसने दोनों हाथों से कोठरी के द्वार के दा बाँगचे पकड़े और अपने तन के सम्मुख जोर से उन भक्तभोरने लगा . उसका शरीर झनझना उठा, दाँन जैसे रेत की रहस्य में बिचरिचा उठे; ताला, लोखणे, बाँगट गब मरक लठ और महानुभूति में बाहर प्रांगण के पार का लोहे के पत्तर का किनारा भी कूट फँककर-भाँ कर उठा ...उसके तने हुए शरीर के हिलाने से उसकी ऐन्द्रिक धनुभूति ने माना पृथ्वी के ही कम्पन का रूप से लिया, वह प्रसन्न वर्ण कोलाहल माना किसी सहायक शक्ति के ताण्डव-ना गँज उठा....वह उगे सह नहीं सबता था—सह नहीं सबता था इसलिए और भी जोर में फाटक को झट-भोरता था... मैं इस दग्धन को तोड़ना चाहता हूँ, मुक्त होना चाहता हूँ, क्योंकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है, मुझ में अधिक आवश्यक, शान्ति से अधिक आवश्यक, जीवन से अधिक आवश्यक, मेरे बल में, पुराण में भी अधिक आवश्यक . विषय, विषय, विषय, मुझे प्रीति....स्पर्श, स्पर्श, उद्भान्त सहकार....

उसकी विषय उद्भान्ति ने ही धन में सम्पत्ति दी—पसीने से तर, पतन में लड़काटा, दूसरे बंदियों की अवमानना के निरुपजा में डूबा हुआ वह गहरों पर जा गिरा और निरानन्द, निरप्य भाँगे से सत्र की धोर देगा किया....

उगे हुए कहना है, मैं जानता चाहता हूँ, मैं जानता चाहता हूँ, मैं....

एक-एक वह लड़खर छोड़ा हो गया, एक क्षण-भी उसके तन को हिल

घण्टे बाद खजूर की चटाई के नीचे से ताज़े कीचड़ की बू ने ही उसे बताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है....



एक निर्वुद्धि कुहासा शेखर के मन पर छा गया—जड़ मनहूसियत का एक पर्दा-सा। उस रात उस तरह रोने के बाद से ही जो घनीभूत कुछ उसे दबाए जा रहा था, उसे किसी तरह भी वह उतारकर न फेंका सका।

धीरे-धीरे एक डर-सा उसे लगने लगा—क्या मैं हार रहा हूँ ? क्या जेल का जीवन मुझे तोड़ रहा है ? क्या मैं कायर हूँ ?...जैसे किसी भीतरी घाव में कंकड़ चुभे, ऐसे ही यह संशय उसके भीतर चुभता था....नहीं तो मैं क्यों ऐसे बेवस होकर रोया ? जो समर्थ हूँ, जो वीर हूँ, वे क्या रोते हैं ? ऐसे कोठरी में अकेले बन्द पड़कर भेड़ की तरह भिमियाते हैं ?

उसने कहीं पढ़ा था, जो रो नहीं सकता, वह अवश्य विश्वासघात करता है, रो सकना अपने प्रति—अपने हृदय के प्रति—सच्चे रहने का लक्षण है....शायद वह ठीक है....पर यह—यह और चीज है; यह तो निरी निपट निर्वल बेवसी है....

किन्तु रोने के बाद उसे क्यों लगा था कि वह हल्का है, साफ़ है, और, हाँ समर्थ भी है....हारने में तो ऐसा नहीं होता; हार में तो प्रत्येक बार आदमी अपने को कुछ अधिक निर्वल, कुछ पतित अनुभव करता है....क्या वह पतित हो गया है—हो रहा है ?

उसका आहत व्यक्तित्व इस प्रश्न पर विद्रोह से चीत्कार उठा; पर निर्दय परीक्षक की तरह वह पूछता ही जाता, क्यों, अगर झूठ है तो तुम्हें चुभता क्यों है ? वोलो, बताओ, क्या तुम अपराधी हो, पतित हो ?

अगर उसे ज़रा भी सन्देह होता कि जेलवालों ने उसका यह रूप देखकर उसे 'पराजित' समझकर ही कुछ अधिक स्वाधीनता दी है, तो वह उसे लेने से इनकार कर देता। अब उसे कहकर तो कुछ नहीं दिया गया था, किन्तु टहलते समय वह अपनी कोठरियों की कतार से आगे बढ़कर दूसरी कतार—'भारतवर्ष'—तक चला जाता तो वार्डर उसे रोकता नहीं था और प्रायः कैदियों से बात भी कर लेने देता था।

ऐसे ही एक दिन शेखर एक कोठरी के बाहर के आँगन में घुसा, तो वार्डर ने कहा, "बाबूजी, दारोगा साहब हमारी जान को माँ जाएँगे—" पर उसके स्वर से ही शेखर ने जान लिया कि दारोगा की ओर से कोई मनाही नहीं है, वार्डर स्वयं ही उसे उस विशेष कोठरी में जाने से रोकना चाहता है। वह कैदी अवश्य ही कोई खास आदमी होगा। वह वार्डर की उपेक्षा करके भीतर घुस गया।

"भाप शायद कुछ ही दिन से यहाँ हैं ?"

प्रश्न की आत्मीयता और उसकी ध्वनि की सहज प्रसन्नता से शेखर ने चौंककर देखा। सीखियों से सटा हुआ एक वृद्ध चेहरा, ऊपर शुभ्र जटा और नीचे धवल दाढ़ी से

भावृत एक निर्मल मुस्कान से उसका स्वागत कर रहा था। मानो हिमशृङ्ग पर पूष तिल भाई हो....

शेखर ने विस्मय से कहा, "भापने कैसे जाना?"

"भापके चेहरे पर दीसता है। नया चेहरा हमेशा प्ररनों से भरा हुआ होता है—वह जानना चाहता है। पुराने पापी तो ठाक में रहते हैं कि कोई गुननेवाला मिले। जीवन समाप्त होने पर एक ही बात तो बची रहती है—उसकी कहानी।"

शेखर ने नए विस्मय से भरकर पूछा—"भाप कौन हैं?" इस व्यक्ति के घागे शिष्टाचार मानो स्वयं भर जाता था—भरन या तो सीधा-सीधा पूछा जा सकता था, या मही-ही पूछा जा सकता था।

"मेरा नाम मदनसिंह है। सन् '१६ में पकड़ा गया था। तब से जेल में हूँ।"

इकतीस वर्ष जेल में रहकर यह आदमी ऐसे हँस सकता है? शेखर को लगा कि वह कुछ छोटा हो गया है, या उसके सामने वाला व्यक्ति कुछ ऊँचा उठ गया है।

"मैं तो अभी आया हूँ, यह भापने जान ही लिया। कालेज में पढ़ता था, वहाँ से यहाँ पहुँच गया।"

"कौन-सी श्रेणी में?"

"एम. ए. में। पिछले साल बी. ए. पास किया था।"

"भायवान् है भाप। मैं तो बिल्कुल अनपढ़ था जब आ गया—यहीं मैंने पढ़ना-लिखना सीखा, और यही रो-रोकर उन बड़ी बातों को जानने की कोशिश की है, जिनके बिना कोई जी नहीं सकता। और भाप—भाप बिना लेकर आए हैं। भापके सामने भारी दुर्ग हैं, लेकिन, उसकी खात्री भापके पास है।"

शेखर कुछ सोचता हुआ-सा बोला, "पता नहीं—मैं तो अपने को बहुत छोटा अनुभव करता हूँ।"

"है भी मनुष्य कितना छोटा! पर भाप मेरी बात मानें न मानें, है वह ठीक। मैंने अपने लिए खात्री स्वयं अपने कष्ट से बनाई थी। भापने सुना है न गरीब की खाँग वह चौकनी होती है, जो सोहा गला दे? उसी से मैंने काम लिया...." एक मयूर हँसी फिर कोठरी में गूँज गई।

शेखर के मुख पर स्पष्ट अविरवास का भाव दीप्त गया। कोशिश करने पर भी वह उसे नहीं दिया सका।

"हाँ, मैं समझ रहा हूँ—भाप सोच रहे हैं, यह आदमी बन रहा है। लेकिन छप-मानिए, जहाँ मेरी बुद्धि रह गई, वहाँ चाँगुपों के जोर से, हाँ, चाँगुपों के जोर से मैं जिया—" एकाएक कोठरी के भीतर की ओर घूमकर उन्होंने कहा, "बह देखिए, मेरे पास खूब भो है। यह भाप पढ़ सकते हैं?"

सामने की दीवार पर जहाँ मदनसिंह ने उँगली रखी थी, कुछ बट्टियाँ मे शेखर ने लिखा हुआ वाक्य पढ़ा—'दासता क्या है? अद्रिज तथ्य का ज्ञान नहीं, अभाव का ज्ञान

भी नहीं; दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ होना; वह बन्धन, वह मनाही, जिसके कारण हमारा ज्ञान नांगने का अधिकार छिन जाता है।'

"और यह देखिए।"

शेखर ने परिश्रम से पढ़ा—'हमारी सम्यता मानव की शैशवावस्था को बढ़ाने का अनन्त प्रयास है। वह चाहती है सुरक्षा, पुरुषत्व माँगता है साहस !'

"और इधर ओंधेरे में है; आप कहें तो सुना सकता हूँ। पर आप शायद अब जाएँगे। खैर, काम की बात यह कि इनमें एक-एक नुस्खा पाने के लिए मैं घण्टों रोया हूँ। मुझे दीखता है कि शान्त बैठ रहना तपस्या नहीं है, शान्त न बैठ सकने से ही तपस्या शुरू होती है।" एकाएक उनका चेहरा फिर खिल गया। "देखिए,—विद्यावान् के निकट आने से ही मैंने बिना रोए यह बड़ी बात जान ली।"

शेखर भँपा-सा चुप रह गया। मदनसिंह कहते गए "ऐसे सौ-एक सूत्र लिखे पड़े हैं। यह तीन साल का काम है—तब कोठरी में सफ़ेदी हुई थी। उससे पहले, के मिट गए—एक आध शायद दीख सके—" वे एक कोने की ओर झुके, "हाँ, यह देखिए, 'क्रान्ति' का प्रमाण यह है कि उसके लिए चारित्र्य आवश्यक है।"

सीधे होकर उन्होंने शेखर की ओर देखा, वह कुछ कहने को उतावला हो रहा था। "आप कहेंगे कि यह सब मैं किताबों में पढ़ चुका हूँ? आपके पास विद्या की चाभी थी—मैं तो अभी सीख रहा हूँ।"

शिष्टाचार इस आदमी के आस-पास कहीं नहीं फटका था—उसकी विनम्रता भीतर के किसी झरने से फूटी पड़ती थी। अपने को ओर भी तुच्छ अनुभव करते हुए शेखर ने कहा, "आपको तीन साल इसी कोठरी में हो गए?"

"तीन? मैं तो नौ साल से इसमें हूँ। लेकिन आपने उस पठान की कहानी सुनी है न, जो जेल में तीस साल काटकर अपनी आयु श्रद्धाईस बताता था।" शेखर का सिर हिलता देखकर—"जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, 'खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?' बोला 'श्रद्धाईस'। पूछनेवाले ने फिर कहा 'जेल में कितनी देर रहे?' तो जवाब दिया 'पता नहीं।' जेल गए तब कितनी थी?' बोला, 'श्रद्धाईस।' पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, 'जेल क्यों जोड़ते हो? उन दिनों तो कुछ हुआ ही नहीं, तो उम्र कैसे घीत गई?' वही हाल मेरा है। पर बाल तो पक ही जाते हैं—" एक हल्की-सी उदासी उनकी आँखों में दीढ़ गई।

शेखर के भीतर तीव्र कामना जागी कि वह इस धवल-जूट शिशु को हाथ जोड़कर अभिवादन करे....किन्तु किसी मिथ्या अहंकार ने कहा—'नहीं, यह नहीं करना होगा—' उसने सोचा, विदा लेकर चले।

"आप ऊब तो नहीं गए—फिर आएँगे न? मैंने कहा था खूबसूरत बुढ़े सुनाना ही चाहते हैं, कोई मिल जाए सही सुननेवाला!" मदनसिंह फिर मुस्करा दिए।

शेखर का आन्तरिक तनाव मानो दूर हो गया। उसने हँसकर कहा—"और मैं तो

जिमासु है ही !” फिर एकाएक गम्भीर स्वर में उसने कहा, “भापकी बातों से धमो ही कई प्रश्नों का उत्तर मुझे मिल गया, जिन्हें पूछने का साहस मुझमें नहीं था। मानसु होता है कि धहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीसनी ही पड़ती है।”

“सुन धोलने का रोग भापकी भी लगा क्या ? जेत में बातचीत ही मस्वाभाविक हो जाती है।”

झांगन के फाटक तक पहुँचकर एकाएक शेखर ने अपना सारा साहस बटोरकर सौट-कर कहा, “पिछले हफ्ते में भी खूब रोया था—” और तब एकाएक कृदशता और सज्जा से भरकर जल्दी-जल्दी अपनी कोठरों की ओर बढ़ गया....

७

फिर एक दिन धूमता हुआ वह ‘भारतवर्ष’ वाली बतार की परसी सीमा तक धला गया था। बाहिरी चार कोठरियों में शामद फाँसी के कँदी थे—उनके झांगनवाले पत्तर के फाटक बन्द थे और भीतर सन्तरी बन्दूक लिये पहरा दे रहा था। शेखर सौट पड़ा।

कुछ-एक कोठरियाँ सोपकर वह सोप ही रहा था कि किसी कँदी से बात करे, कि एकाएक पुकार आई, “ओ मौलवी !”

शेखर कल्पना नहीं कर सकता था कि यह पुकार उसके लिए था, पर उसके साथ ‘का वार्डर’ सिरा था, और पुकार फिर आई, “बात तो सुन जा, ओ मौलवी !”

शेखर ने झांगन में खड़े होकर पूछा, “मुझे पुकार रहे थे क्या ?”

“हाँ, और किसे। मौलवी तो बने हुए हो, कितने दिन से हजामत नहीं बनाई है। चस्तरा नहीं है क्या ?”

“हैं तो, पर यहाँ कौन देखता है, यो ही नहीं बनाई।”

“धरे भले आदमी, कोई नहीं देखता तो क्या अपने भी नहीं चुमती ? और खुद तो बाहर जाने लायक बने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोड़े न छोड़े, बला से !” वह अपने बड़े-बड़े पर गुपड़ और उज्ज्वल दाँत निकालकर हँस पड़ा।

शेखर तब नहीं कर सका कि इस सहज परिचय का सामना किस तरह करे। अगर यह आत्मविश्वास से उत्पन्न हुआ है, तब तो इसका सम्मान करना चाहिए, अगर झोठो-पन से तो—

“न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तम्मार रहना अच्छा लगता है।”

शेखर ने हँसकर कहा, “अच्छा, कल सा दूँगा।”

“तुम उन्हीं नए पोलिटिकों में से हो न, जो सी० धाई० डो० बागे को पी०ने के उर्म में धाए हैं ?”

“हाँ।”

“टोकर ! अच्छा, मैं तुम्हें मौलवी कहा करूँ न ?”

४

“महारी मर्जी है।”
मोलवी होते तो मक्कार हैं, पर मेरा मोलवी हिन्दू होगा तो निम जाएगी।”

खर चुप रहा।

“श्रीर मुनो, मुझे यहाँ अकेला-अकेला लगता है। शाम को अच्छा नहीं लगता। तुम

“परली कतार में—बारहवीं में।”

“अरे इतनी दूर! खैर। मैं शाम को तुम्हें गाना सुनाया कहूँगा। गाना बुरा तो

ही लगता?”

“गाना हो, तब तो बुरा नहीं लगता।”

बढ़ ठठाकर हुआ। “यह तो तुम जानना कि गाना है या नहीं, मैं तो गा दूँगा।

अच्छा, अब जाओ।”

शेखर चलने लगा।

“मेरा नाम है मोहसिन—मुहम्मद मोहसिन। पर तुम मुझे क्या पुकारोगे?”

शेखर ने शरारत से कहा, “पंडित।”

“बाह-बा। ठीक है। तब मैं हजामत करके तिलक भी लगाया कहूँगा।”

लोडते हुए शेखर को वार्डर ने बताया कि यह लड़का मोहसिन अजब लफंगा है—

हर किसी को तुम करके बुलाता है—दादोगा और साहब को भी—श्रीर हर वक्त ठट्ठा

करता रहता है। लाचारित है, बाप-माँ, भाई-बन्द कोई नहीं है, तभी ऐसा उलंग हो

गया है। एक मोलवी ने पाल रखा था और पढ़ाया था, पर पीछे स्कूल में बिगड़ गया,

श्रीर बसावत फैलाने के जुर्म में एक साल की सजा पाकर आया है। पाँच महीने काटे

हैं। हरदम, हरवक्त शरारत ही उमे गूँथती है, श्रीर बराबर सजाएँ पाता रहता है—

आजकल भी रात को हथकड़ी लगती है।

“रात को हथकड़ी?”

वार्डर ने बताया कि जेल के दण्ड-विधान में यह भी एक सजा है। शाम को बन्द

करते समय कैदी के हथकड़ी लगा दी जाती है, सबेरे खोली जाती है जब मशकत व

वक्त होता है। बदमाश हो तो उलटी भी लगाते हैं—पीठ के पीछे। तब रात भर श्रीर

पड़े रहना पड़ता है। “पर, बाबूजी, यह लड़का अजीब बेशरम है कि पिछले पन्द्रह

से उलटी हथकड़ी भी लग रही है, पर शरारत से बाज नहीं आता।”

“क्या करता है?”

“एक तो मशकत नहीं करता। कहता है, मैंने बसावत फैलाई, तुमने जेल

दिया। अब मशकत क्यों करूँ? तुम मेरे लिए चक्की पीसो, तब मैं भी चक्की

लिए पीस लूँगा। दूसरे जो मशकत दें, फेंक देता है। चक्की पीसने को दो

राब कबूतरों को चुगा दी। पूछने पर बोला, कबूतर मेरे भाई हैं, मुझे खुश

साहब न बोझी डलवा दी तो बेदियों से चक्की उगाड़ डाली, इंटों से एक बड़

बनाकर उसमें मिट्टी भर दी और पाना डाल दिया। फिर पेती हुई तो कहने लगा कि सेती बरंगी—उसमें सबको बोई है। सड़का बरा है, सैतान की धोलाई है।”

शेखर का कोनूहल जाग गया था। उसने मोहसिन से फिर मिलने की ठानी, और कोठरी में चला गया।

शाम को वह बैठा न जाने क्या सोच रहा था कि दूर कहीं कोठरी का ‘जंगला’ रङ्गकने की धावाउ उसने सुनी। उसका शरीर तन गया—उसे वह धक्का याद आई जब उगने भी सीराचे पकड़कर झुकभोरे थे....उसका हृदय समवेदना से भर आया—इस समय कोई वैसी ही धक्का में से बीज रहा है, जिसमें से वह निकला था....वह जान दकर मुनने लगा। एकाएक वह कोलाहल बन्द हो गया, और शेखर ने सुना, जैसे कोई पुकार रहा है—

यश उसने ठीक सुना था? पुकार फिर आई—हो, मोहसिन पुकार रहा था—उसने भी दोनों फेंकड़े बाधु से भरकर, झुंह उठाकर, स्वर को घना करने के लिए हाथों की धाड़ देकर वषट्पन में सुना हुई। किसानों की पुकार की नकल करत हुए पुकारा—

“मोहसिन हो—मोहसिन!”

दस बार मोहसिन ने सुना। “गाना सुनाई?”

“हो, सुनाया।”

“क्या करते थे?”

“बैठा था।”

“क्या सुना।”

शेखर ने कहना में ही सट्टाइन कोठारियों की दूरी वाली और वहाँ प्यान बेन्द्रित किया। कहते हैं कि इन्द्रिमी अपना काम धन्य-धन्य करती हैं, शेर में जैसे पाँचो-सट्टों इन्द्रिमी का पनाभूत घटन-वर्तन से मोहसिन का गाना सुना—

“..... धाया तो क्या
.....”

मोहसिन का गाना अच्छा था। स्वर में तीव्रता भी थी और धन्य भा। इतना अधिक बलवान् में उसमें कभी-कभी बरंगला था जानी थी—वह पट-सा जाता था—पर फिर भी उसका स्वाभाविक तरंगित कम्पन था। मे भी एक गिरहल पैदा करता था—जंग उठाने बुझान सहो हुई यातना का धक्—धक्—’स्पन्दन गूँब रहा था.

“मिट गई जब सब उम्मीदें मिट गए सारे खयाल—

उल पड़ी फिर नामावर मकर पश्याम आया ठा क्या”

गोठ बन्द हो गया। शेखर का तनाव कुछ बीता हुआ—

“हो गाना?”

“हो, उदा अच्छा है।”

“हो, अच्छा है।”

थक नहीं गए ?”

‘गाने नहीं थकता मैं !’

“अच्छा, सुनाओ ।”

मोहसिन फिर गाने लगा । किन्तु दो-तीन कड़ियाँ गा लेने के बाद उसका स्वर कुछ पड़ने लगा, और क्रमशः उसे सुनना असम्भव हो गया । शेखर ने नहीं चाहा कि सूचित करे—वह उस पागल साहसिक के प्रति झुंफलाहट, प्रशंसा और कृतज्ञता से र रहा था....

दस-एक मिनट के बाद फिर पुकार आई, “मौलवी ओ-ए !”

“पण्डित हो !”

“अब सो जाओ ! कल और सुनाऊँगा ।”

“अच्छा ।”

नीरवता । शेखर को याद आया, अभी अभियुक्त होने के कारण उसके पास लालटेन है, वह पढ़ता रहेगा, फिर सो जाएगा । पर मोहसिन कैदी है, उसके पास प्रकाश नहीं है, है घनी रात । शेखर ने बत्ती नीची कर दी, उठकर कोठरी के द्वार पर जाकर जंगले पकड़कर बाहर अँधेरे आकाश की ओर देखता खड़ा रहा ।

ऊपर बादल घिरे थे, अकाल मेघ—अर्थहीन और वेदंगे....

जेल में इस समय चौदह सौ बन्दो होंगे—और कम से कम सात सौ के पास प्रकाश नहीं होगा, और नींद का विस्मृति-जनक ग्रन्थकार भी नहीं होगा....

नीरवता—सन्तरियों की पदचाप से, नम्वरदारों की ‘सब अच्छा !’ से और दूर कहीं उल्लुओं के ‘हू-हू’ कराहने से कर्कश नीरवता—शेखर अनभिज्ञ आँखों से अदृश्य काले आकाश को देखा किया....

टप्—टप्—वैशाख की पहली बूँदें....एकाएक शिथिल होकर शेखर जाकर लेट गया, और लालटेन के बहुत छोटे-से अघनीले प्रकाश को, और उसके कारण छत पर बने हुए अँधेरे वृत्त को, देखता रहा....

बन्धन....

○

शेखर को एक पत्र मिला ।

उसके पत्र पढ़े जाकर और कट-छँटकर भेजे जाया करें, यह उसे असह्य था, अतः उसने पत्र लिखना ही छोड़ दिया था । बाहर से भी पत्र बहुत कम आते थे, आते तो ऐसे जिनका उत्तर देना आवश्यक न होता । पर एक दिन वकील ने उसे कुछ कागज दिए और कहा, “इन्हें संभालकर ले जाइएगा, आपके मुकदमे के आवश्यक कागज हैं ।” पर—अमा करें, जेल जाकर ध्यान से पढ़िएगा ।” और शेखर ने रख लिए; जब आकर वह बन्द हो चुका और रात घनी हो गई, तब उसने उन्हें निकालकर पढ़ना

किया। बागजों पर केवल मुकदमे का टाइन पर धनी हुई कारवाई का विवरण था, जिस पर वही-वही पेंसिल से कुछ नोट लिखे हुए थे; पर बीच में एक मुई से नर्त्या किए हुए कुछ पन्ने थे, जिन्हें देखकर शेखर चौंक पड़ा—शशि का पेंसिल से बहुत बारीक लिखा हुआ पत्र था....

शायद मर तक शेखर सब कुछ भूलकर बेवस रह गया—उसका हृदय इतनी जोर से उछल पड़ा था कि मानो धन डूब हो जाएगा.... फिर वह भूखी घाँसों से पत्र निगलने लगा....

शशि का विवाह हो रहा था। घर का चुनाव हो गया था; भाषा में निधि भी नियत हो गई थी। और शशि नहीं चाहती थी विवाह—अभी कुछ वर्ष वह उसका विचार भी नहीं करना चाहती थी।

अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती-बाठचीठ को स्पर्शित कराने में; पर वह जेल में है, और—और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पता ले। मैं है पर वे समझते हैं, समाज के विरुद्ध वे क्या करेंगी? अधिक से अधिक वह कि भाषा से अगहन तक स्पर्शित कर देंगी, पर उससे क्या? वचन-बद्ध हो होंगी, तो कुछ नहीं कर सकेंगी....

एक धुन्ध-सी में शेखर को ध्यान आया कि पत्र रचना नहीं है, मन्त्रवत् उसने दुबारा उसे पढ़कर मानों मन में बिठा लिया, परिधन से उसके छोटे-छोटे टुकड़े किए, चकरी के एक ओर गेहूँ रगने के घाले में पानी भरकर उसमें उन टुकड़ों को मसमकर लिसल मिटाई और फिर गोली-जे बनाकर बाहर फेंक दिया; सब वह पैर पटककर उठ गया हुआ, बोडरी में चक्कर काटने लगा और सोचने लगा ...

वह क्या करे? कैसे शशि की सहायता करे? वह मन्त्रमुक्त नहीं चाहती विवाह; उसने स्वयं पत्र में लिखा है कि धाम तीर पर लड़कियों को जो दर और धानप्या होता है, उससे शशि की अनिच्छा बहुत निम्न है, वह अनिच्छुक भी है, अग्रस्तुन भी है और वह अपने को अग्याम का शिकार भी अनुभव करती है...

मैं बाहर होता, तो कुछ करता ही। लड़ता-मगड़ता, बहम करता। शायद लड़का भी अच्छा न हो। उसे बानेज के अपने परिचित लड़के माद पाए, जो भविष्य में सरकारी पद पाएंगे; सरल, और मरतबी, और कम्पासों के पितामों की विदेष अनिया में 'दोम्य' टहरेंगे—क्या वह अपना बहन को बेंसे बिछी की गृहिणी देस सकेगा?

अगर वह नहीं चाहती विवाह करना, तो कौन-सी मजबूरी है विवाह की? समाज कौन है मजबूर करने वाला? सम्बन्धी कौन है? मैं कौन है? कोई भी कौन है उस पवित्र यज्ञभूमि में, जिनमें आत्मा संवत्स लेकर अपने को दे देती है—'इदं ब्रह्मार्पणमस्तु इदम मम—' नहीं, 'इदं अग्नये इदम मम.... अग्नये ... अग्नये ... यहाँ है सरल—रानी का आत्मा सदा हुतात्मा है ...

क्या बोधी को लिखा जाए? पर अपनी अनिच्छा तो शशि मैं पर मगड़ कर जाती

है। क्या मौसी उसकी भावनाओं की उपेक्षा कर सकती है? पर बातचीत तो वे आगे बढ़ा रही हैं। क्या शशि ने काफ़ी जोर नहीं दिया?

अगर मौसी उसकी बात मानकर विवाह से इनकार कर दें तब क्या परिणाम हो सकता है? एक तो जो लोग वर खोजने की दौड़-धूप कर रहे थे—मामा, चाचा, यह, वह—सब कहेंगे कि नहीं मिलता था तो रोती थीं, अब मिलता है तो दिमाग़ आसमान पर चढ़ा जा रहा है, ऐसा है तो अपना काम आप देखो, हमें कोई वास्ता नहीं।.... कहेंगे तो कहें, बला से! बल्कि छुट्टी पा लेंगी मौसी।....दूसरे वर-पक्ष नाराज़ होगा—हो। तीसरे—तीसरे—तीसरे क्या? आगे के लिए कठिनाई होगी—वर मिलेगा नहीं!.... जिस पक्ष-जाति में शशि जैसी स्त्री की कद्र नहीं होगी, वह पड़े चूहे में—शशि उसमें शादी किए बिना मर नहीं जाएगी।

क्यों नहीं मौसी इनकार कर देती? क्या शशि के प्रति उनका उत्तरदायित्व नहीं है? वे अनुभव नहीं करती? मौसी विद्यावती न अनुभव करें तो कौन करेगा? वे अवश्य करनी होंगी। पर लड़की व्याहना भी तो उत्तरदायित्व ही है। वह भी तो माता-पिता को करना होता है। दायित्व है या नहीं, कम से कम वे अवश्य मानती हैं और सारा समाज मानता है। संस्कार ही ऐसा है—परम्परा यही है।....पर व्याहना कर्त्तव्य है तो क्या अच्छी तरह व्याहना कर्त्तव्य नहीं है? क्या यह 'अच्छी तरह' व्याहना है?....अच्छी तरह क्या होता है? शिक्षा हो, धन हो, कुल हो, शील हो, चरित्र हो, रूप हो, यश हो....और इनकी कसौटी क्या है? डिगरी हो, वैधी नौकरी या जायदाद हो, सम्बन्धी हाकिम हों, बातचीत सलीके से करे, कहीं निन्दा न सुनी गई हो, रंग गोरा और नाक-आँख भले हों, यार-दोस्त प्रशंसा करें या शायद अखबार में नाम छपे! क्या ये चीज़ें आदमी बनाती हैं? क्या ये और केवल ये आदमी को देवत्व का वह ग्रंथ दे देती हैं कि वह किसी की आजीवन तपस्या का पुण्य अपने खाते में लिखने का हक़दार हो जाए?.... शेखर का मन फिर अपने कालेज के अनेक साथियों की ओर लौट गया—उफ़! इन सब वस्तुओं में भी तो कोई गारण्टी नहीं है कि कल्पना का देव-पुरुष वास्तविकता का यज्ञ-ध्वंसक राक्षस नहीं होगा?

सारा प्रश्न यह है कि व्याह के पहले किसका दायित्व है? माँ-बाप का, या वर-कन्या का? कौन-सा धर्म पहले है—कि व्यक्ति गृहस्थ बने, या पिता सास-ससुर बनें? पितरों का काम सहायक का है, विधायक का नहीं।...क्या शशि ही को इनकार करना चाहिए?

उसका परिणाम? सम्बन्धियों का क्रोध तो है ही। माता का भी हो सकता है। निन्दा भी है—'लड़की का चरित्र अच्छा नहीं है'....'माँ ने ही बिगाड़ा है'....और जो लड़की चरित्रहीन घोषित हो चुकी, उसकी चरित्रहीनता के प्रमाण खोजते कितनी देर लगती है? और उसके बाद? जिसे 'समाज के लिए खतरनाक' कह दिया जाता है, उसके लिए समाज तत्काल खतरनाक हो जाता है....'लड़की ने शादी नहीं की। क्यों

नहीं की ? आज़ाद सबीयत की होगी—घोर ऐसी सबीयत की। सड़की क्या बीस वर्षों की उम्र में भी पुरुषों की उपेक्षा ही कर जाएगी ? असम्भव !” घोर निन्दक समाज निन्दित का प्रसाद पाने भी धा जुटेगा—गुणसं, रासस !

शेखर की बुद्धि में मानो गाँठ पड़ गई, इससे भागे वह नहीं सोच सका....वह द्रुत-गति से चक्कर काटने लगा, घोर हर कदम पर मुट्ठियाँ बाँधकर पूछने लगा, क्या कहें—क्या कहें—क्या कहें ?....गति द्रुततर होनी गई, कदम भी पाँच की बजाय सोन पड़ने लगे, इसनो जल्दी-जल्दी रग्न बदलने से सिर भी घूम गया, पर प्रश्न का उत्तर नहीं मिला....उसका आवेश, उसकी पराजित बुद्धि का आक्रोश बढ़ने लगा—उसने दोनों हाथों से मिर पकड़कर बीज लिया, फिर मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियाँ जोर से घोंट लीं....मान गिनने लगे, उनका पीड़ा से सिर को कुछ शान्ति मिली, पर प्रश्न....क्या कहें.. क्या कहें ?

“घोर मौलवी मो-ए !”

मोहम्मिन बुला रहा था । उत्तर देने की शेखर की इच्छा नहीं थी । उस समय वह शक्ति की समस्या के घोर अपने प्रयास के अतिरिक्त घोर कुछ नहीं जानना चाहता था—किमी भी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं चाहता था । वह, घोर शक्ति की समस्या....

“मौलवी मो-ए ! मो मौलवी !”

उस शाम मोहम्मिन ने उसे नहीं बुलाया था, न जाने क्यों ? भव वह बार-बार पुकारता ही जा रहा था ; उसका स्वर ऊँचा ही उठता जा रहा था—

“मौलवी-मो-ए ! भर गए ? मो मौलवी !”

नहीं, वह पीछा नहीं छोड़ेगा । शेखर ने पुकारा, “पण्डित हो !”

“क्या कर रहे हो ?”

“कुछ नहीं ।”

“बोले क्यों नहीं ?”

“ध्यान नहीं था ।”

“रो रहे हो ?”

“नहीं—”

“अच्छा, सो जाओ, मैं नहीं बुलाता ।”

क्या उसे दुःख पहुँचा ? घोर क्या शेखर के स्वर से ही वह भाँस गया कि शेखर अनाम है ? उसे कुछ परितान हुआ । उसने अपने को मजबूत करके धावा दे दी—

“हाँ, मो-ए !”

“माना नहीं मुनाघोने ?”

“अच्छा ? तुम्हारा जो नहीं हूँ—”

"नहीं, सुनाओ।"

"अच्छा।"

मोहसिन गाने लगा :—

शेखर ने दो-एक कड़ियाँ सुनीं और सोचने लगा, मोहसिन को इस समय यह गाना क्यों याद आया ? क्या मेरे लिए ही वह गा रहा है ? किन्तु शीघ्र ही उसका मन भटकने लगा, गाना सुनना वह भूल गया।

पूछता था, 'रो रहे हो ?' उसने कैसे जाना ? वह भी रोया होगा कभी—पर मोहसिन ? असम्भव। रोना आया होगा तो किसी से लड़ पड़ा होगा, वत ! बाबा गदनसिंह कहते थे, रोना अच्छा है—रोने से प्रकाश मिलता है। तीन वर्ष में सो बार—बारस में तैत्तीस—महीने में करीब तीन बार....इतना रोएँ बाबा ? कितनी स्वच्छ है उनकी हँसी ! कोई फलपना करेगा कि यह आदमी रोता है ? और मैं—

एक झुद्ध झपटे से शेखर ने आँख में आर्द्र हृद्द बड़ी-सी बूंद पोंछ डाली। फिर वह बैठ गया।

नहीं रोऊँगा—नालायक ! प्रकाश मिलता है तो मिले ! मुझे नहीं चाहिए रोकर पाया हुआ प्रकाश। मैं अपना रक्त जलाकर प्रकाश पैदा करूँगा....रक्त के आँसू—रक्त के आँसू—क्या मतलब ? रोना ही रक्त जलाना है ? वकवास ! कमजोरी के बहाने हैं।

—और मैं—मैं ऐसा हूँ कि मोहसिन ने इतनी दूर से पहचान लिया कि मैं रोने-वाला हूँ ...इससे तो रोकर स्वच्छ रहना अच्छा—

नहीं, मुझे जवाब खोजना है। शक्ति के लिए मार्ग खोजना है....

वह उठकर जंगल पर चला गया, आकाश की ओर देखने लगा। एघर-उघर दो-चार तारे बिखरे हुए थे। अनजाने उसकी देह तन गई थी, उसके हाथ सींखों को पकड़कर फुट गए थे—उसने चौंककर उन्हें छोड़ दिया।

नहीं, भीतर के इस उवाल को किसी तरह भी बिलरने नहीं दूँगा, किसी की सहायता नहीं दूँगा, स्वयं मार्ग खोजूँगा, अपने लिए और शक्ति के लिए, शक्ति के लिए और अपने लिए....

और चलकर काटना फिर आरम्भ हुआ—एक, दो, तीन, चार, पाँच—एक, दो, तीन, चार, पाँच....

घोर रात भी ढलती चली....ग्यारह, सव अच्छा ! बारह, सव अच्छा ! एक, सव अच्छा ! दो, सव अच्छा !....शून्य—धुन्ध—शून्य....उसके आगे शेखर को बोध हुआ जब उसने देखा कि उसके मुँह पर पूष पड़ रही है, माठ बजे हैं, और वह थका-साहली पर पड़ा है।

क्या हुआ था ? स्मृति की लहर आई—शक्ति....

वह जान गया कि यह उसे क्या लिखेगा।

चिट्ठी लिख चुकने के बाद शेखर जैसे किसी तन्त्रा से जाग उठा; एकाएक उसके प्रासपास का जीवन फिर उसके सामने घा गया, उसकी सब जिज्ञासाएँ पुनः जाग उठीं; मुकदमे की धोर भी कभी-कभी उसका ध्यान जाने लगा। न जाने क्यों मुकदमे की अब गम्भी-गम्भी तारीखें पढ़ने लगी थीं। शायद सबूत कमजोर समझा जाने लगा था और सरकारी पक्ष मई तम्यारी का प्रबन्ध चाहता था। शेखर कभी-कभी मजालत में बयान सुनकर सोचा करता कि उसका कितना प्रभाव किस धोर पड़ा है। पर प्रायः उसका ध्यान सिद्धान्त या व्यवहार के ऐसे प्रश्न लिये रहता, जिनका दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं—ऐसे प्रश्न जो विद्याभूषण से टक्कर होने पर बार-बार जाग उठा करते....

बाबा मदनसिंह से मिले शेखर को कई दिन हो गए थे। एक दिन अकस्मात् शेखर को विचार आया कि जो प्रश्न वह विद्याभूषण से पूछा करता है, वह बाबा से पूछे—बाबा का बातों से ज्ञान पड़ता था कि वे जो उत्तर देंगे; वह शास्त्रीय चाहे हों चाहे न हों, उसके पीछे गम्भीर विचार की शक्ति अवश्य होगी....

दूसरी बार मिलने पर भी बाबा मदनसिंह का आनन्दित विस्मय और स्वागतभाव उज्ज्वल हो सरल था जितना पहली बार; पर उसके बाद औरन ही उन्होंने गम्भीर होकर पूछा था, "आप चिन्तित दीखते हैं—क्या बात है?"

बाबा से बात करना, प्रश्न करना कठिन नहीं था। शेखर ने संक्षेप में अपने और विद्याभूषण के विवादों की बात उनसे कह दी, और पूछा, "मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ। पहले हिंसा का प्रश्न लीजिए। क्या हिंसा उचित है? और क्या वह साम-कार है।

बाबा मदनसिंह ने आँगन के फाटक की ओर देखकर पूछा, "आप अकेले हैं?"

इस पर कुछ दिनों से बाहर ने अपने कामों में काफी बील देनी आरम्भ की थी—केवल बन्द करने का समय वह नहीं भूतता था। बाकी उसने शेखर पर छोड़ दिया था—
"बाबू साहब, आप समझदार हैं, मुझ गरीब पर कोई मुसीबत न लाइएगा।"

बाबा मदनसिंह बोले, "देखिए, मैं आपसे यह चुका कि मैं पढ़ा-लिखा आदमी नहीं हूँ। मेरी बात में कुछ सार होगा तो इसीलिए कि मैंने जो पढ़कर नहीं जाना, उसे सह-जानने की कोशिश की है। यह भी मैं कह चुका हूँ कि जेल में आदमी स्वामाविक रंग में गहो रहता था सोचता, उसका तर्क विकृत होता है। तब मेरी बात का क्या मोल? मेरे तो कुछ-एक सूत्र हैं, जो मैंने अपनी तत्सत्ती के लिए गढ़ लिए हैं। एक सूत्र यह भी है कि हत्यारे को अपना रास्ता खुद बनाना चाहिए। यह सूत्र तो मानके मान्य में भी होगा?"

शेखर ने कहा, "मैं भी तो जेल में हूँ—अस्वामाविक अवस्था में। तभी ये प्रश्न आ-

मेरे लिए इतने बड़े बन गए हैं—स्वाभाविक जीवन में इतनी बातें कहाँ सूझतीं? बाहर तो प्रायः पाँचों ही इन्द्रियों से जीना होता है, यहाँ छठी ही पीछा नहीं छोड़ती। तो समाधान भी अगर अस्वाभाविक हो तो क्या बुरा है? मुझे लगता है कि आपकी बात ही ज्यादा सच होगी, क्योंकि आप उसकी कमजोरी भी दिखाते जाएँगे।”

“आप पूछते हैं, तो मैं कहता हूँ। पर मेरी बात सुनकर भूल जाइएगा, मानिएगा नहीं! कभी—अगर आपको यहीं रहना पड़ा—तब आप खुद सब बातें जान लेंगे—आप तो पढ़े-लिखे भी हैं—तब चाहे इस बुढ़ऊ की बातें याद करके मिलान कर लीजिएगा कि कहाँ क्या फर्क है।”

“अच्छा।”

“सूत्र कहने से आपको अच्छा नहीं लगेगा—आप ही की बातें लेकर चलता हूँ। मैं प्रकृति को बड़ी चीज मानता हूँ। यह भी मानता हूँ कि उसके नियम एक बहुत विशाल बुद्धि पर, प्रजा पर टिके हुए हैं। और मुझे मानव-जाति के भविष्य में गहरा विश्वास है। ये बातें मैंने जान-बूझकर कही हैं—अभी आपको शायद व्यर्थ लगेंगी।” क्षण भर रुककर वे आगे कहने लगे—“आपको लगता है हिंसा नकारात्मक है, निरा संहार है, उससे सृजन नहीं हो सकता। बिल्कुल ठीक। पर यह आप कैसे जानते हैं कि जिस चीज से सृजन नहीं होता, वह गलत ही है? और यह भी आप कैसे मानते हैं कि सृजन करना आप ही के हाथ में है?”

शेखर कुछ बोला नहीं, अपनी मुद्रा से ही उसने यह दिखाया कि वह समझा नहीं, बाबा का इशारा किधर है।

“आपने कितानों में पढ़ा होगा, जब घर में स्वच्छ हवा का संचार करना होता है तब केवल हवा निकलने के मार्ग बनाए जाते हैं। प्रवेश उसका अपने आप हो जाता है। जब आप साँस लेते हैं, तब उसे निकालने में जोर लगाते हैं, फिर फेफड़े भर अपने-आप जाते हैं। इसको सूत्र में बाँधकर वैज्ञानिक कहते हैं कि शून्य प्रकृति को नापसन्द है। हाँ, यह सूत्र आपको याद आया दीखता है। मेरा सूत्र यह है कि सबसे आवश्यक देवता रुद्र हैं—ब्रह्मा तो आवश्यकता-अनावश्यकता के फन्दे से परे हैं। हमें विनाश के गणों की रचना करनी होगी, सृजन, जन्म—आपके शब्दों में रचनात्मक चीज—तो अनिवार्य है। क्षति-पूर्ति स्वयंभू है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। इसीलिए मैं आज के संहारकारी युग में भी मानव के भविष्य में विश्वास करता हूँ—भविष्य वर्तमान की क्षति-पूर्ति है, इसलिए वह स्वयंभू है, उससे निस्तार नहीं है।”

बाबा ने रुककर शेखर की ओर देखा। मानो कुछ सन्तुष्ट होकर वे फिर कहने लगे, “इस तर्क से शायद हमारे अभिमान को चोट पहुँचती है। अगर संहार और सृजन प्रकृति का भाटा और ज्वार है तो हम कहाँ हैं? क्या हम प्रकृति की उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त से अधिक कुछ नहीं हैं? क्या हम भाग्य-वद्ध हैं? क्या आत्म-निर्णय भूठ है?

इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है, क्योंकि ये प्रश्न हर किसी के मन में नहीं उठते। और जिसके मन में उठें, वह अपने सूत्र खुद ढूँढे।”

वे फिर कुछ देर के लिए रुक गए।

“नरतर की ओर चिकित्सा की बात मुझे नहीं जेंबी। मुझे लगता है कि प्रश्न को इस ढंग से रखना ही गलत है कि ‘हिंसा हो या न हो।’ प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? क्योंकि यह आपकी बात में मानता है कि ‘हिंसा के लिए हममें स्वाभाविक धृष्टता है तो उसका कारण होना चाहिए। यह आपका सूत्र—’ एक मुस्कराहट उनके चेहरे पर दीढ़ गई—“बहुत महत्व का है। हाँ, तो अहिंसा क्या है? यह तो स्पष्ट है कि निष्क्रियता यह नहीं है। निष्क्रियता, कायरता, सबसे भीषण और धृष्टत प्रकार की हिंसा है। तब अहिंसा क्या है? अगर आत्म-पीड़न, आत्म-बलिदान अहिंसा है, तब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ‘अहिंसात्मक’ रक्तपात भी हो सकता है। इस बात को मान लेने पर फिर यह क्यों कहा जाए कि सब रक्तपात हिंसा है?”

बाबा मदनगिह ने फिर एक बार स्थिर दृष्टि से शेखर की ओर देख लिया।

“यह तर्क अच्छा नहीं है। आपके कहने से पहले ही मैं स्वीकार कर लेता हूँ। मैं इसे पेश कर रहा हूँ तो इसीलिए कि आपका ध्यान एक और बात की ओर जाए—कि रक्तपात कभी सामाजिक कर्त्तव्य हो जा सकता है। अगर ऐसा है तो, वह रक्तपात अनुचित नहीं रहता, और अहिंसात्मक वह हो जा सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि अगर आत्म-संहार अहिंसात्मक हो सकता है, तो फिर रक्तपात के हिंसा या अहिंसा होने की कमीटी सामाजिक—या कह लीजिए आध्यात्मिक—आवश्यकता ही होगी। यह नहीं कि गिरा हुआ रक्त मेरा है या दूसरे का। मेरा रक्त किसी के रक्त से पतला नहीं है।”

शेखर का मन विचलित हो गया था। उसे बाबा का तर्क पसन्द नहीं था, परिणाम भी पसन्द नहीं थे, पर वह सोचने का समय चाहता था। वह बोला “यह आज के लिए बाजो है। इसे खवा लूँ, फिर आगे सही। अगर इसमें गुठलियाँ निकलेंगी तो आप हो के पास लाऊंगा फोड़ने के लिए।” वह हँस पड़ा।

“ठीक है। मैं आपकी गुठलियाँ अपने लिए फोड़ूँगा। आप अपने फल स्वयं पकाइए और खाएँ। मैं तो एक कलम के नमूने पेश कर रहा हूँ।” बाबा भी हँस दिए। फिर कहने लगे, “जब आप गुठलियाँ मुझी से खवाएँगे, तो एक फल और लेते जाएँ। मैंने कहा था न, कुछों को कोई सुननेवाला चाहिए।”

“बहिष्—”

“मैंने कहा था कि अहिंसा ठीक है, पर उसकी परिभाषा ठीक हो तभी। सफल भी वह तभी हो सकती है। मुझे लगता है अहिंसा उपयोगी तभी होगी, जब वह आक्रामक अहिंसा हो—जानी जब वह केवल पारिभाषिक अहिंसा रह जाए। जैसे बहिष्कार में—बहिष्कार तभी सफल होता है जब उसे धरम के रूप में किसी विनिष्ट व्यक्ति या संगठन के विरुद्ध लगा जाए—पूरी दुनिया का बहिष्कार अपना ही बहिष्कार होगा। धरम

भारत चाहे कि सारी दुनिया का व्यापारिक बहिष्कार कर दे, तो वह असम्भव भी है और व्यर्थ भी, क्योंकि वह ब्रिटेन के विरुद्ध नहीं पड़ेगा और हमें उससे स्वाधीनता नहीं दिलाएगा। सफल वह तब होगा जब कि उसे ब्रिटेन के विरुद्ध केन्द्रित किया जाए, यानी आक्रमण का साधन बनाया जाए। यह स्पष्ट है कि अहिंसा केवल पारिभाषिक अहिंसा है, क्योंकि अहिंसा में तो आक्रमण की भावना नहीं होनी चाहिए, आत्मरक्षा के लिए भी नहीं। है न ?”

उत्तर में शेखर ने एक अनिश्चित “हूँ” किया, मानो अभी वह किसी तरफ उत्तर देने को तैयार नहीं है।

“और अगर परिभाषाओं पर लड़ना है तो ‘सच्ची’ अहिंसा आत्मपीड़न है, जो अन्ततोगत्वा एक प्रकार की हिंसा ही है। पर इस फिजूल की शब्द-कलह को छोड़कर काम की बात सोचें। यह मैंने कहा कि अहिंसा सफल तभी होगी जब वह आक्रामक हो, यानी केवल शाब्दिक अहिंसा हो; दूसरी ओर हिंसा आक्रामक हुए बिना भी, केवल स्वरक्षात्मक होकर भी, सफल हो सकती है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि उदाहरण बेकार है। आप जानते हैं कि कानून भी स्वरक्षात्मक हिंसा को मानता है। तो नतीजा यह निकला कि हिंसा स्वरक्षात्मक भी सफल हो सकती है—यानी केवल पारिभाषिक हिंसा, क्योंकि बिना आक्रमण के हिंसा कैसी ? अब पारिभाषिक अहिंसा और इस पारिभाषिक अहिंसा के बीच में लकीर खींचना मेरा काम नहीं है—निकम्भों का काम है।”

बाबा मदनसिंह चुप हो गए। कुछ देर शेखर प्रतीक्षा करता रहा कि वे शायद आगे बोलेंगे, जब वे नहीं बोले तब शेखर ने सोचते-सोचते कहा, “तो परिणाम क्या निकला ?”

“परिणाम ?” बाबा जोर से हँसे। “मैंने अपनी बातें कह दीं। अब इनको एक सूत्र में आप बाँधिए !”

शेखर कुछ कहने को था कि उसने बाहर पैरों की आहट सुनी—शायद वार्डर उसे बुलाने आया था। स्वयं उसी को विस्मित करनेवाली प्रत्युत्पन्न मति से उसने, ऊँचे स्वर से कहा, “यह मजे की रही। फिर साहब ने क्या कहा ?”

बाबा ने एक बार उसकी ओर देखा फिर मुस्कराकर कहने लगे, “आप बहुत जल्दी सीखने लगे—यह है स्वरक्षात्मक हिंसा या झूठ !—हाँ तो—” फाटक पर खड़े वार्डर की ओर देखकर, “साहब क्या कहता ! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।”

वार्डर ने कहा, “बाबू साहब आप यहाँ हैं, मैं तो—

शेखर ने अनसुनी करके कहा, “अभी दूसरी बात तो रह ही गई। खैर, बाकी फिर किसी दिन सुनूँगा।”

वार्डर ने अपनी बात समाप्त की, “मैं तो खोजता-खोजता हैरान हो गया। अब चलिए न।”

शेखर चल पड़ा।

बाहर बाहर ने पूछा, "बाबा आपको अपने भगड़े की बात सुना रहे थे क्या?"

"क्यों?"

"वही सबको सुनाया करते हैं। पहले साहब से भगड़ा हो गया था। साहब की माँ को दम कर दिया बुढ़े ने।"

"हूँ।"

बाहर ने मानो पुरानी बातें याद करते-करते कहा, "बुढ़ा कमी तूफान ही रहा होगा। पर है विचारा बड़ा सन्त भादमी—सदीयत का विलकुल प्रतीक है।"

"हूँ।"

शेखर बन्द हो गया। बाहर साला बन्द करके खड़काकर चला, तो शेखर घोर से हँस दिया—एक मीठी हँसी!



जो भादमी जीवन द्वारा जीने का धादी है, उसे यह भ्रम है कि उसे जीवन के बचे-बूचे बावो टुकड़े ही मिलें, जीवन का उच्छिष्ट मिले—किन्तु बन्दी शेखर के लिए यहां विधान हो गया था... यह विचार ही उसको भ्रम था, पर धाता था वह बार-बार, घोर हर बार मानो उसको बांधनेवाले सोहे के किवाड़ों का एक सौंखचा उसकी दमनगर्भा से ही तप्त होकर उसके हृदय में घुस जाता था....?

बाहर के संसार से—शक्ति से—उसका एक सम्बन्ध रह गया था निर्जीव कागज के फने, उस पर निर्जीव लिपि के शब्द....भाषा सजीव होती है, दर्द सजीव होता है, पर क्या उनके प्राण इस ज्ञान के धागे टिक सकते हैं कि धाज जो उसके सामने है, उसमें जीवन का स्पर्शन तीन दिन, या सात दिन, या दस दिन पहले था?....

शेखर को शक्ति का पत्र मिला, तो ऊपर तारीख देखकर उसे अनुमान नहीं हुआ कि बिट्टी उस तक पहुँचने में जो नौ दिन लग गए हैं, वे उसके जीवन-प्रवाह के एक युग का परिमाण एक ही घूंट से पी गए हैं। वह बढ़ती हुई वेदना से सारा पत्र एक बार पढ़ गया, फिर दूसरी बार पढ़ गया—हाँ, वेदना बहुत थी, पर इतनी नहीं कि वह फूट जाए, निर्बन्ध हो जाए—वह पाँच घाई जब बायीं हाथ उठाकर उसने तारीखें गिनना शुरू किया और आता बीसह में मे नौ जायें तो पाँच बचते हैं....

प्रकटी बार शक्ति का पत्र छोटा था। शेखर ने वह सहमत थी कि जीवन में हर एक की अपना मार्ग स्वयं खोजना होता है, हम किसी की मार्ग नहीं बता सकते, किसी का प्रमाण भी नहीं दिख सकते; हम कर सकते हैं तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दें, उसका कण्ठ बग दें, अगर उसके पास दीया है तो उसको बत्ती कुछ उकसा दें। और इसलिए वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके प्राणों को जला रहा है, वह उसके दीपक में स्नेह भर रहा है।.... "नविष्य क्या है, नहीं जानती; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है, उसमें नविष्य होने न होने

शन भी नहीं है। वह इतना ज्वलित है; पर इतना मैं आज तुम्हें कहती हूँ कि तुमने मुझे दिया, वह मैं उसमें नहीं भूलूंगी। तुमने लिखा है निर्णय मेरा है, पर उसका दर करना तुम्हारा है; तुमने लिखा है एक निश्चय में मुझे तुम्हारा आन्तरिक आशीर्वाद, स्नेह और सद्भावना प्राप्त होगी, दूसरे निश्चय में तुम्हारा सहयोग और संरक्षण, और आवश्यक होने पर तुम्हारे हाथों का परिश्रम और तुम्हारे पसीने की रोटी; तुम्हारी उदारता में मैंने दोनों पा लिए हैं, और अब चुनने के नाम पर तुम्हारा आशीर्वाद ही चुनती हूँ। मैंने माँ से कह दिया है कि मुझे इस मामले में किसी तरह की कोई दिलचस्पी नहीं है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।”

कठोर और कड़ुवा और स्वयं नारी की तरह चिरन्तन शशि का निर्णय—कठोर और कड़ुवा और चिरन्तन नारी का अभिमान कि जो समाज उसका आदर नहीं करता, उसी के हाथों नष्ट-भ्रष्ट, खिन्न-व्रस्त-ध्वस्त होकर वह उसकी अवमानना करेगी.... आशीर्वाद ? क्या आशीर्वाद हो उस नारी को क्षुद्र पुरुष का ? कि तू हुतात्मा हो, तेरी ज्वाला उज्ज्वल और सुगन्धित और निर्धूम हो ! लज्जा, खोभ और आत्मग्लानि से शेखर ने अपनी वैवी हुई मृदु छायी में मार ली....

क्यों उसने शशि को अपनी सम्मति नहीं दी थी ? क्यों नहीं उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देना अपनी और समाज की भी विडम्बना है ? क्यों नहीं कहा था कि समाज उसकी विविक्त इकाइयों का समूह है, और इकाई की अवहेलना समाज की अवहेलना है ? क्यों नहीं कहा था कि अन्याय को सहना उसका भागी बनना है ? क्यों स्वाधीनता दी थी निर्णय की ? क्यों दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन दिया था ?

उसे याद आया कि उसने क्या लिखा था.... कि यह मामला शशि का है, शशि के अतिरिक्त किसी का भी नहीं है, और इसमें परामर्श भी किसी का ग्राह्य नहीं है, माँ का भी नहीं, शेखर का भी नहीं.... शशि, निपट अकेली शशि, इस समस्या से लड़े और किसी निष्पत्ति तक पहुँचे ; बाकी यहाँ कर सकते हैं कि सहानुभूतिपूर्वक देखें, अपने इच्छा-शक्ति से उसे इतनी प्रेरणा दें कि वह ठीक ही परिणाम पर पहुँचे, यह आश्वासन दें कि निर्णय जो भी हो, वे उसके साथ हैं ... ‘और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विवक्षित हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिटा दो, तब भी मेरी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो ; और वैसा नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की वजाय समाज के विरोध से ही लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ। वह तुम्हें अलग कर दे, घर-बार भी तुम्हें जाए, तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हें मिलेगा ; अगर अपने हाथों के परिश्रम तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पड़ेगी तो वह मेरा गौरव होगा.... मैं जानता हूँ कि तुम जो सोच दी है, उसका मूल्य मैं किसी तरह नहीं चुका सकता, उसके लिए कृतज्ञ दिखा सकता हूँ तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते, या चलने की चेष्टा

करते समाप्त हो जाऊँ। इतनी भी कृपलता न दिया सकूँ, ऐसा बुरा मैं नहीं हूँ—पहले रहा भी होऊँ तो तुम्हारी सीख का मुकुट पहनकर भव नहीं हूँ। मैं तुम्हारे साथ हूँ। चाहे त्रिपर भी लुप्त जाओ; किपर जाओ, हमका उत्तर तुम्हें तुम्हारे भीतर का मातोल दे....'

शनि मे मार्ग चुन लिया। 'भाज के ठीक दो सप्ताह बाद, भाज ही के दिन, मैं—मोह शेरार, यह वाक्य अधूरा ही क्यों नहीं रह जाता।' और यह भी दिन पहले का दार है—बेचन पाँच दिन और।

क्यों? किस चीज ने बाधित किया शनि को यह निर्णय करने के लिए? क्या बुद्धि ने? विवेक ने? क्या डर ने? भ्रममत्ता ने? क्या हृदय ने? चाह ने? क्या क्षमा ने? अभिमान ने?

"मैं जानती हूँ मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का अधिकार है? समाज का मैं अज्ञ हूँ, उसके प्रति मेरी अनिच्छा है, पर उनकी मैं अपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि वह मेरे प्रति कर्तव्यमूलक नहीं है और फिर उसके आदर्श भी बदलते रहते हैं और रहेंगे। पर मैं—मैं तो अज्ञान हूँ, अज्ञान ही हूँ, उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है.... मैं विषया हूँ, फिर उनके करने के लिए। मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, वह तो करने नहीं कर सकती, पर स्वयं अपने ही सामने उन्हें छोड़ देगी। वे कुछ नहीं करेंगे, मैं करने लूँगी—क्या उससे मुझे कुछ सीखेगा नहीं? उनका मौन उनकी व्यापा का बदल दे देगा। मैं हर समय बटती रहूँगी.... मैं अपना युद्ध सह सकती हूँ, पर मुझे क्या करने है? उनसे अपना युद्ध सहवाऊँ?... और अगर किसी को मुझ हँसना करना है तो कोई भी ही क्यों नहीं होऊँ? मैं तो विवाह के बाद अपने बच्चे को देखती हूँ—होम नहीं देखेगा—मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं देखेगा उसे। इस दुःख को अपने बच्चे के पंरे से बाहर ले जाने का यही एक तरीका है.... देखो, मैं तो अज्ञान हूँ, अज्ञान ही कि मैं ग्राहिमान हूँ निमा से जाऊँ...."

क्या शनि ठीक कहती है? क्या वह बेटीक ही कहती है?

पर जब वह अवश्य कहती है कि दुःख शनि का अज्ञान है। अज्ञान ही है जो उसे अपने बच्चे पर से ले, जो उसे अपने से इतर, अपने अज्ञान से निकाले। कि वह आशाना में भ्रम जाए....

उसे अपनी ही निम्नी हुई दो-चार पंक्तियाँ पढ़नी पड़ीं—

I have burned in solitude

And burning has brought in over me

In more quenchless burning

(मैं एकान्त में जला किया हूँ, और जलना अपना ही शमन लाया हूँ और भी अनवृक्ष जलने के रूप में....)

क्या यही है प्रतिनिधिक यन्त्रणा का वह सिद्धान्त, जो उसने कहीं पुस्तक में पढ़ा था और अग्राह्य मानकर छोड़ दिया था—कि हमारी यातना किसी दूसरे के पाप का प्रायश्चित्त हो सकती है ? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे का ईसामसीह है, किसी दूसरे का क्रूस ढोनेवाला है ? क्या यही है यातना के इस कुम्भीपाक में आलोक की प्रथम और अन्तिम किरण....

व्यथा से शेखर को रोमांच हो आया....

○

दूसरा पत्र आने में उतना समय नहीं लगा—पर जितना समय लगा था, उतना क्या कम था ? शशि ने लिखा था, “आज मेरी उस अवस्था का अन्तिम दिन है, जिसमें अपने आत्मीयों से अलग एक सम्बन्धी मेरा था—मेरे वहिनापे में घिरे हुए तुम ! कल से मेरा पहिला परिचय होगा, अमुक की स्त्री; और सब सम्बन्ध उसके बाद आएँगे ।.... न जाने यह पत्र तुम्हें कब मिलेगा, पर जब भी मिले, तुम उस शशि को आशीर्वाद देना, जो आज तक तुम्हारी बहन थी और उसके अतिरिक्त किसी को कुछ नहीं थी; किन्तु कल वैसा नहीं रहेगी; और जो आज इस पद से अन्तिम बार तुम्हें प्रणाम करती है....”

शशि ने शेखर के अगम्यन्तर का कोमलतम मर्म छू लिया था—दर्द इतना था कि शेखर आह भी नहीं कर सकता था....अन्तिम बार प्रणाम....मेरे वहिनापे में घिरे हुए.... उसके अतिरिक्त कुछ नहीं....

यह सच था—उफ़ कितना सच !—कि शशि ने ही उस ‘न-कुछ’ को खींचकर सगेपन का गौरव दिया था—ऐसे दिया था जैसे कभी किसी ने नहीं दिया था—उसकी अपनी दो सहोदरा बहनों ने नहीं....शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि दी थी जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है....तब क्या यह भी सच है कि आज उस निधि के रक्षकत्व का अन्तिम क्षण है ?—आज क्यों, आज तो शशि को नए संरक्षण में गए हुए भी दो दिन हो गए ! —क्या जो आगम ही नहीं हुआ था, वह आज समाप्त होने जा रहा है ?

वेदना....कोई उसके भीतर कहता है, वह नहीं थी सहोदरा, नहीं थी बहन; जे हुआ है वह होना ही था....उसे दुःख का अधिकार नहीं है....हां, नहीं है अधिकार अधिकार होता तो दुःख क्यों होता ? दुःख उसको मेरी स्नेह की भेंट है, जैसे वहिनाप उसका मुझे स्नेह का दान था ! नहीं है वह सहोदरा, वह सहजन्मा है; एक खण्डित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है....तभी तो....तभी तो....शेखर अपने को देखता है और नहीं समझ पाता कि कहाँ वह अर्पण हो गया है—यद्यपि एक गहरी टीस उस चूँती है और एक मूर्च्छना भी उसके वचे हुए गाल पर छाई जा रही है....

फिन्नु कठम्य धमो बाको है—मन्त्रवत् शेखर ने कागज और कलम उठाया, एक पोटा-ना भागीरद का पत्र लिखकर लिफाफे में बन्द किया, पठा लिखा और वार्डर को बुलाकर दस्तूर में भिजवा दिया। दूसरा मार्ग नहीं था—और किसी तरह पत्र भेजने में बड़ी देर लगती।

तब एकाएक दल-विलस और शून्य और निष्पाण शेखर चक्की पर सिर टेककर सर्रा हो गया। उसको निविड़ वेदना में ज्वाला की तरह उसके अन्तरङ्ग को फोड़ता हुआ कुप फूट निकला....

जल, ऊर्ध्व, जल यज्ञ-ज्वाले जल ! उत्तम जल, उज्ज्वल और सुवासित जल, क्षार-हीन और निर्धूम और प्रसन्न जन ! यह मुझ अभाग का तुझे आशीर्वाद हो !

तब माँसू माप, धने और भरन्दर....



फिर एक बार कुहासा शेखर के प्राणों पर छा गया। पर अबकी बार उसमें जैसे विरोधभाव नहीं जागृत हुआ। अपने रोने पर क्षोभ नहीं हुआ, परास्त हो जाने के ज्ञान का प्रतीकार करने का भी इच्छा नहीं हुई। वह मानो अस्तित्व के किसी निचले स्तर पर उतर आया। जीवन शिथिल हो गया, और शैथिल्य स्वामादिक धर्म मालूम पड़ने लगा।

शेखर ने 'साहब' से अनुमति माँगी कि उसे पहले सिरे की एक कोठरी में रखा जाए। 'साहब', ने विस्मित होकर कारण पूछा, और यह जानने पर कि शेखर एकान्त चाहता है, मुस्कराकर अनुमति दे दी। "तुम स्वयं अपनी आजादी कम करना चाहते हो तो तुम जानो। वहाँ पर तुम्हें वही के नियम मानने पड़ेंगे—बन्द भी रहना पड़ेगा। हाँ, अगर फौजीवाले अधिक हो गए तो वहाँ से हटना पड़ेगा।" शेखर ने मौन स्वीकृति दे दी।

फौजी की कोठरी साफ-सुपरी थी। पक्का फर्श था, चक्की कोई नहीं थी, पतरे के के निरु फाटक के पास कोने में भलग जगह बनी हुई थी, जहाँ से पानी बाहर की वह जाता था, घटः कोठरी में बरबू नहीं थी। शेखर दिन में बन्द रहता, सुबह-शाम टहलने बाहर निजवाग और तलाशों के बाद बन्द हो जाता। ये नियम उसे पसन्द नहीं थे, पर वह मानो अपनी देह से हटकर कहीं रहता था, ये उसे धूँते ही नहीं थे। दिनभर वह धर्म-धर्म की प्रस्था में रहता—जैसे धर्मों की प्रक्रिया न मिलने पर रहते हैं। केवल आरंभ-आवः जैसे उसकी सन्नाह टूट जाती, वह जानता कि वह जीवित है।

उप-काज से लेकर टहलाई के लिए द्वार खुलने तक, और शाम की टहलाई के बाद बन्द होने से लेकर दिनावसान तक—ये दो भूतर्त न जाने कैसे ये कि दिनभर मुरझाए एने-शाने प्राण उसके भीतर एकाएक प्रदीप्त हो उठते थे—चार साढ़े चार बजे उसकी शीर सुनती, तब वह पलटकर सिर फाटक की ओर कर लेता, और आकाश की ओर

मन के मनके फेरा करता; कभी वर्षा हो रही होती, तो बूंदों का स्वर उसके पर ताल देता चलता....
मिटते आलोक की पहली किरण के साथ, मिटते आलोक की अन्तिम दीप्ति के साथ,
एक प्रश्न शेखर के हृदय को बेध जाता, "क्या आत्माहुति देकर वह सुखी
उसका पत्र फिर नहीं आया था; जानकारी के लिए शेखर के पास कुछ नहीं था
य अपनी समझ के—कितनी क्षुद्र समझ!—और अपनी समवेदना के—कितनी
मर्थ समवेदना!

क्यों नहीं लिखा उसने? क्या दुःख में है इसलिए? या सुखी है इसलिए?
कभी व्याकुलता इतनी उग्र हो उठती कि वह दाँत भींचकर, मुट्ठी बाँधकर,
कभी पर, दीवार पर, जंगले पर दे मारता, एक बार, दो बार, तीन बार....जब तक
कि जोड़ों पर से खून न फूट आता—तब उस रक्त को वह माथे पर पोंछ लेता और
उसकी ललाई से उसे कुछ शान्ति मिलती! कभी अपने ही कार्य से घबराकर यह पूछ
उठता, क्या मैं पागल हो गया हूँ? पर तत्काल ही पहला प्रश्न इस दूसरे प्रश्न को
निकाल देता, और मानो इस अल्पकालिक विस्मृति के दण्ड-स्वरूप स्वयं अधिक तीव्र हो
उठता....

किन्तु दिन में इतनी शक्ति का संचय कभी न होता, वह केवल एक क्षीण-सी चिन्ता
में सोचा करता, क्या वह आत्मबलिदान उचित हुआ?....कौन कह सकता है? कोई
नहीं जानता—जाननेवाली, कहनेवाली, निश्चय करनेवाली एकमात्र शक्ति है! यह प्रश्न
उसका प्रश्न है....बाबा मदनसिंह ने भी तो कहा था, हर एक को अपना रास्ता खुद
खोजना होता है....

कभी उसे इसमें भी सन्देह हो आता। क्या सचमुच यह व्यक्तिगत प्रश्न है? क्या
सामाजिक उत्तरदायित्व इसमें शामिल नहीं है? व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे
काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एकमात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है और
समाज को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है? उसका मन भटकने लगता....यह तो
वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है....

चाहे यह अपने प्रश्न का उत्तर पाने की उत्कट इच्छा रही हो, चाहे केवल कुछ
घूमने-फिरने की; शेखर बाबा मदनसिंह से मिलने गया। और न जाने क्यों उसकी पुरानी
जिज्ञासाएँ उबल पड़ीं; शक्ति का प्रश्न भी बीच में उलझ गया और शेखर हिंसा-अहिंसा
और सामाजिक दायित्व के पचड़े फिर ले बैठा।

बाबा बोले, "देखिए, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दुःखी रहता है। शायद
कोई नया सूत्र पानेवाला होऊँ, शायद केवल बुढ़ापा ही हो। इसलिए आपके सवालों
जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—ढूँगा। प्रश्न अवश्य सामाजिक भी है।
दोखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है—
हम मुक्ति का साधन यही मानते हैं कि जहाँ तक हो सके, अपने को समाज से

मीच में घोर 'मात्मान बिदि।' इस व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप-पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते हैं। तभी तो हमारे धर्म-शास्त्रों में दूष विनाश भी पुण्य समझते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह हिंसा है। दूसरी घोर पश्चिम का जीवन घोर दर्शन हमारे विस्तृत विपरीत है। वह बहुमूर्तता घोर समाजवादी है। उसका मानदण्ड मिश्र है, उनको समझ में हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनावादी घोर बाधता है। हम उन्हें निरुद्ध पशुपंथवादी कह सकते हैं, यह हमें थोड़े आध्यात्मवादी कह सकते हैं। पर इस गानी-मनोय से भी यह बात नहीं छिपनी कि हम दोनों एक दूसरे के आदर्श नहीं मान सकते। सामान्य हम लोगों को अपने आदर्शों में सुधार की जरूरत है, क्योंकि हम नीचे हैं।" कुछ देर चुन रहकर बाबा मुस्कराए : "मेड़ों की तरह झुंड बांधकर रहेंगे, छे भेड़-बाल चलनी पड़ेंगी। भेड़-बाल का सम्य नाम संसृति है।"

शेखर कुछ देर तक चुपचाप गड़ा रहा। थोड़े पर एक छाप पड़ी दो बूंदों ने उसे चौंका दिया। उसने ऊपर देखा, आकाश में छावन के घने बादल थे, घोर परिमली शिशिर पर एक मटमला घनता क्रमशः फैलता हुआ बढ़ रहा था—उसके भीतर से मानो किसी तरह का प्रकाश फूट रहा था।

"अच्छा आ रहा है।"

"अच्छा ही है, मुझे आश्चर्य इसकी जरूरत थी।" बाबा की छाँतों पर भी एक बादल आ गया। "वह कहानी का पटान बाहर समा गया था, सब जेब की घरेपि नहीं गिनता था, पर मेरे लिए तो 'कुछ न होना' ही ब्यापक हो गया है। ये इतनी बरफ़ मुझ पर बोझ हो गए हैं। इसीलिए आधी-नूतन से कुछ सहारा मिलता है।"

शेखर ने विस्मय से उनकी ओर देखा, उस क्षण में बाबा उसे पसंगे बार बूँदें लगे—उनकी छाँतें बूझी हो गई थी, घोर धवल जटा घोर बदल दाढ़ी से भी सितनी सरिक बूझी। मानो शान-राग प्रथम मानव का शान उनमें समा गया हो।—'घनने दुःख के सहारे ही तू जिएगा।'

यह सहसा हुआ-भा धीरे-धीरे साँट पड़ा।

कोठरी का घोर सीटो हट शेखर के भीतर सहसा स्तानि उमड़ आई। शिशिर घोर लज्जा की बात है कि वह इस समय कोरी बौद्धिक उत्तमनो में पड़ा हुआ है, जब कि शक्ति पर न जाने क्या बीत रही होगी....मानसिक बनेश, दायद आध्यात्मिक मानना—वह धन-धनो प्रिक्रम—जोन जाने क्या आश्चर्य होगी इस समय शक्ति की!

क्या आश्चर्य होगी? किस बात को डर रहा है वह? वह साम्प्रतिक बीन-या डर है, जो उसके भीतर है?

मानो उसके धन के उत्तर में बाबा का एक आँखा जेब के आँखों पीछे, लोह-डागे घोर आशयनों में से बरहता हुआ निराम गया—वह बराह फिर उँची उँची घोर फिर धोखा पड़ गई, फिर लटी घोर एक अनादिब सीटिड प्रतीति की बीन ५-५-

उसकी व्याकुल रांग शेखर को धकेलने-सी लगी—श्राधी का पहला चातचक्र उसे घेरे ले रहा था....

वह फिर चल पड़ा ।....किन्तु सोचने से कैसे रुका जाए—सोचने से नहीं, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाए ! और प्रश्नों का अन्त कहाँ—जिज्ञासा के घूट नहीं होते, वह तो भीमप्रवाहिनी कूलहीना नहीं है, स्वयं जीवन की तरह दुनिवार....

मदनसिंह ने कहा था, पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है....

वह कोठरी में पहुँच गया था । सन्तरी पहले ही वहाँ मौजूद था, शेखर के भीतर जाते ही उसने ताला बन्द कर दिया और स्वयं श्राग्न से बाहर निकलकर कुछ दूर पर रागने बने हुए काठघरे में जा खड़ा हुआ—श्राधी के साथ ही बड़ी बूंदें वर्षा की पड़ने लगी थीं....

जिज्ञासा—जिज्ञासा—यह समन्वित पीड़ा....

पर मैं जानना चाहता हूँ—श्राधी की अवस्था जानना चाहता हूँ...क्या वह सुखी है ?

... 'जहाँ अपना वश नहीं है, वहाँ दुःख करना ही मोह है ।'....कहाँ पड़ा था उसने यह ? या यह मदनसिंह के शब्दों में 'सुख' है, दुःख की चोट से पाया हुआ ? वेदना के बिना ज्ञान नहीं है तभी तो ज्ञान अपौरुषेय है—पुरुष की बुद्धि में वह नहीं पाया जाता, वेदना में, तपस्या में, वह उदित होता है । वह मन्थन से मिलनेवाला अमृत नहीं है, वह अवतीर्ण होनेवाला कोई अप्रमेय है....इसी तरह कभी प्राचीन छटपियों ने वह सूक्ष्म ज्ञान पाया होगा, जो अब वेद है—जो 'जाना हुआ' है, किसी भीतरी श्रालोक से सहसा प्रकट हुआ—इसी तरह पीड़ा की तपस्या से सहसा जागकर उन्होंने प्रज्ञा के बोझ से तड़पड़ाकर कहा होगा, 'अपौरुषेय ! अपौरुषेय !'....

एक चौधगानेवाले प्रकाश ने फिरती रात के अन्धकार को फाड़ डाला, भीषण गड़-गड़हाट ने जेल के लोहे और पत्थर को काँपा दिया, आकाश का बोझीला पर्दा मानो अपने भार से फट गया और धारासार वर्षा होने लगी; शेखर के पैरों में कुछ आकर लगा तो उसने देखा एक बड़ा-सा ओला है; वह जंगल के पास जाकर खड़ा हो गया; शीत से काँपता हुआ, बादल के गम्भीर धोप और बिजली की तड़पन से हतबुद्धि, श्राधी और पानी के क्रुद्ध शोर्षों से पिटा हुआ खड़ा रहा....कितना अच्छा था यह रागने की मार खाना, कितना अच्छा था इस तरह पिटते हुए खड़े रहना, उस नामहीन, आकारहीन शत्रु द्वारा अराध्या लील लिए जाने की अपेक्षा....

किन्तु उससे निरतार कहाँ है ? प्राकृतिक तत्त्वों की इस उथल-पुथल में भी आत्मा कहाँ चुप है....जेल में दूसरे भी तो हैं, वे भी क्या कर रहे होंगे इस समय ?....उसे याद आया, एक दिन उसने देखा था, जेल की छुपहरी में एक कैदी वर्षा में भीगे और छिदुरे हुए बन्दर की तरह कोठरी के जंगल के नीचे उकाँचूँ घेठा था; और विलीन के मनके-सी

उगड़ी घीनें उल्लस सफ़ेद आकाश पर टिकी थी....कब वह जीवन था ? उस गमम उगरी जीवन मानो स्वर्गित था, प्रचोतव भी मानो स्वर्गित था; उस समय उसके भीतर से वह बई धर्म कभी का जड़र भौंक रहा था, जो विषाग-श्राव जीबोदभव से पड़ने उगड़ी मिट्टी का रहा होगा... बाबा मदनसिंह की कहानी का पठान टोक ही बहना था—जेल में घादमी जोता नहीं, बुद्धि नहीं पाता....पर बुद्धि अवरय हो जाता है—गात मूल जाते हैं और घाम पक जाते हैं....

घोर स्वर्गित जीवन के उस भीषण अन्तराल में शुद्ध बुद्धि ही एकमात्र सम्भव है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्भव है....बही स्थानावन्न प्राण है....

शेखर एक बार कौता, घोर फिर तिराने बैठ गया । हाँ, "....

●

ईश्वर ने सृष्टि की ।

नव घोर तिराहार शुभ्र था: घोर अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था । ईश्वर ने कहा—'प्रकाश हो ।' घोर प्रकाश हो गया । उसके आलोक में ईश्वर ने अमर्य दुर्बलें किए घोर प्रत्येक में एक एक तारा जड़ दिया । तब उसने सौर-मंडल बनाया, पृथ्वी बनाई । घोर उगे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है ।

तब उसने वनस्पति, पौधे, माइ-मृगाद, पक्षमूल, तथा-भेमें उगाई; घोर उन पर मंडराने को भीरे घोर निमिगी, गाने की भीगुर भी बनाए ।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाए । घोर उगे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है ।

लेकिन उसे क्षांति न हुई । तब उसने जीवन में अविष्य ताने के लिए दिन घोर रात, छोपी-पानी, बादन-मेह, धूप-दाह इत्यादि बनाए, घोर फिर बीड़े-मकोड़े, मकड़ो-अन्धकार, बरे-विष्णु घोर अन्ध में सोव भी बनाए ।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ । तब उसने ज्ञान का मंत्र मोनकर गुरूर अविष्य में देगा । अन्धकार में, पृथ्वी घोर सौर-सोक पर छाई हुई प्राणहीन पृथ्व में बही एक हनपन, फिर उन हनपन में घोरे-धारे एक आकार, एक गरीर का, त्रिममें अमा-धारण शुभ्र नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है, एक आत्मा जो निमित्त होकर भी अपने आकार के भीतर धैर्यती नहीं, बढ़ती ही जाती है, एक प्राणा जो दिवनी बार पून को घुटा है मना हो होकर अधिक प्राणशान होकर, उठ साहा होता है....

ईश्वर ने जान लिया कि अविष्य का प्राणी नहीं मानव है । तब उसने पृथ्वी पर से अणु को घोरकर एक मुट्ठी पून उठाई घोर उगे अपने हृदय के पाग से आकर उगमें अपनी विराट् आत्मा को एक सौम फूँक दो—मानव की सृष्टि हो गई ।

ईश्वर ने कहा—'आधो, मेरी रचना के महाप्राणनायक, सृष्टि के अन्तर्गत !'

लेकिन क्षांति का गुण ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उगमें का अन्धकार अन्ध हो रह गया ।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गईं। उस विराट् सुन्दर विश्व में गति नहीं आई।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सँभालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूंद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया; सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब शन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई अपूर्ति न आयी और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा।

० २ ०

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तुने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'।

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता; पुरुष और स्त्री प्रकाश में, मृग्य दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आँखें मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो ऐसा नहीं है; वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है; उसकी दृष्टि भानो अन्तर्मुखी हो गई है, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है....तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गई, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई...

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी....

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आयी।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी, 'क्या होता है मुझे! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी....'

पुरुष धानो निम्नहायना में कुछ भी नहीं कर रहा, उगकी प्रार्थना धीरे भी धानुर, धीरे भी विकल, धीरे भी उत्सर्गमयी हो गई, धीरे जब वह स्त्री का दुध नहीं देग रहा, मग उसने नेत्र सुख जोर में मीच लिए....

निगीय के निश्चित धम्यकार में स्त्री ने पुनराकर कहा—'ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरग—यह देगी !'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला धीरे राज भर स्तम्भ रह गया । उगकी धागा के भीतर निम्नय को, भय की एक पुनक उठी, उसने धीरे से स्त्री का गिर उठाकर धानी गोद में रस लिवा....

पूछते हुए बोमम प्रकाश में उगने देता, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत ध्यारे प्रतिरूप की धपनी धानी से बिगटाए है । धीरे धरी हुई सो रही है । उगका हृदय एक प्रकाण्ड विरमय में, एक दुस्साह उत्साह से भर धाया धीरे उसके भीतर एक प्ररन पूट निरसा, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने मही की ?'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया । तब मानव ने सार से पूछा—'ओ शान के रसक गौर, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा धीरे ईश्वर का समरस बना दिया है—एक शब्दा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ !'

उगने यह प्ररन पूछते ही धनहोनी घटना पड़ी । पुणो धूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, गिर धूर उड़ित हो धाया धीरे दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी ... विरय धन पड़ा !

गौर ने कहा—'मैं हार गया । ईश्वर ने शान मुझमें धीन लिया ।' धीरे उगकी गुजलक धीरे-धीरे गुन गई ।

ईश्वर ने कहा—'मेरी सृष्टि सफा हुई, सेरिन विरय मानव की है । मैं शानमय हूँ, पूर्ण हूँ । मैं कुछ योजना नहीं । मानव में दिशाया है, धनः वह विरय की धसाया है, गति देता है....'

सेरिन मानव में उतमल थी, धस्तित्व की समसा थी । पुनार-पुनारकर कहना धाया था—'मैं जानना चाहता हूँ !'

धीरे निजनी बार वह प्ररन दुहराया था, उतनी बार धूरें कुछ धधिक दीप्त हो उठाय था, धपनी हृद धधिक सेडी में धूमने लगी थी, विरय कुछ धधिक गति में धन पड़ता था धीरे मानव के हृदय का स्पर्शन भी कुछ धधिक भरा हो जाता था ।

x

x

x

धाय भी जब मानव यह प्ररन पूछ बैठता है, तब धनहोनी घटना हो जाती है ।

●

गति का एक धीरे धन—यह निरासी है कि शानः उगका जीवन धन था—उसमें गुन नहीं हो हुआ भी नहीं है, किसी तरह की कोई दृष्टी धनधुति नहीं है, नेत्र

भीदे रहने से हो जानेवाले सिरदर्द की तरह एक हल्का-सा वोभ हर समय उसके ऊपर दबा रहता है.... 'कभी सोचती हूँ क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा ? गाजर-मूली की तरह बढ़ना और उखाड़ लिए जाना, वस ? पर फिर ध्यान आता है, कई ऐसे जीते हैं और दर्जनों वरस निकल जाते हैं.... और यहाँ ऐसे यन्त्र-तुल्य जीवन के सभी सावन हैं, किसी को मुझमें इतनी भी दिलचस्पी नहीं है कि तिरस्कार भी करे.... "यह वह जीवन नहीं है; जिसकी मैंने कल्पना की थी, पर शायद सबका उदाहरण देखकर मैं भी ऐसी बन जाऊँ कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूँ और शान्त, सन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीना जी डालूँ। दुःख तो मुझे अब भी कोई नहीं है !...." और फिर एकाएक बदलकर "तुम कब आओगे ?"

कब जायगा वह ? वह नहीं जानता। मुकदमा मालूम होता है कभी समाप्त नहीं होगा ! गवाही प्रायः समाप्त हो गई थी, वकील ने कहा था कि शेखर के विरुद्ध कुछ नहीं है, तब नए गवाह लाने की अनुमति माँगी गई थी और अदालत ने उन्हें बुला भी लिया था....

पर अब जाए न जाए, कोई बात नहीं है। विवाह शशि का हो चुका, और अपना घर जैसे उसके मन से ही निकल गया है। और शशि अब निराग्रह होकर जी रही है, जीवन से कुछ माँगती नहीं है, अतः दुःख भी नहीं पाती है। वह भी उपराम है, शून्य है, जेल और बाहर सब बराबर है।

●

भादों.... आश्विन.... कार्तिक.... प्रकाश होता है और धुंधला पड़ जाता है; जेल के चौदह सौ आदमी गिनते हैं कि एक दिन और बीत गया; लोग मानते हैं कि अस्तित्व का छकड़ा एक मंजिल और पार कर गया; सभी समझते हैं कि वे जी रहे हैं... इसी प्रकार तीन महीने—शेखर सुनता और देखता है, पर जीवन उसका भी स्वीकृत है.... मोहसिन पर दारोगा का क्रोध होता है, हजामत बनाने के अपराध में उसे सजाएँ मिलती हैं, कड़ा पहरा बिठाया जाता है; पर न जाने कैसे प्रति सोमवार परेड के समय उसकी दाढ़ी साफ़ और चिकनी होती है और वह कहीं से निकालकर उस्तरे की एं पुरानी पत्ती दारोगा के आगे पेश कर देता है... ऐसी खुली अवज्ञा असह्य है—दारोगा सजाएँ बढ़ाते जाते हैं—वेड़ी के बाद डण्डा वेड़ी, फिर खड़ी हथकड़ी, फिर रात कड़ी, फिर दो-दो और तीन-तीन सजाएँ एक साथ—रात को उलटी हथकड़ी और रात डण्डा-वेड़ी, फिर 'कसूरी खूराक' यानी भोजन की बजाय पानी में घुला हुआ.... फिर एक दिन उसे बेंत लगने की आज्ञा हुई, वार्डर उसे पकड़कर शेखर की कोठे के सामने से ले गए, मोहसिन ने उसे देखकर हँसकर कहा, "देख, मोलवी, मैं करने चला हूँ !" पन्द्रह मिनट बाद वह उसी तरह अकड़ता हुआ चला आया—अबकी बार बिल्कुल नंगा और कमर तक खून में लथपथ—शेखर को देखकर

"मौलवी, मुझे तोरे पाग सा रहे हैं, अब गाना गुना करना !" और बड़ गया—घमोटे-बर घाघे से जाया गया....स्तम्भित शेखर को बाइंडर ने बठाया, बेंत बगूरी से, भदालती नहीं—यानी जेल के अपराध के कारण जेल अधिकारियों द्वारा सगवाए गए थे, इसलिए जेल में भिगोकर रखे गए थे और जल्साद के पूरे खोर से सगवाए गए थे .. जब मोहसिन हांस घेंन गा चुका और टिकटी से उतारा गया, तब दारोगा को देखकर बोला, "बस ? अब तो मैं खलीफा हो गया, अब क्या है !" इस पर छोटे अधिकारियों को मुस्कगता देगकर दारोगा घाघे से बाहर हो गया था; मोहसिन को एक और नया दण्ड मिला टाटबर्दी था । बेंत लगाने के लिए मोहसिन को नंगा तो किया ही गया था, जब उसके बाद पहनने के लिए उसे टाट-बोरिए का एक जीपिया दिया गया, तब उसने उसे पहनने में इनकार कर दिया, इसलिए उसे नंगा ही कोठरी में भेजा गया—कोठरी भी बसबा दी गई कि पहरा और कड़ाई से हो सके । अब वह पूरबवासी फाँसी की कोठरियों में रखा गया है....

बिन्तु न जाने कैसे, मोहसिन को परास्त नहीं किया जा सका । अगले परेड में उसका डोड़ी फिर चिकनी थी, और वह सामिमान नंगा ही साहब के सामने खड़ा था....

उसके बाद दारोगा ने अपना दैनिक अपमान देरना असम्भव पाकर मोहसिन को परेड में पैग करना ही छोड़ दिया, फाँसी की कोठरी से हटाकर एक और कोठरी में खान दिया, जो जेल में बहिस्तान के नाम से प्रसिद्ध थी—उसमें प्रायः भीषण घूत रोगों के रोगी ही रखे जाते थे या सादस्ताज बदमाश । जब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता था, तब शामी पड़ी रहती थी । मोहसिन ने हजामत करना नहीं छोड़ा, और टाटबर्दी नहीं पहनी । दारोगा शायद इस आशा में रहे कि सदीं जाने पर वह स्वयं हार मानेगा—अगर टाटबर्दी ही पहन लेगा तो वही हार हांगी । पर काठिक भी आया और मोहसिन में कोई परिवर्तन नहीं आया, केवल उसकी दुबली देह में हृदय की धीरे निरक्त आई, गूगी स्वभा और सावसी पड़ गई... तब एक दिन शेखर ने सुना कि उसके शरीर पर कई-गुन फोड़े निरक्त आए हैं, और डाक्टर ने कहा कि उसे क्षय हो गया है....

एक दिन अपराजित मोहसिन को दफ्तर में बुलाया गया, वही उसकी उसके अपने बपड़े पहनाए गए; पाँच मिनट बाद उसे पुलिस की सारी में दिठारर घमटा कर दिया गया । मालूम हुआ कि उसकी रिहाई समीप आ गई थी, इसलिए उसे घर के दिने की जेल में भेज दिया गया....

और बाबा मदनगिह भी अस्वस्थ रहने लगे । शेखर अब प्रायः निरक्त ही उनसे मिलने जाता और देखा कि उस अत्यन्त बड़े चेहरे में तो कोई परिवर्तन नहीं आया है, पर उनका वह धन जो अभी तक दुधा था, वह तोड़ गति से बुडबुडा का मार्ग तय कर रहा है—आवा की आँखें....इसकी-बाईस बरों के हृदयित जीवन का अन्त्यशान मानो एकाएक ही उन कमजोरी आँखों की अज्ञेति को सा सेना बाहता है....एक बन्ने अग्नि के लिए शेखर के मन में गहरे आदर का भाव हो गया था, और अब वे उगने लगे थे....

बाबा को संग्रहणी हो गई है, तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहतीदिन भर वह चिन्ता लिये रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है, जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है....

०

फाँसी-कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियाँ थीं। उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे। एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फाँसी हो गई थी।

आश्विन में एक दिन संव्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कीतूहल से उसे देखा—२२-२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछें, बड़ी स्वेच्छ और निर्भीक आँखें—शेखर सोच नहीं सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गए, तब शेखर ने पहरवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था, दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

“बाबूजी, जरा सुनिए तो !”

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था।

“इस सुरंग के प्लेटफार्म पर आप कैसे ?”

“क्या मतलब ?”

“आपको भी सजा हुई है क्या ?”

शेखर ने बताया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी आया था।

“तब तो आप बाहर से सामान मंगा सकते होंगे ? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दिया कीजिए—बुरा आदत है बाबूजी, पर अब तो फाँसी चढ़ना ही है, इसलिए पीते हैं—आप पीते हैं न ?”

“नहीं, पर मँगा लूँगा, ले लिया करना।”

“आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते ? नहीं तो—”

“इसमें दया की कौन-सी बात है—” शेखर रुक गया ; एक प्रश्न उसकी जवान पर धाया था, जो वह पूछना नहीं चाहता था ।

“आप रुक क्यों गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हरया क्यों की ?”

“ही....”

“तो भी धीरे-धीरे की हत्या । आप जानते हैं न ?”

“नहीं ।”

“आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ । अदालत में तो यह ही धाया था ।” कुछ रुककर कहने लगा, “गाँव में हमारी थोड़ी-सी जमींदारी थी—मेरे बड़े भाई की धीर मेरी । पर भाई को यह काम पसन्द नहीं था, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में नहर चले गए थे । नौकरी उनको लग भी गई थी, धीर से हर दूसरे महीने बीग-नकसीब रुपया भाभी को भेज देते थे ।

“पर भाभी का मन अच्छा नहीं था । पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हें मैं से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गई थी, धीर मेरे पीछे वह अक्सर उससे मिलने आता था । मुझे कोई खबर नहीं थी ; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला । भाई से एक दिन सान्निध्य को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात सेन पर हो रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपकी कोई दिलचस्पी नहीं होगी । सेन में काम था । मैं बहकर धीर वाली रोटी लेकर चला गया ।

“बारिद तो दिन में भी होनी रही थी, पर रात को बड़े जोर की हुई धीर घोलने की पड़ने लगे, तब मैं काम छोड़कर लौट पड़ा । पर आकर दरवाजा खटखाने पर बहुत देर तक नहीं गुना, आवाजें देने पर भी नहीं । अब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा, तब भाभी ने आकर दिखाई दीं और गहमी-सी एक तरफ मुड़ी हो गई । मैंने देखा, सामने वही आदमी गड़ा है, उसके बगड़े धीर ऊँचे मुरे हैं जिससे जान पड़ता है, वह देर का धाया हुआ है ।”

रामजी मुप हो गया । फिर लम्बी साँस लेकर बोला, “बानूजी, मेरी जगह धार होते तो क्या करते ?”

शेखर कुछ उत्तर नहीं दे सका । चुनचार खड़ा रहा । रामजी कहने लगा, “धैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका । मैंने भाभी से पूछा कि यह क्यों है, क्यों धाया है ? उन्हें जवाब नहीं दिया । मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला । तब मैंने भाभी की पसराकर पूछा कि यह पहले भी धाया रहा है ? बहुत धमकाने पर धीर, बड़बारा धाया है । मैंने पूछा, तू उसे धाया है ? तो कुछ नहीं बोली । मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला । तब मैंने कहा, “अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो । मैं कुछ नहीं कहूँगा । पीछे जो होगी, सो मैं देन लूँगा । भाई को भी क्या मूँगा । बोल, तू है तगर ?” भाभी कुछ नहीं बोली । मैंने उस आदमी से पूछा, तो बो

हैं बीच में पड़नेवाला ?”

कि बाबा को संग्रहणी हो गई है, तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती थी....दिन भर वह चिन्ता लिये रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी ।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला । तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है, जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है....

०

फाँसी-कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियाँ थीं । उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे । एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे । दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फाँसी हो गई थी ।

आश्विन में एक दिन संव्या समय एक नया आदमी लाया गया । शेखर ने कीतूहल से उसे देखा—२२-२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछें, बड़ी स्वच्छ और निर्भीक आँखें—शेखर सोच नहीं सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है । जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गए, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है ।

उसका नाम था रामजी । नाम तो शेखर ने पहले ही दिग जान लिया था, दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया ।

“बाबूजी, ज़रा सुनिए तो !”

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था ।

“इस मुरंग के प्लेटफार्म पर आप कैसे ?”

“क्या मतलब ?”

“आपको भी सजा हुई है क्या ?”

शेखर ने बता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी में आया था ।

“तब तो आप बाहर से सामान मंगा सकते होंगे ? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए—बुरी आदत है बाबूजी, पर अब तो फाँसी चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ—घाप पीते हैं न ?”

“नहीं, पर मंगा लूंगा, ले लिया करना ।”

“आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते ? नहीं तो—”

“इसमें दया की कौन-सी बात है—” रोतर रुक गया ; एक प्रश्न उसकी जवान पर छाया था, जो वह पूछना नहीं चाहता था ।

“आप रुक क्यों गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हत्या क्यों की ?”

“हाँ....”

“तो भी घोरत की हत्या । आप जानते हैं न ?”

“नहीं ।”

“आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ । अदालत में तो कह ही आया था ।”

कुछ रुककर कहने लगा, “गाँव में हमारी घोड़ी-सी ज़मींदारी थी—मेरे बड़े भाई की घोर मेरी । पर भाई को यह काम पसन्द नहीं था, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में शहर चले गए थे । नौकरी उनकी लग भी गई थी, घोर वे हर दूसरे महीने बीत-पचबीस रुपया भाभी को भेज देते थे ।

‘पर भाभी का मन अच्छा नहीं था । पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-नाल पूछा करते थे, उन्हें मैं ने एक से उसकी कुछ बातचीत हो गई थी, घोर मेरे पीछे यह अक्सर उससे मिलने आता था । मुझे कोई खबर नहीं थी ; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला । भांशे में एक दिन रात को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात रात पर ही रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपको कोई दिलचस्पी नहीं होगी । संज में काम था । मैं कहकर घोर बाभी रोटी लेकर चला गया ।

“दरिद्र तो दिन में भी होती रही थी, पर रात को बड़े जोर की हुई घोर घोलने भी पड़ने लगे, तब मैं काम छोड़कर लौट पड़ा । पर आकर दरवाजा खटकाने पर बहुत देर तक नहीं सुना, आवाजें देने पर भी नहीं । जब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा, तब भाभी ने धावर दिखाई गोले घोर सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गई । मैंने देखा, सामने वही आदमी गड़ा है, उसके कपड़े घोर जूते सूखे हैं जिससे जान पड़ता है, यह देर का आया हुआ है ।”

रामजी चुन हो गया । फिर सम्बो साँस लेकर बोला, “बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते ?”

रोतर कुछ उत्तर नहीं दे सका । चुनचाप खड़ा रहा । रामजी कहने लगा, “शेर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका । मैंने मानी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है ? उसने जवाब नहीं दिया । मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला । तब मैंने भाभी को पकड़ाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आता है । मैंने पूछा, तू इसे चाहती है ? तो कुछ नहीं बोली । मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला । तब मैंने कहा, “अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो । मैं कुछ नहीं कहूँगा । पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा । भाई को भी मना लूँगा । बोल, है तय्यार ?” भाभी कुछ नहीं बोली । मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोना, ‘तू कौन है दाँप में पड़नेवाला ?’

“मुझे गुस्सा आ रहा था, पर मैं चाहता था भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो वह नहीं रही थी, पर भाई के साथ जो तीन वरस रह चुकी थी, उसका कुछ लिहाज था ही। मैंने फिर पूछा, ‘वता, तू इससे ब्याह करने को तय्यार है?’ वह बोला, ‘मैं बीबी-बच्चेवाला आदमी हूँ, मैं क्यों मुसीबत मोल लूँ?’ मैंने पूछा, ‘तब पहले क्यों इस घर में घुसा था? वह बोला, ‘इसी ने बुलाया था।’ उसके कमीनेपन पर मुझे इतना क्रोध आया कि मैं मुश्किल से सँभाल सका, पर किसी तरह मैंने कहा, ‘यह सब मैं नहीं जानता। या तो तुम दोनों सबेरे ब्याह कर लो, या फिर जो मेरे मन में आएगा, करूँगा!’

“उसने मुझे गाली दी। भाभी से मैंने पूछा, ‘तू है तय्यार? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा,’ पर वह भी नहीं बोली। तब मेरी आँखों में खून उत्तर आया और मैंने गड़ासे से दोनों को काट डाला।”

साँस लेने के लिए और शेखर पर बात का असर देखने के लिए, वह थोड़ी देर रुका। “फिर मैंने उसी वक्त थाने में जाकर बयान दे दिया—भाभी को मारकर मेरा मन दुनिया में रहने को नहीं हुआ। खूनी को मरना ही चाहिए। वस आगे तो जो होता है, सो है ही!”

थोड़ी देर मौन रहा। फिर रामजी अपने आप बोला, “बाबूजी, मैं आपसे नहीं पूछूँगा, मैंने अच्छा किया या बुरा। मैं शर्मिन्दा नहीं हूँ। और अच्छी तरह मरूँगा। मैंने इसीलिए अपील नहीं की है।”

शेखर चुपचाप सोचता हुआ चला गया था। उसके बाद क्रमशः उसका परिचय बढ़ता गया था—शेखर के मन में कुछ स्नेह भी इस आधे जंगली और पूर्णतः ईमानदार व्यक्ति के लिए हो गया था।



कार्तिक में एक दिन सुना कि रामजी की अगील नामंजूर हो गई है, और चौथे दिन उसे फाँसी हो जाएगी। रामजी ने अपील नहीं की थी, पर जेलवालों ने स्वयं ही उसकी ओर से हाईकोर्ट में दरखास्त भिजवा दी थी।

शेखर उदास था। पर रामजी पर मानो कोई असर ही नहीं था, जैसे कोई नई बात हुई ही नहीं थी।

शाम को रामजी ने शेखर को पुकारा, “बाबू साहब!”

शेखर जंगले पर आकर बोला, “क्या है?”

“आपने कभी फाँसी देखी है?”

“नहीं।”

“आप तो लिखनेवाले हैं न, आपको सब कुछ देखना चाहिए।”

“.....”

“क्यों नहीं साहब मे कहते, मेरी फाँसी देग लेने दें आपको ? मुझे भी मरना नहीं सगेगा—नहीं तो आगिरो गमय सब जन्ताओं का ही मुँह देवना पड़ेगा !”

शेखर निमलम्ब कुछ झोल नहीं गया। रामजी की फाँसी देखने की दरखास्त दे वह !....

“बाबूजी घायल पुन क्यों हैं ? इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की मदद ही है। मैं समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था।”

शेखर ने धीमे स्वर से कहा, “मच्छा....”

पर अनुमति नहीं मिली। शेखर ने उदास बाणी में रामजी से कहा, तब वह भी कुछ शिल्ल होकर बोला, “जल्दा, जाने ! सब जल्दा है !” और चुप हो गया।

उस दिन शेखर बाहर नहीं निकला, कुछ झोला भी नहीं। रामजी ने कई बार बात करने की चेष्टा की, पर शेखर ‘हूँ-हूँ’ से अधिक नहीं कर सका। अन्त में शाम को रामजी बोला, “बाबू जी, घायल तो कबड़े थात नहीं करते, उदास दीखते हैं। पर से कोई बुरी बिट्टी भाई है क्या ? लॉकिए; मैं गाकर आपका मन बहलाता हूँ—ऐसा मौका कब मिलेगा ?”

शेखर लज्जा में गूँथ गया....

रामजी घायल रात तक गाना रहा। फिर न जाने कब शेखर की नींद आ गई....

एक दिन और भी किसी तरह बीत गया। रात भाई, तब फिर रामजी गाने लगा। घायल रात के लगभग उसने बरकर कहा, “बाबूजी, अब घायल कुछ सुनाइए, मैं तो बरक गया। गुनता-गुनता मो जाऊँगा।”

शेखर गा नहीं मजबूत था। पर रामजी के लिए कुछ गाने की कोशिश की। सफलता नहीं मिली। रामजी ने भीटी घुटकी ली, “बाबूजी, आप मेरे हो लिए या रहे हैं....” तब शेखर बहानियाँ कहने लगा—कभी पुरानों से, कभी विदेशी साहित्य से, कभी एक-आप अपने जीवन की घटना....रामजी का ‘हूँ-हूँ’ धीमा पड़ने लगा और नीरव हो गया, शेखर ने बार्डर में घूँटकर जाना कि वह मो गया है।

पर शेखर नहीं मो सका। जेल की ‘सब मच्छा’ की पुकारों की रात पर रात बीतती थी... एसाएक ऊँच से धीमे-से शेखर ने देगा, टप्पा फूट रही है। डाक्टर रामजी की परीक्षा के लिए आया है।

“डाक्टर साहब, टाँग तो आप देंगे ही, फिर नाडी क्यों देखते हैं ?”

“भाई, मेरा फर्ज है मो घटा करता हूँ। तुम भी खुदा को याद करो—”

डाक्टर गया। दिन निकलते-निकलते साहब, दरोगा, मैजिस्ट्रेट, थोके बार्डर और बाटों की प्रीव आ गई।

शेखर घायल बीटरी के जंगल पर सड़ा जो देग सकता था, देखता था, बाकी गुनने की कोशिश कर रहा था।

रामजी की तलाशी ली जा रही थी।—हाथ बाँधे जा रहे थे—बाहर निकाला जा
या—

क्या बसीयत लिखानी है ? किसी को कुछ कहना है ?
“इन साथवाले बाबूजी से दो मिनट बात कर लूँ ?”

“कोई तीन सेकण्ड बाद साहब का उत्तर, “नहीं, यह तो हम नहीं कर सकते !”
“तब चलिए।”

कुछ घबराहट, कुछ अव्यवस्था, कुछ गति,....
एकाएक आँगनों को जोड़नेवाले फाटक पर रामजी, “अच्छा बाबूजी, अब तो फिर
कभी मिलेंगे, उस पार कहीं—” एक द्रुत मुस्कान—जुलूस चला गया—
और जंगले भींचकर पकड़े हुए खड़ा शेखर सहसा पाता है कि उसकी मुठियाँ खु
गई हैं, हाथ छटक गए हैं, सिर झुक गया है....

●

छः दिन के बाद शेखर ने बाहर निकलने का विचार किया ही था कि एक और
घटना हुई, जिसने उस बुरे स्वप्न-जैसी अवस्था को तीन दिन और बढ़ा दिया। शशि का
पत्र आया कि वह बहुत कष्ट में है, और मनाती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा
मिल जाए....क्यों, क्या कष्ट है, कुछ नहीं लिखा था—कल्पना के दानव के लिए ही यह
छोड़ दिया था कि वह उस दुःस्वप्न में मनमाने रग भरे....
शेखर सोचता था, जेल में जीवन स्थापित हो जाता है ! और यह क्या है, जो मानो
उसे पटककर उसके गले पर चढ़ बैठा है और कह रहा है, ‘मैं स्थगित ? तो ले देख, यह
मेरा बोझ और मेरी गति की चोट !’ आह, नहीं सहा जाता....नहीं सहा जाता....नहीं
क्यों नहीं सहे जाते ? दुर्बल, कायर, झूठा कहीं का ! उसके सामने ही मामूली से
मामूली आदमी, जीवन की हर एक देन से वंचित, घन से, कुल से, आत्मीयों से, विद्या से
वंचित, जीवन का सामना करते हुए चले जाते हैं, और वह अभिमानी रोता है कि मैं
उसे नहीं सह सकता....कायर, दम्भी....वेदना होती है....समवेदना होती है....समवेदना
क्या है, जो जीवन को गहरा नहीं बनाती, घनी नहीं बनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नहीं
बनाती ? समवेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है ! आत्मवंचक....
पीड़ा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ बैठा, उन्मत्त साँड़ की तरह क
झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तैयार....फूले हुए नयनों से फुंकार की त
सांस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरों से मानो रौंझता हुआ वह कोठरी से बाहर निकला
दहलेगा, सबसे मिलेगा, और नहीं दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, व
दुर्गुनी गति से चल रहा है....
बाबा मदनसिंह खड्डी पर दीवार के सहारे बैठे थे। शेखर ने एक बार उनके

की घोर देगा, उसकी जिह्वा पर घाया हुआ प्ररन वहीं रह गया। बाबा की हावउ चपटी नहीं थी।

बाबा उठे नहीं, मुस्कराए भी नहीं। शेखर ने देगा, जटा घोर दाढ़ी के बीच भय तरपा भी छपेद हो गई है, घब बेवस भांगे हैं जिनमें रंग है—घोर रंग हो नहीं, घात्र उनमें दोमि है—वे जव रही हैं....

"तुम घाए...इतने दिन कहीं रहे?"

"मेरा मन ठीक नहीं था। मेरे पछोमी को पौसी हो गई।"

"मेरा भी मन ठीक नहीं है शेखर। शरीर तो भय चला ही, मन भी बहुत पचस है।"

"क्यों बाबा?"

"बुघ नहीं, बमबोरी। मैं बाहर के समाचार सुनता-बदता हूँ, तों विचलित हो जाता हूँ।"

"कैसे समाचार?"

"तुमने षटगौव का हान पड़ा है?"

"हाँ—"

"वहीं जो गोनी-घोनी धनी, उसका नहीं, उनके याद जो कुछ हुआ उसका?"

शेखर ने झलवार में पड़ा था कि वहाँ काजी सख्ती हो रही है, कई तरह की मनाहियाँ जारी हुई हैं, घोर वह भी पड़ा था कि वहाँ के समाचार छपने नहीं दिए जाते, नार घोर चिट्ठियाँ रोकी जा रही हैं।

"घोर?"

"घोर तो मैं नहीं जानता।"

"शेखर, सुना है कि वहाँ सैनिक मनमानी कर रहे हैं, गाँव के लोगों को पोट-नोट-कर सतामी कराई जाती है, स्त्रियों पर बलात्कार किया जाता है, घोर—घोर—" एकाएक बाबा का गला रेंप गया, ये कुछ बोन नहीं सके, घायेत में गढ़े हो गए....

"वहाँ सुना घावने?"

"मुझे बिट्टी घाई है—"

"पर जब घरों नहीं घाती, तब बिट्टी भेजनेवाले ने कैसे जाना?"

"जाना नहीं, सुना। तुम यही कहना चाहते हो न कि ये भयवाहें हैं, हुआ हो करनी है, झूठी है, कोई प्रमाण नहीं है, जब तक पूरा पता न मिले, तब तक कुछ कहना अनुचित है? ऐसी बहुत बातें मैं भी सोच चुका हूँ। पर वह सब धोखा है। मेरा प्रोप इमलिए नहीं कि मेरे पान प्रमाण है; प्रोप इमलिए है कि प्रमाण नहीं है। तुम नहीं समझो, हमारी परिस्थिति निजनी भयंकर है, जिनकी विषय है कि ऐसे-ऐसे संगीन मनियोगों की भी हम जीव नहीं कर सकते, उसके प्रमाण में या मझाई में ही, कुछ पूछताछ नहीं कर सकते, कुछ जान नहीं सकते। ये मनियोग सच हो है, ऐसा मैं नहीं